उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-102
भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – एक : भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि 3–68

इकाई 1 – भारत की राजनैतिक परम्पराएँ

इकाई 2 – उपनिवेशवाद और राष्ट्रीय आंदोलन की धरोहर

इकाई 3 – भारतीय संविधान सामाजिक–आर्थिक ढ़ाचा और राजनीति

इकाई 4 – भारतीय संविधान का निर्माण

इकाई 5 – संविधान सभा, समाजवाद और संविधान

खण्ड – दो : व्यक्ति और राज्य 69–128

इकाई 6 – मौलिक अधिकार

इकाई 7 – राज्य के नीति निदेशक सिद्वांत

इकाई 8 – सर्वोच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

इकाई 9 – न्यायिक–पुर्नवलोकन शक्तियाँ व भूमिका

खण्ड – तीन : राजनीति संरचना 129–248

इकाई 10 – भारतीय संसद : गठन, विकास और उसकी कार्य प्रणाली

इकाई 11 – भारत के राष्ट्रपति : संस्था और गतिशीलता

इकाई 12 – प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

इकाई 13 – राज्य सरकारें राज्यपाल और मंत्रिपरिषद्

इकाई 14 – भारत में न्याय प्रणाली

इकाई 15 – भारत में नौकरशाही (अधिकारी तंत्र)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-102
भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 1

भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि

इकाई – 1 **5**
भारत की राजनैतिक परम्पराएँ

इकाई – 2 **27**
उपनिवेशवाद और राष्ट्रीय आंदोलन की धरोहर

इकाई – 3 **39**
भारतीय संविधान का सामाजिक–आर्थिक आधार एवं दर्शन

इकाई – 4 **47**
भारतीय संविधान का निर्माण

इकाई – 5 **59**
संविधान सभा, समाजवाद और संविधान

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज — अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस. पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो. एल. आर. गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक / परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीतिक विज्ञान विभाग 3 / 184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्विद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद**, असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीप शिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विष्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशक – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष – **2024**

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.

इकाई–1

भारत की राजनैतिक परम्पराएँ

इकाई की रुपरेखा –

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्पराएँ
- **1.2.1** हिन्दू राजनीतिक परम्परा
- **1.2.2** मनु
- **1.2.3** कौटिल्य
- **1.2.4** बौद्ध धर्म एवं परम्परा
- **1.2.5** भक्ति आन्दोलन

1.3 आधुनिक भारतीय राजनीतिक परम्परा
- **1.3.1** राजा राममोहन राय
- **1.3.2** सुधारवादी आन्दोलन
- **1.3.3** महादेव गोविन्द रानाडे
- **1.3.4** गोपाल कृष्ण गोखले
- **1.3.5** बाल गंगाधर तिलक
- **1.3.6** महात्मा गाँधी

1.4 सारांष
1.5 कुछ उपयोगी पुस्तके

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत की राजनैतिक परम्पराओं की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख अवधारणाओं एवं विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख विचारको एवं चिन्तको के विचारो से अवगत हो सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन परम्परा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन से जुडे विभिन्न विचारकों के विचारो को व्यापक रुप से जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक–चिन्तन की परम्परा बहुत पुरानी है। अन्तर्गत उन विषयों का विवेचन किया जाता है जिनका सम्बन्ध मनुष्यों के सार्वजनिक जीवन से है। जिसका सरोकार सम्पूर्ण समुदाय से है– किसी गिने चुने समूहों से नहीं। इसके अंतर्गत सम्पूर्ण समुदाय के संदर्भ में सत्ता का प्रयोग किया जाता है, सबके

लिए नियम बनाए जाते है, सबके अधिकार, कर्तव्य और दायित्व निर्धारित किये जाते है।

अतः राज्य और शासन की प्रकृति और उद्देश्यों के बारे में भिन्न–भिन्न राजनीति–विचारक जो विचार प्रकट करते रहे है और उनसे जुडी संस्थाओं की त्रुटियों को दूर करने के लिए जो सुझाव देते रहे वे सभी भारतीय राजनीतिक परम्परा का मुख्य अंग बनते चले गये। प्रत्येक देश की काल एवं परिस्थिति पर चिन्तन का स्वरुप निर्भर करता है। कोई भी राजनीतिक विचारक उपस्थित राजनीतिक समस्याओं की रुपरेखा खींचता है।

भारतीय राजनीति चिन्तन की परम्परा पश्चिमी राजनीति–चिन्तन के आरम्भ से भी ज्यादा पुरानी है। यह साधारणतः वैदिक युग से आरम्भ होती है जो तौर पर दो सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व का समय था। यह परम्परा चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक अर्थात तब तक चलती रही जब तक यहाँ मुस्लिम शासन पूरी इसकी परिधि में वेदो, उपनिषद्, लोकायत, बौद्धधर्म, जैन धर्म, छः प्रणालियाँ, भगवत गीता तथा दक्षिण भारत में विकसित होने वाली चिन्तरा परम्परा तक आती है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की यह परम्परा मध्य युग में एक ठहराव की अवस्था में पहुच गयी क्योंकि राजधर्म व शासन व्यवस्था के जो सिद्धान्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अंतर्गत स्थापित किये गये थे। उन्हीं सिद्धान्तों और विचारों की पुनरावृत्ति व पुष्टि की जाती रही। अनेक विचारकों व चिन्तकों ने अपने साहित्य व रचनाओं के माध्यम से प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में व्यक्त किये गए विचारो को केवल व्याख्या मात्र की।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ। वास्तव में जिसे हम आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन कहते है वह इसी उपनिवेशवादी काल की देन है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की यह परम्परा राजा राममोहन राय से आरम्भ होकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर गाँधी जी तथा नेहरु से चिन्तन तक जाती है।

यह इकाई हमें प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की व्यावहारिकता व सम्पूर्णता से तो परिचित कराती ही साथ ही हिन्दू राजनीतिक चिन्तन कहे जाने वाल इस चिन्तन को किस प्रकार बौद्ध धर्म व परम्परा ने प्रभावित किया यह भी बताती है। अपनी सांस्कृतिक गौरव व प्रतिष्ठा को भूल चुके भारत को पुनः जगाने तथा समाज की कुरीतियो व त्रुटियो को दूर करने हेतु अनेक विचारको ने जिन सामाजिक व राजनीतिक विचारो को पुष्पित एवं पल्लिवत किया उनका विवेचन इसमें किया गया है।

1.2 प्राचीन भारतीय राजनीतिक परम्पराएँ

प्राचीन भारत की शासन पद्धति का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है। वैदिक काल और महाकाव्यों के काल का राजनीतिक इतिहास निश्चित एवं क्रमबद्ध रुप में उपलब्ध नहीं है। तीसरी शताब्दी ई0 पू0 से पहले राजशास्त्र पर कोई ग्रन्थ विशेष नहीं लिखा गया था। प्राचीन भारतीय चिन्तको अपने मूल रुप में ब्राहम्णवाद के अभ्युदय के समय विकसित हमें ऋग्वेद, वैदिक साहित्य, जैन एवं बौद्ध साहित्य, मनु की मनुस्मिृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिसार, शिलालेख, बाल्मीकिकृत ''रामायण'' महाभारत, स्मृतियों के साथ–साथ कालिदास की महत्वपूर्ण रचना रघुवंश, पाणिनि का व्याकरण, आदि से होती है।

1.2.1 हिन्दू राजनीतिक परम्परा

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन को साधारणतः हिन्दू राजनीति चिंतन की संज्ञा दी जाती हैं, किन्तु आगे चलकर जब नए धार्मिक आंदोलनों, नई जातियों, श्रेणियों और संघो का उदय हुआ और जब देश को विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पडा, तब इन समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से भारतीय चिंतन में नए–नए विचारों का सूत्रपात हुआ

वैदिक साहित्य में सर्वप्रमुख स्थान वेदों का है, जिन पर हिन्दुओं की अनन्त काल से अविचल श्रद्धा रही है। वेदों को प्राचीन भारत की सभी विधाओं और कलाओं का मूल माना जाता है वेद आर्य सभ्यता और संस्कृत के मूलधार है। वेदों से शासन अथवा राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों, शासन के राजतंत्रात्मक रुपरुप राजाओ के अधिकार, राजा एवं मंत्री तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध, शासन की नीति आदि का पता चलता है।

हिन्दु राजनीतिक चिंतन एवं दर्शन में आत्मा और मरमात्मा जैसे आधिभौतिक विषयों में गहरी अभिरुचि का परिचय मिलता है। यहाँ ज्ञान का नियामक तत्व माना गया है और उसे ईश्वर का साक्षात रुप कहा गया है। हिन्दू चिंतन के अनुसार जड जगत तो प्रकृति के निर्विकार नियामों से संचलित होता है परन्तु मनुष्य इच्छा और विचार की समता से सम्पन्न होता है। अतः मानव समाज को संचालित करने वाले नियमों का ज्ञान प्राप्त करके ही वे अपने–अपने कर्तव्य का पालन कर सकते है। इन नियमों का समुच्चय ही 'धर्म' है जो सत्य और न्यायोचित का पर्याय है। दूसरी ओर मनुष्य मोह–माया, लोभ या अहंकार के वशीभूत होकर धर्म से विचलित हो सकते है। उन्हे सही रास्ते पर लाने और चलाने के लिए दण्ड का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

हिन्दू राजनीतिक चिन्तन में धर्म और दण्ड की संकल्पना की गई है। यह 'धर्म' और 'दण्ड' प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतन की आधारभूत संकल्पनाएँ है। 'धर्म' मानव–समाज की अमूल्य निधि है, अर्थात दण्ड धर्म का प्रहरी है। इस प्रकार दण्डनीति स्वयं ''राजनीति का पर्याय'' है। हिन्दू धर्म के अंतर्गत मानव जीवन कें चार महान साध्य माने गए है जिन्हें चारो पुरुषार्थ कहा जाता है। (1) धर्म (2) अर्थ (3) काम (4) मोक्ष। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की सिंद्धि कर सके। प्रजा का चरित्र ऊँचा होना चाहिए। दण्ड का अर्थ है 'डंडा' जो कि बल प्रयोग का प्रतीक है। 'धर्म' या कानून का पालन कराने के लिए बल प्रयोग की कला 'दण्डनीति' है।

अतः धर्म का दण्ड से स्पष्ट जुडाव है। दण्डनीति का मतलब राजविद्या या राजनीतिशास्त्र है। हिन्दू राजनीतिक चिन्तन परम्परा के अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र में लक्ष्य, संशोधन, सुधार आदि की शिक्षा पायी जाती है। अगर दण्ड या राजनीति के क्रियान्वयन में न्याय, निष्पक्षता व ईमानदारी नहीं रहती है तो राज्य का पतन होना निश्चित है। राजनीति या दण्डनीति स्वयं साध्य न होकर साधन है। इस साधन का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है। राज्य के द्वारा अपने कर्तव्यो का समुचित सम्पादन ही राजनीति है, हिन्दूवादी राजनीतिक परम्परा इस बात की पुष्टि करती है।

हिन्दू राजनीतिक चिन्तन परम्परा में राजनीतिक और नीतिशास्त्र को पृथक–पृथक नहीं किया गया है जैसे कि अरस्तू व मैकियावली ने किया है। प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतन में राजनीति को शक्ति से तो जोडा ही गया है, साथ ही साथ इसे एक क्रिया के रुप में स्वीकार किया गया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक

चिंतन की अवहेलना की जाती है वहाँ विनाश सुनिश्चित है। संसार में ''मत्स्य न्याय'' की स्थिति से बचाने एवं शान्ति व्यवस्था न्याय और सुरखा स्थापित करने के लिए जिस 'विराजस' नामक राजा को सृजित किया उसने 'राजधर्म' को लागू करने के लिए शक्ति का सहारा लिया।

मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत के शान्ति पर्व में स्पष्टतः राजा के कर्तव्यों की चर्चा है। मनुस्मृति में राजा को केवल अपनी प्रज्ञा के सन्दर्भ में सर्वोच्च शक्ति माना गया है परन्तु स्वयं राजा विस्तृत कर्तव्यों के दायरे में है। राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य जनता के हित में काम करना है। राजा मनमाने ढंग से अपने कार्यो का सम्पादन नहीं कर सकता, उसे तो देवी एवं नैतिक नियमों के अन्तर्गत काम करना होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में राजा को जनता के हित में काम करना परम कर्तव्य बताया गया है। इसमें राजा के 36 कर्तव्य बताये है। सभी कर्तव्य राजा को मर्यादित रखने के लिए सुनिश्चित किये गये थे। राजा को नैतिकता व न्याय के दायरे में पूरी आजादी दी गयी है।

प्राचीन भारतीय चिंतन के अनुसार साधारण परिस्थितियों में राजा को पूरी निष्ठा के साथ धर्म का अनुसरण करना चाहिए, परन्तु महाभीरत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अन्तर्गत यह मत प्रकट किया गया है कि असाधारण परिस्थितियों में – अर्थात दुष्ट लोगो के साथ व्यवहार करते समय उसे स्वयं अनैतिक साधनों के प्रयोग में संकोच नहीं करना चाहिए। इस नीति को एक सूक्ति के रुप में व्यक्त किया गया है – ''शठे शाठ्यं समाचरेत्।'' अर्थात धूर्तो के साथ धूर्तता का बर्ताव करना चाहिए। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए परिस्थितिजन्य राजकीय व्यवहार पर जोर दिया गया है।

1.2.2 मनु

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक आचार्य मनु रचित ''मनुस्मृत'' का समय 200 ई0पू0 से 100 ई0 के बीच माना जाता है। 'मनुस्मृति' से हमें प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की व्यावक जानकारी प्राप्त होती है जिसकी मान्यता आज भी भारत में सर्वत्र व्याप्त है। जिस सूक्ष्मता एवं व्यापकता के साथ प्राचीन सामाजिक व्यवस्था, राजधर्म और शासन सम्बन्धी विषयों और नियमों का वर्णन और निरुपण किया गया है वह अद्भूत है। मनुस्मिृति को आज भी सम्पूर्ण हिन्दू विधि व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। मनुस्मृति को मानव धर्मशास्त्र'' की संज्ञा भी दी जाती है।

मनु का राज्य सिद्धान्त – 'मनुस्मृति' में मनु द्वारा जिस राजव्यवस्था का उल्लेख किया गया है उससे यह ज्ञात होता है कि वे राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को मानते थे। जिसमें यह माना जााता है कि सृष्टि और समाज के प्रारम्भिक काल में अराजकता की स्थिति व्याप्त थी। जिसकी लाठी, उसकी भैस वाली स्थिति के कारण आंतक का राज्य कायम था। समाज में व्याप्त इस अराजकता और आतंक की स्थिति का अन्त करने के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की। इन्द्र, पवन, यम सूर्य, वरुण, चन्द्र और कुबेर आदि के सारभूत तत्वों को लेकर राजा को निर्मित किया। ईश्वरांश से उत्पन्न ऐसा राजा सब प्रणियों में पराक्रमी और श्रेष्ठ होता है तथा सूर्यसम प्रतापी होने के कारण सभी के नेत्रों तथा हृदयों को प्रज्वलित कर प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार मनुस्मिृति में राज्य की उत्पत्ति दैवी सिद्धान्त के अनुसार मानी गयी है

अतः यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि 'मानव धर्मशास्त्र' में धर्म का अंकुश राजा को निरंकुश होने से बचा लेता है। आचार्य मनु के विचार से, जो प्रजा से अपना छठा भाग कर के रुप में प्राप्त करके भी प्रजा की रक्षा नहीं कर पाता, वह नरक को जाता है। आचार्य मनु राजा के वध या उसके क्या अधिकार रह जाता है? धर्मपरायण राजा के नाश का अर्थ होगा–धर्म का नाश। अतः मनु कहते है, ''राजा विष्णु है। राजा का अपमान,उसके प्रति विद्रोह या राजा का वध सबसे भयंकर अपराध है जिसका प्रतिकार मृत्युदंड के द्वारा होना चाहिए।''

मनु का दण्ड दर्शन – मनु द्वारा प्रतिपादित राज–व्यवस्था का आधार दण्ड है अर्थात् दण्ड शक्ति ही राजशक्ति है या दूसरे शब्दों में हम कहें तो दण्ड ही राज्य है। अतः दण्डधारी अर्थात राजा का यह कर्तव्य है कि वह देश, काल, दण्ड, शक्ति और विद्या का ठीक–ठीक विचार कर अन्यायी व्यक्तियों को अन्याय करने से रोकने के लिए शास्त्रानुसार दण्ड का सारी प्रजा पर शासन करता है तथा धर्मानुसार उसकी रक्षा करता है। दण्ड सबलों से निर्बलों की रक्षा करता है। मनु ने राज्य को सप्तांग राज्य माना है अर्थात वह एक सामयव या शरीर है और उसके सात अंग है। मनुस्मृति राज्य के सात अंग इस प्रकार हैः (1) स्वामी अर्थात् राजा, (2) मन्त्री (3) पुर (दुर्ग) (4) राष्ट्र (5) कोष (6) दण्ड और (7) मित्र। मनु ने इन अंगो को 'राज्य की प्रकृतियाँ कहा है। इस तरह 'दण्ड' राज्य का एक महत्पूर्ण अंग है। राजनीति में दंड के महत्व को समझने के लिए इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि प्राचीन हिंदू शास्त्रो में शासन के सिद्धान्तों को दंडनीति की संज्ञा दी जाती थी।

आचार्य मनु भी यही सोचते हैं कि दंड की प्रजा पर शासन करता है। राजा तो दंड के प्रयोग का माध्यम है। कोई भी मनुष्य धर्म–पथ से विचलित न हो जाए–यह देखना दंड का कार्य है। प्रतीकातमक शैली में उन्होने इस विचार को इस तरह व्यक्त किया है, जब सब लोग निद्रावस्था में होते है तो दंड उन्हें जागरुग रखता है। दंड राजा का अस्त्र है। धर्म की स्थपना के लिए ही राजा की उत्पत्ति हुईः दंड इस पुनीत कार्य की सिद्धि का सर्वोपरि साधन है।

मंत्रीपरिषद् का संगठन और कार्य – राज्यकार्य संचालन में राजा की सहयता हेतु उसके द्वारा एक मंत्रि–परिषद् की नियुक्ति की जानी चाहिए क्योकि कितना की योग्य होने पर भी राजा अकेला यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। इस हेतु राजा को सुयोग्य मुत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। राजा को उच्च कुलीन, शास्त्रज्ञता, विद्वान, शुवीर, शस्त्र चलाने में निपुण, आलस्यरहित, कर्मठ, विश्वसनीय व्यक्तियों को महत्वपूर्ण विषयों में परामर्श लेने हेतु मंत्रियो के रुप में नियुक्त करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों के अभिप्राय को आवश्यकतानुसार अलग–अलग या सामुहिक रुप से ज्ञात कर जनहितकारी कार्यो को सम्पन्न करें।

जहाँ तक मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या का प्रश्न है, आचार्य मनु साधारणतया सात या आठ सचिव रखने की सम्मति देते, परन्तु इस बारे में वे कोई कठोर नियम निर्धारित नहीं करते। आचार्य मनु का विचार है कि राज्य–कार्य की सुविधा की दृष्टि से जितने मंत्रियों की आवश्यकता हो, राजा उन्हे रख सकता है राज्य के विभिन्न कार्यो को सुचारु रुप से चलाने उद्देश्य से विभिन्न विभागों के लिए उपयुक्त मंत्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, मंत्रिपरिषद के सदस्यों में प्रत्येक मंत्री की व्यक्तिगत योग्यता एवं विशेषज्ञता के आधार पर उसे उपयुक्त विभाग सौपना चाहिए।

संन्धि– शडगुण्य नीति के अनुसार अन्य राज्यों से की जाने वाली सन्धि दो प्रकार की होती है स्वयं द्वारा भविष्य में लाभ के लिए या शत्रु पर आक्रमण करने के लिए की जाने वाली चाहिए।

विग्रह – विग्रह अर्थात राजनीतिक विवाद एवं तनाव उत्पन्न कर उससे लाभ उठाना। मनु ने इसके भी दो प्रकार बताये है – स्वयंकृत विग्रह तथा मित्रस्य अपकृत विग्रह।

यान – यान अर्थात आक्रमण के भी दो प्रकार है – एक, शत्रु को संकट में देखकर स्वयं द्वारा आक्रमध करना तथा दो, स्वयं समर्थन होने पर मित्र के साथ मिलकर शत्रु अक्रमण करना।

आसन – शत्रु के प्रति उपेक्षा (तटस्थता) की नीति अपनाना। मनु के अनुसार शत्रु राज्य के प्रति यह नीति तब अपनानी चाहिए जब किसी कारण से स्वयं की शक्ति क्षीण हो गयी हो या मित्र ने तटस्थता की नीति अपनाने का अग्रह किया हो।

संश्रय – संश्रय का अर्थ आश्रय से है। इसके भी दो प्रकार है – पहला शत्रु से पीडित होन पर आत्म–रक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना तथा दूसरा, भविष्य में शत्रु से पीडित होने की आशंका पर आत्म–रक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना।

द्वैधी भाव – द्वैधी भाव रणनीति से सम्बन्धित है। उसके अनुसार सेना के दो भाग करके एक सेनापति के नेतृत्व में रखना तथा दूसरे को राजा अपनी रक्षार्थ अपने आधीन रखना।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के विकास में मनु की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उसे ही उसका क्रमबद्ध और विस्तापूर्वक विकास करने का श्रेय प्राप्त है लेकिन इसके बावजूद जिस राजनीतिक–सामाजिक व्यवस्था का उसके द्वारा निरुपण किया गया है, वह पूर्ण–न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक ही नहीं, विश्व राजनीतिक चिन्तन में मनु के योगदान का जहाँ तक प्रश्न है, उससे उत्पन्न सारी वर्तमान बुराइयों के होते भी उसके महत्व करने से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

1.2.3 कौटिल्य

राज्य की उत्पत्ति एवं उसके अंग – कौटिल्य के अनुसार राज्य मानव जीवन की एक आवश्यक और कल्याणकारी संस्था है क्योंकि उसी के तत्वाधान में मनुष्य एक सुरक्षित और सुव्यवस्थित जीवन यापन करने में समर्थ हो सकता है। मनु की ही भांति राज्य की स्थापना के पूर्व समाज में सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थक पश्चिमी विद्वान हॉब्स द्वारा चित्रित जिसकी लाठी उसकी भैंस की अवस्था या मत्स्य न्याय' की अवस्था थी जिसमें बडी मछली अर्थात सबल व्यक्ति छोटी मछली अर्थात निर्बल व्यक्ति को जब चाह तब लिगल अर्थात समाप्त कर सकता था। समाज की इस अराजक स्थिति से त्रस्त होकर उससे मुक्त होन तथा समाज में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने हेतु सम्पूर्ण लोगो ने मिलकर वैवस्वत पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया तथा उसके द्वारा राज्य के सुसंचालन के लिए कृषि उपज का छठा भाग, व्यापार की आय का दसवाँ भाग तथा कुछ स्वर्ण कर के रुप में निर्धारित कर दिया। कौटिल्य कें अनुसार राज्य एक एसी मनुष्य–निर्मित संस्था है जिसकी स्थापना मनुष्यों द्वारा प्राकृतिक अवस्था की असहाय अराजक स्थिति से मुक्ति और एक सुरक्षापूर्ण सुव्यवस्थित समाज व्यवस्था की प्राप्ति के लिए की गई। राज्य की

उत्पत्ति की दृष्टि से उसका संकेत स्पष्ट रुप से सामाजिक की ओर ही है। वह इसी आधार पर अपनी राज्य सम्बन्धी सभी अवधारणाओं का प्रतिपादन करता है।

सप्तांग सिद्धान्त – राज्य का ''सप्तांग सिद्धान्त'' राजनीतिक संगठन का सर्वमान्य सिद्धान्त था जिसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विशेश स्थान दिया गया है। इसके अन्तर्गत राज्रु रुपी शरीर के सात तत्व है–

1. स्वामी या राजा – कौटिल्य के अनुसार स्वामी अर्थात राजा राज्य का प्रथम आवश्यक अंग है। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी है। राजा को योग्य तथा विद्वान होना चाहिए, ताकि वह आत्म–निर्भर हो सके। उसमें स्वतः प्रत्येक बात समझने की क्षमता होनी चाहिए। उसे ज्ञानवान और तक्रशील होना चाहिए जिससे वह विविध और विषम स्थितियों का सामना कर सकें तथा उस वीरोचित गुणो से युक्त होना जिससे वह अपने शत्रुओं का दमन कर सके।

2. अमात्य – कौटिल्य के अनुसार राज्य का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व या अंग अमात्य या मन्त्री है जिसके बिना राजा द्वारा संचालन कठिन ही नहीं, असम्भव है। कौटिल्य का अमात्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह मल है कि बहुत ठोक–बजाकर उनकी योग्यता एवं चरित्र को परखकर उनके सर्वगुणसम्पन्न होने का विश्वास होने पर ही राजा को अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए क्योकि वे राजा की आँख के समान होते है। उनकी सही राय और सहायता के बिना राजा के लिए सुचारु रुप से शासन संचालन का कार्य सम्पन्न किया जाना सम्भव नहीं होता।

3. जनपद – कौटिल्य ने जनपद नाम के जिस तत्व या राज्य के अंग का उल्लेख किया है, उसमें आधुनिक राज्य के दो तत्व जनता तथा भूमि–भाग सम्मिलित हैं क्योकि इन दो तत्वों से ही वह सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना की जा सकती है। राज्य स्थापना की दृष्टि से जनपद एक अनिवार्य आवश्यकता है।

4. दुर्ग – कौटिल्य ने दुर्गो को भी राज्य का एक आवश्यक तत्व माना है। अतः उनका सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। जिस राज्य के दुर्ग सुदृढ है, उसे सरलता से पराजित नहीं किया जा सकता। अतः राजा को जनपद की सीमाओं की चारों दिशाओं में युद्धोचित प्राकृतिक दुर्गो का निर्माण करवाना चाहिए।

5. कोष – कौटिल्य के अनुसार कोष भी राज्य का एक आवश्यक अंग है क्योकि कोष राज्य की गतिविधियों का आधार है। इस हेतु राजा को अपने कोष में निरन्तर वृद्धि करते रहना चाहिए। इस हेतु उसे हेतु उसे कृषकों से अन्न का छठा भाग, व्यापार लाभ का दसवाँ भाग तथा पशु व्यापार से अर्जित लाभ का पचासवाँ भाग तथा सोना आदि कर के रुप में प्राप्त करना चाहिए।

6. दण्ड व्यवस्था – राज्य के सप्तांगों में कौटिल्य ने दण्ड को विशेष महत्व दिया है। वह राजनीति का मूलाधार थी। राज्य दण्ड का प्रतीक था और राजा दण्डधारी होने के कारण ही राज प्रमुख था।

मित्र – कौटिल्य ने मित्र को उसका सातवाँ अंग माना है। उसके अनुसार राज्य की प्रगति एवं सुरक्षा के लिए परिस्थिति अनुसार मित्रों की आवश्यकता होती है।

अतः यह आवश्यक है कि राजा अपने ऐसे मित्र बनाकर रखे जो आवश्यकतानुसार समय–समय पर उसकी सहायता कर सकें।

कौटिल्य का राज्य राजतन्त्रात्मक होते हुए भी एक लोक–कल्याणकारी राज्य है। अतः उसका कार्य क्षेत्र विविध प्रकार के लोक–कल्याणकारी कार्यो के आयोजन तक विस्तृत है।

कौटिल्य का मंडल सिद्धान्त – राज्य के प्रशासन में सुरक्षा और विदेशी संबंधों के संचालन का विशेष महत्व है। कौटिल्य ने इन दोनों समस्याओं के समाधान के लिए मंडल सिद्धान्त का निरुपण किया है। वैसे इस सिद्धान्त के आरंभिक संकेत मनुस्मिृति में मिलते है, परन्तु कौटिल्य ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। अतः कौटिल्य के अनुसार, युद्ध में लिप्त होना राज्य के लिए स्वाभाविक भी है, और अनिवार्य भी। विजिगीषु को न केवल शूरवीर और युद्ध में निपुण होना चाहिए, बल्कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उसे मित्र और शत्रु की सही–सही पहचान करके उपयुक्त गठबंधन या सहबंध भी स्थापित करने चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार, विजिगीषु राज्य का सीमावर्ती राज्य का सीमावर्ती राज्य उसका स्वाभाविक शत्रु होता है। इसी तक्र के अनुसार, शत्रु राज्य का सीमावर्ती राज्य शत्रु दोनों की सीमाओं से लगा हो, वह इनमें से किसी का भी शत्रु या मित्र हो सकता है। उसे मध्यम कहा जाता है। वह इन दोनों में से किसी भी पक्ष के साथ संधिकर सकता है, या तोड सकता है। फिर जो राज्य विजिगीषु और की सीमाओं से परे हो, वह न तो स्वभावतः इन दोनो में से किसी का शत्रु होता है, न मित्र होता है। उसे उदासीन कहा जाता है। वह अपनी इच्छा या अपने विवेक से किसी भी राज्य के साथ संधि कर सकता है, या तोड सकता है। इस तरह विजिगीषु उसके मित्र, शत्रु मध्यम और उदासीन के संयोग से चार समूहों या मंडलो का निर्माण होता है।

यह मण्डल सिद्धान्त बारह राज्यों के वृत्त पर आधारित है अर्थात बारह राज्यों का एक समूह है। इसमे सम्मिलित बारह राज्यों को कौटिल्य ने निम्नलिखित नामों से पुकारा है तथा इसी आधार पर उनके चरित्र से आगे न बढ पाए।

1.विजीगीषु, 2. अरि, 3. मित्र, 4. अरिमित्र, 5. मित्र–मित्र, 6. अरिमित्र–मित्र, 7. पार्ष्णिग्राह, 8. आक्रंद 9. पाष्णिग्राहसार, 10 आक्रदासार, 11. मध्य, 12. उदासीन। भौगोलिक दृष्टि से विजीगीषु मण्डल के मध्य स्थित होता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र–मित्र और अरिमित्र–मित्र ये पॉच राज्रु विजीगीषु के सम्मुख तथा पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहसार तथा आक्रंदासार विजीगीषु राज्य के पृष्ठ भाग में होते है। शेष दो राज्य मध्यम तथा उदासीन उसके एक तरफ होते है। कौटिल्य ने यह शिक्षा दी है कि विजिगीषु को सब मंडलो की सही–सही पहचान करके उनमें उपयुक्त शक्ति–संतुलन स्थापित करना चाहिए। एसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके शत्रुओं और उसके सहायकों की सम्मिलित शक्ति उसकी अपनी और अपने सहायकों की शक्ति से आगे न बढ पाए।

शाडगुण्य सिद्धान्त – परराष्ट्र सम्बन्धों या विदेश नीति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे शाडगुण्य सिद्धान्त' कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक राज्य द्वारा अपनी विदेश नीति का निर्माण और संचालन छः प्रमुख आधारों के अनुसार करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसारब विदेश नीति के निम्नलिखित छः आधार हैः

1.सन्धि, 2. विग्रह, 3. यान, 4. आसन, 5. संश्रय, 6. द्वैधी भाव।

1. **सन्धि** – सन्धि से तात्पर्य दो राजाओं के मध्य समझौते से है।

2. **विग्रह** – विग्रह का अर्थ युद्ध है लेकिन वास्तविक युद्ध नहीं। यह युद्ध नीति है जो किसी विजय अभिलाषी राजा द्वारा निर्बल राजा के विरुद्ध प्रयुक्त की जाती है।

3. **यान** – यान का अर्थ वास्तविक आक्रमण या युद्ध अभियान से है। यह विग्रह का अगला कदम है।

4. **आसन** – आसन का तात्पर्य है– बैठना (तटस्थता) अन्य राजाओं के प्रति 'उपेक्षा' का भाव रखकर जब राजा शान्त या चुपचाप बैठकर अपनी शक्ति में वृद्धि करता है तो कौटिल्य के अनुसार उसे आसन या आसन की नीति कहा जाता है। यह तटस्थता की नीति है।

5. **संश्रय** – संश्रय या अर्थ है शरण लेना। यदि कोई राजा शत्रु को हानि पहुॅचाने की क्षमता नहीं रखता है और न ही अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है तो ऐसी स्थिति में उसे अपने से बलवान राज्य की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए।

6. **द्वैधी भाव** – एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह या युद्ध नीति का अनुसरण करने की स्थिति को द्वैधी भाव कहा जाता है।

कौटिल्य ने कूटनीति के चार साधनों या उपायों का उल्लेख किया है जो राज्य की रक्षा के लिए अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध होंगेः

1. 'साम' अर्थात शांति की नीति। अपने से अधिक शक्तिशाली राजा के प्रति यही नीति उपयुक्त है।

2. 'दाम' अर्थात् धन देकर अपने से शक्तिशाली राजा को संतुष्ट करने का तरीका ताकि वह आक्रमण के लिए तत्पर न हो।

3. 'दंड' अर्थात् बल–प्रयोग। अपने से निर्बल राजा से युद्ध करके या उस पर दबाव डालकर अपना आधिपत्य कायम करने की नीति और अंत में

4. 'भेद' अर्थात् आसपास के राजाओं के बीच आपस में फूट डाल देने की नीति ताकि वे आपस में ही उलझे रहें, और–दूसरे की शक्ति का उन्मूलन करते रहें, और भेद पैदा करने वाला स्वयं सुखपूर्वक राज्य करे।

कौटिल्य ने लिखा है कि निर्बल राजा को 'साम' और 'दाम' की नीति का प्रयोग करना चाहिए जबकि बलवान राजा को 'दंड' और 'भेद' की नीति से बहुत लाभ होगा। कुछ भी हो, कूटनीति की ये सारी विधियां साधारण नैतिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। इस तरह कौटिल्य ने राजनीति को साधारण नैतिकता के बंधनों से मुक्त रखा है।

1.2.4 बौद्ध धर्म व परम्परा

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का उदय उस समय हुआ जब दास प्रथा वाले बडे–बडे साम्राज्यों का निर्माण एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था और पुरोहित वर्ग का बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक आधिपत्य समाज के विकास में रुकावटें खडी करने लगाा था। बौद्ध धर्म अपने दृष्टिकोण में पुरोहित–विरोधी था। वह कर्मकाण्ड़ों का भी विरोध करता था। अतः ब्राहम्णवाद की तुलना में, जिसका जोर मुख्यतः वर्णाश्रम व्यवस्था की असमानताओं और पुरोहित वर्ग की

सुविधापूर्ण स्थिति को बनाये रखने पर था, बौद्ध धर्म नये युग के लिए अधिक उपयोगी था। बौद्ध धर्म की दार्शनिक आधारभूमि स्वयं उसका धर्म का सिद्धान्त था। इसके अनुसार, समस्त अस्तित्व एक निरन्तर धारा है और यह तत्वों से उत्पन्न है। धर्म तत्व, जो ऐसे विशिष्ट पदार्थ है, जो पार्थिव और मानसिक व्यापारों में व्याप्त है, क्षणिक होते है।

बुद्ध ने अपने विचारों का प्रतिपादन दस समय आरम्भ किया था जब ब्राम्हणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का रुढिवाद सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को दूषित कर रहे थे। वर्णाश्रम नियमों को दैवी विधान माना जाता था क्योकि उनकी उत्पत्ति वेदों से थी, जिन्हें दैवी प्रमाणिकता प्राप्त थी। अतः बुद्ध ने वेदों की पवित्रता और प्रामाणिकता को चुनौती दी। उन्होने वैदिक देवी–देवताओं को मानने से इनकार कर दिया। अपने अनुयायियों को उन्होने उपदेश दिया। कि वे किसी भी चीज को स्वीकार न करें जो तक्रसंगत न हो। बुद्ध ने शिक्षा दी थी कि मनुष्य को उसके जन्म से नहीं, अर्थात उसके वर्ण से नहीं, बल्कि जीवन में उसके क्रिया–कलापों से परखा जाना चाहिए। बुद्ध ने जनता का आहवान किया कि वह ऐसी किसी बात को स्वीकार न करे जो तक्र और अनुभव से मेल न खाती हो। बुद्ध की शिक्षा थी कि लोगों का वर्ण चाहे कुछ भी हो, जहां तक ''दुख'' की बात है वे सब समान हैं और दुख से मोक्ष प्राप्त करने का हर एक को अधिकार है।

जनसाधारण के आचरण के लिए भी नियम निर्धारित कर दिये गये थे। उन्हे पंचशील का पालन करना होता था। ये पंचशील पांच नियम थे, यथाः किसी की हत्या न करना, किसी ऐसी वस्तु को न लेना जो दान में न दी गयी हो, इंद्रिय सुख–भोग में अत्यधिक न बहकना, झूठ न बोलना, मस्तिष्क को भ्रमित करने वाले मादक पदार्थो का सेवन न करना।

बुद्ध के कर्म और अहिंसा के सिद्धान्तो, और सादे जीवन, स्वेच्छित निर्धनता, इंद्रिय सुख–भोग से विमुखता, सहनशीलता आदि की शिक्षाओं ने इस मामले में क्षत्रियों और वैश्यों की और भी सहायता की। कोई आश्चर्य नहीं कि क्षत्रिय और व्यापारी लोग बौद्ध धर्म के संरक्षको के रुप में सामने आये। ठीक इसी कारण सम्राट, सामन्त और धनी मनुष्य बुद्ध के अनुगामी बन गये। भारत से बाहर–श्रीलंका, जापान, चीन और तिब्बत में–बैद्ध धर्म का प्रचार करने में शासकों ने पहलकदमी की। वे भली भांति जानते थे कि बौद्ध धर्म की शिक्षाएं सामाजिक क्रांति का आवाहन नहीं करतीं, बल्कि तत्कालीन सामाजिक ढांचे को कायम रखने में सहायता पहुँचाती हैं बुद्ध की शिक्षाएँ जिनका असर देश और वर्गो की सीमाओं के बाहर फैल रहा था, प्रत्यक्ष रुप में परोक्ष रुप में, राज्य का विस्तार करने में सहायक सिद्ध हो रही थी। बुद्ध जाति प्रथा की असमानताओं को, समाज के आर्थिक ढाँचे को मिटाये बिना ही, दूर करने के इच्छुक थे।

इस प्रकार बौद्ध मत ने, एक धर्म और दर्शन के रुप में, प्राचीन भारत मे विशाल दास प्रथावाले साम्राज्यों के विकास के हितों की सिवा की। नैतिक शुद्धता, अहिंसा, दया और दान–पुण्य पर जोर देने के कारण बौद्ध धर्म का राजाओं और दासों के स्वामियों पर मानवतावादी प्रभाव पड़ा।

1.2.5 भक्ति आन्दोलन

मध्य युग में भारत की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों में तो परिवर्तन किन्तु इन बदली हुयी परिस्थितियों के अनुसार कोई नई राजनीति विचार व अवधारणा विकसित नहीं हुयी। राजनीति विचारकों ने राज्य के संगठन को

जीवंत बनाने के उपायो पर कोई विचार नहीं किया। साथ ही भारत की प्राचीन राजीतिक चिन्तन को विरासत को जीवंत बनाने के उपायो पर कोई प्रयास नहीं किया गया। किसी भी राजनीतिक चिन्तक द्वारा भारत की सांस्कृतिक व राष्ट्रीय एकता को लोगो में पैदा करने का काई प्रयास नहीं किया गया।

भारत में जो भक्ति आन्दोलन चला उसमें उस व्याप्त सामाजिक आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रुप धारण किया सामाजिक विषय – वस्तु में वे जाति–प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्रो के द्योतक थे। इस आन्दोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। भक्ति आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ था, हिन्दू और मुसलमान, पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समृद्ध किये गये निहित स्वार्थो के खिलाफ संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था।

इस भक्ति आन्दोलन में मराठी कवि तुकाराम, कबीर के शिष्य दादू, रैदास, महाप्रभु चैतन्य, सिक्खों के प्रथम गुरु गुरुनानक तथा पांचवे गुरु, गुरुअर्जुन ने अपने विचारों द्वारा महत्वपूर्ण भमिका निभायी।

1.3 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

आधुनिक भारतीय चिन्तन प्राचीन भारतीय चिन्तन से एकदम विच्छिन्न नहीं है यदि रेखा जाये तो काल विभाजन की दृष्टि से मुख्यतः 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से वर्तमान तक भारतीय सामाजिक एवं राजीनीतिक चिन्तन की आधुनिक कहा जाता है। इस कालावधि में ऐसा अधिकांश चिन्तन भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि में उभरकर सामने आया। जिसमें ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन भारत की दुर्दशा पर गहरी चिंता व्यक्त की गयी थी।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के इस आधुनिक भारतीय राजनीति चिन्तन में एक ओर जहाँ भारत के खोए हुए गौरव को फिर से लौटाने, भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का आहान किया गया। भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों और त्रुटियों की ओर ध्यान खींचते हुए इस समाज को भीतर से सुधारने पर बल दिया गया वही दूसरी ओर अनेक विचारकों व चिन्तकों द्वारा स्वतन्त्रता, समानता व राष्ट्रवाद के महान आदर्शो द्वारा भारतीय जनता में विदेशी शासन से मुक्त होने की प्रबल इच्छा का संचार किया गया।

भारतीय संदर्भ में आधुनिकता के प्रेरणा स्त्रोत राजा राममोहन राय के विचार दर्शन में देखे जा सकते है। राजा राममोहन राय से पूर्व का चिन्तन मध्यकालीन कहलाता है। एक महत्वपूर्ण बात ध्यान देने वाली यह है कि यह ठीक है कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भिक प्रतीक राजा राममोहन राय को माना जाता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनसे पूर्व भारत चिन्तन के आधुनिक स्वरुप का कोई अस्तित्व ही नहीं था। बल्कि ऐसा कहने का ताप्तर्य यह है कि आधुनिक चिन्तन विचारो का सबसे स्पष्ट प्रस्फुटन सर्वप्रथम राजा रामोहन राम के ही विचार दर्शन में हुआ है।

1.3.1 राजा राममोहन राय

बंगाल में जन्में राजा राममोहन राय को आधुनिक भारतीय चिन्तन का सिरमौर कहा जाता है। आधुनिकता के प्रवर्तकों में वे प्रथम थे जिन्होंने सृजानात्मक

सुधारवाद का न केवल झण्डा गाड़ा बल्कि उन्होने भारतीय चिन्तन में आधुनिक प्रवृत्ति और प्रभाव को गुणात्मक स्वर प्रदान किया। राजा राममोहन राय उस वैचारिक क्रान्ति के सृष्टा थे जिससे आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

1. **वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पोषक** – पश्चिमी विचारको लॉक, ग्रोशियस तथा टामैसपेन की भांति प्राकृतिक अधिकारो की अवधारणा को स्वीकार करते हुए राजा राममोहन राय ने व्यक्तियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकारो का प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारो का भी समर्थन किया। उनके अनुसार राज्य को समाज सुधार तथा शैक्षणिक पुनर्निमाण के लिए कानून बनाना चाहिए। राज्य का यह कर्तत्व है कि वह जनता की सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक दशाओं में सुधार के लिए प्रयत्न करें।

   जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राय की विभिन्न क्रियाओं का स्त्रोत ''स्वतन्त्रता के प्रति उनका महान'' प्रेम ही था। स्वतन्त्रता के प्रति उनके इस अनुराग ने धर्म के क्षेत्र में इसने मूर्तिपूजा के विरुद्ध, सामाजिक सुधार के क्षेत्र में सती प्रथा और बहुपत्नी विवाह की कुप्रथाओं के विरुद्ध, शैक्षणिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता तथा बुद्धिवाद से ओतप्रोत तथा राजनीतिक क्षेत्र में उन्होने प्रेम, स्वतन्त्रता, नारी–अधिकार, कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण आदि की मांगो का रुप धारण कर लिया।

2. **प्रेस एवं भाषण की स्वतन्त्रता** – राजा राममोहन राय प्रेस एवं भाषण की स्वतन्त्रता के महान समर्थक थे। उनका मानना था कि मानव उन्नति के लिए अशिक्षा रुपी अंधकार को दूर करने में समाचार पत्र महती भूमिका निभा सकते है। समाचार पत्रों के माध्यम से लोगो में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार किया जा सकता है और लोगो से समता, भ्रातत्व और स्वधीनता की भावना जगायी जा सकती है। उनके दो पत्र संवाद कौमुदी (बंगला तथा अंग्रेजी भाषा में) और दूसरा पत्र मिरात उल अखबार'' (फारसी भाषा) में प्रकाशित होता था। वे समाचार पत्रों की निष्पक्षता और निर्भीकता के घोर समर्थक थे किन्तु वे प्रेस की अपरिमित स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे वरन् उस पर समुचित प्रतिबंधों को आवश्यक समझते थे। प्रेस की स्वतंत्रता की मांग वे सांविधनिक सरकार को मजबूत बनाने के लिए करते थे।

   राममोहन राय यह नहीं सोचते थे कि समाचार–पत्र के द्वारा सरकार को डराने, गिराने, अपमानित करने या सरकार के विरुद्ध घृणा के प्रसार का कार्य करना था। जनता और सरकार, दोनों को उचित शिक्षा प्रदान करना समाचार–पत्र का ध्येय होना चाहिए। समाचार–पत्र पिछड़े हुए समाज को ई रोशनी देने और अज्ञानी शासक को उसके कार्यो के प्रति शिकायत न रही हो। अच्छा शासन वह है जो अपने नागरिकों की शिकायतो को अभियुक्त करने का उचित अवसर प्रदान करें। निश्चित रुप से उनकी पत्रकारिता ने देश के समस्त भागों में राष्ट्रीय पुर्नजागरण के संदेश को पंहुचा दिया। उनका संदेश मानवता और विश्वबन्धुत्व का संदेश था।

3. **देश की न्यायिक व्यवस्था** – राजा राममोहन राय ने न्यायिक व्यवस्था पर भी अपने विचार व्यक्त किए और भारत की न्यायिक व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने भारत में न्यायिक व्यवस्था नागरिक आधिकारो, कानूनों आदि के सम्बन्ध में विभिन्न सुधारो का सुझाव दिया जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने कानूनों को

संहिताबद्ध करने, शक्ति पृथक्करण न्यायधीशों की ईमानदारी, कुशलता, स्वधीनता, ज्यूरी प्रणाली तथा बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम को अपनाने और अधिकारियों के कानूनी उत्तरदायित्व की मांग की।

4. **प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरुप** – राजा राममोहन राय का यह मानना था कि यदि ब्रिटिश सरकार चाहती है कि भारतवासी सरकार के प्रति आस्थावान हो तो भारतीय को शक्ति एवं शिक्षा के अनुसार दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त करना पड़ेगा। इसके लिए उन्होंने प्रशासनिक व्यवस्था में कुछ सुधारो की सिफारिश की थी

5. **कानून द्वारा समाज सुधार** – राजा राममोहन राय ने एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रापात किया। उनका विश्वास था कि धर्म और समाज सुधार की अनुपस्थिति में केवल राजनीतिक विकास का कोई मूल्य नहीं रहेगा। बिना समाज सुधार तथा धार्मिक विश्वासो और पाखण्डो के उन्मूलन के हम एक खोखली राजनीतिक स्वधीनता हासिल करेगे। राजा राममोहन राय ने सामाजिक क्रान्ति व सुधार को दृढ़ता प्रदान करने हेतु कानूनो के निर्माण के निर्माण को आवश्यक माना। उनके द्वारा के निर्माण को आवश्यक माना। उनके द्वारा शुरु किया गया सतीप्रथा विरोधी आन्दोलन सर्वविदित है। मुख्यतः उन्ही के विरोध एवं विचारों के फलस्वरुप लार्ड विलियम बैटिंक ने एक आज्ञा जारी कर सती प्रथा को 1829 में निषिद्ध घोषित कर दिया। वे स्त्री–पुरुष की समानता और नारी उद्धार के समर्थक थे और तत्कालीन भारत की परिस्थितियों में महिला वर्ग की स्थिति में सुधार की विशेष आवश्यकता अनुभव करते थे। राममोहन राय धर्म–निरपेक्ष राजनीति के समर्थक थे।

   हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अपने गम्भीर ज्ञान के आधार पर यह प्रमणित किया कि सतीप्रथा धर्मसंगत नहीं थी। साथ ही उन्होने इस पर सत्य का बोध कराया कि स्वार्थी सम्बन्धी किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं बल्कि विधवाओं के भरण–पोषण के खर्च से छुटकारा पाने के लिए इस प्रथा को जारी रखना चाहते थे।

6. **मानवतावाद, विश्व बन्धुत्व और सार्वभौम धर्म** – राजा राममोहन राय महान मानवतावादी थे। वे विश्व नागरिक, विश्व बन्धुत्व तथा सार्वभौमिकता में विश्वास रखते थे। वे समस्त मानव जाति को एक परिवार तथा विभिन्न राष्ट्रों और जातियों को उसकी शाखाएं मानते थे। राममोहन राय ने एक ऐसे विश्व संगठन की कल्पना की थी, जिसमें दो राष्ट्रों के बीच के मतभेदों को पंच–फैसले द्वारा निबटाने के लिए भेजा जा सके। वास्तव में, राममोहन राय का अन्तर्राष्ट्रवाद बहुत ऊंचे स्तर का था। एक समाज–सुधारक, धर्म–सुधारक, राजनीतिक विचारक और शिक्षाविद् के रुप में उन्होने देश की समस्याओं के लगभग सभी प्रमुख पक्षों को स्पर्ष किया और उनके निदान प्रस्तुत किए।

1.3.2 सुधारवादी आन्दोलन

वैसे तो भारतीय सभ्यता और संस्कृति मे समन्वय शक्ति सदा से ही विद्यमान रही है। सदैव से इसने अपनी मौलिक विशेषताओं को बनाये रखते हुए अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों की अनेक बातों को भी अपने में आत्मसात किया है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता चिन्तन के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है

जो 'संस्कृति' का ही एक अंग है। समय के प्रवाह के साथ भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चिन्तन में यद्यपि परिवर्तन आये है लेकिन उसने अपनी मौलिक विशेषताओं को नहीं खोया। तत्कालीन आवश्यकताओं और चुनौतियो का समुचित उत्तर व उपाय खोजने व क्षेत्रों में जो चिन्तन धाराएं व्यक्त हुयी है जो नये विचार पनपे है, उन सब के व्यवस्थित अध्ययन को हम आधुनिक भारतीय चिन्तन में देश की सभी प्रमुख आधुनिक विचारधाराओं को प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसमें हमें भारत के अतीत के गौरव और वर्तमान के प्रकाश दोनों को समन्वय मिलता है। साथ ही भारत के परम्परागत आदर्शो और उनके स्वस्थ मूल्यों के दर्शन भी होते है।

भारत में अंग्रेजो के आगमन के आसपास अर्थात् 17वीं – 18वीं शताब्दी में भारतीय समय के घोर पतन के लक्षण प्रकट हो गये और जनता अपने प्राचीन गौरव को भूल चुकी थी। धार्मिक पाखण्ड और विविध सामाजिक बुराइयों ने अपना घर जमा लिया। मुस्लिम और मुगल शासन के सैकड़ों वर्षो के लम्बे समय में भारतीयों को विदेशी शासन के तीखे अनूभव हो चुके थे। लेकिन गुलामी का पूरा अहसास देश में अंग्रेजी साम्राज्य के साथ–साथ होने लगा। बाहर से आये हुए इन मुट्ठी भर लोगों ने एक–एक करके भारतीय राजाओं को पराजित कर अपने कब्जे में ले लिया। अनेक इस प्रभुत्व और दमन के विरुद्ध देश में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस पतनोन्मुख स्थिति में धर्म व समाज सुधार को पृष्ठ भूमि का निर्माण किया। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को डूबते हुए देखकर भारत का बौद्धिक व दार्शनिक वर्ग उठ खड़ा हुआ परिणामस्वरुप भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों का शुभारम्भ हुआ। भारतीय मनीशियो, विद्वानों व विचारको ने गिरते हुए भारतीय समाज व धर्म को एक बार पुनः ऊपर उठाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने भारतीय जनमानस को अपने खोये हुये गौरव व वैभव की याद दिलाई और उनकी वर्तमान पवित्र अवस्था का उन्हें ज्ञान कराया। फलतः सामाजिक व धार्मिक सुधारों की एक लहर दौड़ पड़ी जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रबल लालसा जागृत हुयी।

भारत की बौद्धिक रुप से सोयी हुयी जनता को पुनः जगाने की इस प्रक्रिया को ही (बौद्धिक) पुर्नजागरण ने हमारे साहित्य, शिक्षा और पुर्नजागरण एक नैतिक शक्ति बन गया जिसका हमारे धर्म और सुधार पर सुधारात्मक प्रभाव पड़ा भारत का आर्थिक एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण करने का प्रयास किया और अन्त में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की। पुर्नजागरण की इस तहर में मतभेदों और सैद्धान्तिक संघर्ष का होना, कट्टरपंथियों और सुधारवादियों का टकराव होना स्वाभाविक था। इनके बीच का वैचारिक और सैद्धान्तिक मतभेदों का जो संघर्ष चला उसमें अन्ततः सुधारवादियों को विजय मिली। इस संघर्षो के दौरान विभिन्न सामाजिक, धर्मिक और राजनीतिक विचार नये रुप में उदय हुए और इन्हीं के द्वारा आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन का निर्माण हुआ। इस चिन्तन को यूरोप के पुर्नजागरण से भी प्रेरणा मिली।

सुधारवादी विचार को द्वारा जाति प्रथा और संकीर्णताओं का विरोध किया गया। उनका यह मानना था कि हिन्दू समाज जातियों के आधार पर अनेक इकाइयो में विभाजितब है और ये जातियां उपजातियों में विभाजित हो गई है, जिससे सामाजिक जीवन में अनेक संकीर्णताओं ने घर कर लिया है। सुधारवादी विचारको द्वारा जाति–प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया गया और यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि हिन्दुओं की राजनीतिक कमजोरी और परिणामतः परीधीनता का कारण उनमें असंख्य जातियों और उप–जातियों का होना है। जाति–प्रथा का विराध करते हुए,

उन्होने दो बातों पर बल दिया। प्रथम, जाति का आधार जन्म नहीं वरन् कर्म होना चाहिए। द्वितीय, किसी व्यक्ति को जाति के आधार पर श्रेष्ठ अथवा हेय नहीं माना जा सकता, उसे उसकी उपलब्धियों, गुणों और मान्यताओं के आधार पर ही श्रेष्ठ माना जा सकता है।

सुधारवादी आन्दोलन में ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं ने अग्रणी भूमिका निभायी। इन्होंने भारतीयो में अपने अतीत के प्रति और अपनी धार्मिक विरासत के प्रति स्वाभिमान जाग्रत करके भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

1.3.3 महादेव गोविन्द रानाडे का राजनीतिक चिन्तन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की उदारवादी परम्परा के एक प्रमुख प्रतिनिधि महादेव गोविन्द रानाडे थे जिन्होने राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किये। उन्होंने भारतीय पुर्नजागरण को आगे बढ़ोने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वे इंडियन नेशनल कांग्रेस के संस्थापक सदस्यों में थे। इनमें भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के विस्तृत ज्ञान की झलक मिलती है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'ऐसेज ऑन इण्डियन इकानामिक्स (भारतीय अर्थशास्त्र) 1906 में भारत की सामाजिक आर्थिक समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये है।

रानाडे ने सिद्धान्त और व्यवहारिक राजनीतिक के क्षेत्र में भी महत्पूर्ण योग दिया। जनता को राजनीतिक शिक्षण देने तथा राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व करने में उन्होंने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। गोपाल कृष्ण गोखले उनके योग्यतम राजनीतिक शिष्य थे।

1. **संविधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनों पर बल** – भारतीय राजनीति में रानाडे उदारवादी चिन्तन के प्रमुख स्तम्भ थे। उदारवादी भावना से हमारा अभिप्राय है जाति और धर्म सम्बन्धी राग–द्वेष से ऊपर उठ जाना और उन बातों के प्रति लगाव जिनसे मनुष्य–मनुष्य के बीच न्याय होता हो, शासकों के प्रति वह निष्ठा जा उन्हें इसलिए मिलनी ही चाहिए कि वे कानून से बंधे हुए हैं, किन्तु साथ ही शासितों के लिए भी समानता प्राप्त करना, क्योकि कानून के अन्तर्गत उन्हे यह अधिकार मिला हुआ है।

2. **राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार** – रानाडे उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद'' के गुरु थे और भारतीय राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करते थे। रानाडे का भी हीगल, बोसाँके तथा केशवचन्द्र सेन की भांति विश्वास था कि इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। भारतीय इतिहास के उतार–चढ़ाव में भी उन्हे दैवी इच्छा तथा विवेक की कार्यन्वित दिखई देती थी।

3. **स्वतन्त्रता तथा समानता सम्बन्धी विचार** – सम्पूर्ण सृष्टि का संचालक ईश्वर है। एक आत्मचेतन और विवेकशील प्राणी के नाते मनुष्य में स्वयं ईश्वर का अंश विद्यमान है जो उसे प्रकृति या अन्य प्रणियों से भिन्न चरित्र प्रदान करता है। उसके विवेक तथा स्वतन्त्र इच्छा ही उसे अपने कर्मो के लिए उत्तरदायी बना देती है। मनुष्य का यह ईश्वरीय गुण ही समस्त स्त्री–पुरुष की समानता पर बल दिया था। जैसे – आर्यो की विवाह प्रथा स्त्रीत्व की गरिमा को पूरा सम्मान देती थी। मध्य काल की कुछ गलत प्रथाओं ने स्त्रियों की स्थिति में गिरावट ला दी थी। आधुनिक युग में स्त्री

शिक्षा और समाज सुधार के द्वारा स्त्रियों की गरिमा को फिर से स्थापित करना जरुरी है। उनका कहना था कि स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण अथवा शासन का अभाव न होकर कानून की व्यवस्था के अन्तर्गत शासन है। रानाडे की स्वतन्त्रता सम्बन्धी मान्यता उदारवादी थी जिसका स्पष्ट अर्थ था– निश्चितम मापदण्डों की सीमा में स्वतन्त्रता का उपभोग। कानूनसम्मत राज्य में ही स्वतन्त्रता के सुलभ होने में उनका विश्वास था। स्वतंत्रता का अर्थ है कानून बनाना, दण्ड–व्यवस्था स्थापित करना और अधिकारियों की नियुक्ति करना।

4. **ब्रिटिष शासन के उदात्त विचार** – भारत की महानता के प्रशंसक होते हुए भी रानाडे भारत के दोषों को गिनाने से नहीं चूके। जहां उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि भारत की जाति एक चुनी हुई विशिष्ट जाति है जिसे ईश्वर ने पृथ्वी पर भेजा है और जहां उन्होंने इस बात पर गर्व प्रकट किया। अंग्रेज जाति की नैतिक भावना और राजनीतिक सूझ–बूझ में रानाडे की आस्था थी। उनकी आकांक्षा थी कि विदेशी होते हुए भी अंग्रेज शासको को साम्राज्यवादी विचारो से दूर रहते हुए, भारत पर भारतीय जनता के ही हित में शासन करना चाहिए। इस नैतिक–राजनीतिक दृष्टिकोण की तराजू पर ही वे प्रशासन की नीतियों और कार्यो को तोलते थे – उनकी प्रशंसा या निदा करते थे।

5. **भारतीय में राजनीतिक जागृति** – रानाडे ने अपने भाषणों और अपनी रचनाओं में तत्कालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन को समृद्ध बनाने और देशवासियों में राजनीतिक जागृति लाने के निरन्तर प्रयत्न किये। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े उदार और व्यापक थे।

रानाडे के राजनीतिक विचारों के विश्लेषण से प्रकट है कि वे उदारवादी राजनीतिक विचारक थे जो राजा राममोहन के अनुसार ही ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे, लेकिन उसकी बुराइयों के प्रति भी वे पूरी तरह सचेत थे। रानाडे ब्रिटिश शासन का समर्थन मुख्यतः इस रुप में करते थे कि अंग्रेजों के सम्पक्र से भारत को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होगी। रानाडे और गोखले जैसे उदारवादी पश्चिमी विचारो को भारत के लाभ के लिए उपयुक्त समझते थे और चाहते थे कि पश्चिमी विचारों को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल सांचे में ढाला जाए। उन्होंने अपने चिन्तन में प्राचीन मूल्य परम्परा के साथ पाश्चात्य आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के समन्वय का बेजोड उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के संदेशवाहक के रुप में अपनी पहचान बनायी।

1.3.4 गोपाल कृष्ण गोखले

गेखले एक व्यावहारिक आदर्शवादी और राजनीति के क्षेत्र में सच्चे उदारवादी थे। गोखले नरम राष्ट्रीयता के अनुयायी थे। उनकी मान्यता थी कि कांग्रेस को भारतीय प्रशासन ने धीरे–धीरे सुधारो के लिए आन्दोलन करना चाहिए। अंग्रेजो की न्यायप्रियता में निष्ठा थी और उनका कहना था कि अंग्रेज उस समय भारत को अविलम्ब स्वशासन देंगे जब उन्हें विश्वास हो जायेगा कि भारतीय इसके योग्य है। वे केवल याचिकाओं और सांविधनिक आन्दोलनों द्वारा भारत में ब्रिटिश नौकरशाही के दोषों को समाप्त कर भारतीयों के लिए अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहते थें। अन्य उदारवादियों के समान वे भी भारत के लिए स्वशससन के आकांक्षी थे लेकिन यह स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही होना था।

1. अंग्रेजो की न्यायप्रियता और उदारवाद में विश्वास – भारत के अन्य उदारवादियों की भांति गोखले भी ब्रिटिश शासन की लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा शिक्षण पद्धति के प्रति आकर्षित थे उन्हे अंग्रेजो की न्यायप्रियता पर पूर्ण विश्वास था। वे यह मानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासको की न्याय और उदारता की भावना को उत्साह कर उन्हें भारत को अपने साम्राज्य के भीतर ही स्वशासन देने को तैयार करना ही भारतीय हित में है।
2. ब्रिटिश शासन को वरदान मानना – गोखले भारत के लिए ब्रिटिश शासन को कल्याणकारी स्वरुप में विश्वास करते थें उनकी धारणा थी कि ब्रिटेन के साथ सम्पक्र बनाये रखने से भारतीयो की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी, दृष्टिकोण विकसित होगा और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।
3. भारत ब्रिटिश सहयोग तथा पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन – गोखले ने बताया कि भारत अपने दोषों और अपनी निर्बलताओं के कारण ही विदेशी आक्रान्ताओं का शिकार हुआ था यदि उसे स्वशासित राष्ट्र के रुप में सम्मानित स्थान प्राप्त करना है तो उसे इन निर्बलताओं को दूर करके सामाजिक सुधार के द्वारा शांति और व्यवस्था की हर सम्भव स्थापना करनी होगी और यह कार्य भारत ब्रिटिश राज्य की बदौलत ही कर सकेगा। पाश्चात्य शिक्षा गोखले की दृष्टि में भारत के लिए एक मुक्तिदायिनी शक्ति थी और भारत में इसका अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए था।
4. राष्ट्रीय एकता और ढृढता में विश्वास – गोखले ने राष्ट्रीय एकता का सन्देश दिया। उन्होंने हिन्दु–मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना तथा दोनों जातियों के बीच कटुता पैदा करने वाली सभी संभावनाओं से बचाव का तरीका अपनाया। हिन्दू–मुस्लिम प्रश्न को धार्मिक दृष्टि और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से देखते हुए उन्होंने किसी एक नीचा तथा दूसरे को ऊॅचा समझने की प्रवृत्ति को बुरा बताया।
5. राजनीति का आध्यात्मीकरण – गोखले राजनीतिक सन्यासी थे जो सन्यासी थे जो राजनीति में नैतिकता तथा उच्च उद्देश्यों को लेकर उतरे थे वे सदैव साध्य के ऊपर साधनों की प्रधानता पर बल देते थे। उनका विश्वास था कि राजनीति जन–सेवा का एक साधन तभी बन सकती है जब उसका आध्यात्मीकरण हो जाये। गोखले द्वारा स्थापित सर्वेण्ट्स ऑप इण्डिया सोसाइटी का एक मुख्य उद्देश्य भी राजनीति और धर्म का समन्वय करना था। गोखले की धार्मिक प्रवृत्ति और साधुवृत्ति के कारण ही महात्मा गाँधी ने उन्हे अपना राजनीतिक गुरु कहा था।

1.3.5 बाल गंगाधर तिलक का राजनीतिक चिन्तन

डग्रवादी और राष्ट्रीवादी विचारको में तिलक का नाम प्रमुखता के साथ लिया जाता है। तिलक वे पहले नेता थे जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक जोश का प्रयोग किया था। तिलक कांग्रेस के उग्रवादी नेता, कर्मठ, साहसी सेनानी थे जिन्होंने अपने ढृढ विचार एवं महान् बलिदान के द्वारा भारतीय स्वाधीनता के भव्य भवन की नींव डालने में पहली भूमिका अदा की।

श्राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में तिलक ने एक यथार्थवादी व्यावहारिक नेता की भूमिका अदा की। तिलक के विचार और दुष्टिकोण में हमें यथार्थवाद का तत्व देखने को मिलता है। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य भारत की राजनीतिक दासता से मुक्ति था और इसी दिशा में एक व्यावहारिक राजनीतिक नेता के रुप में उनके कार्य–कलाप रहे। तिलक के राजनीतिक चिन्तन में जहां हमें भारतीय दर्शन की कुछ प्रमुख धारणाओं तथा आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। तिलक का चिन्तन आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर आधारित था अतः स्वाभाविक था कि उन्होंने स्वराज्य की नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की।

1. **तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद** – तिलक की राष्ट्रीयता पुनरुत्थानवादी और पुनर्निर्माणवादी थी। उन्होंने वेंदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का सन्देश दिया और भारत की प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना करनी चाही। वे मानते थे सुधार के नाम पर प्राचीन का अनादर करना तो राष्ट्रीयता के पतन का सूचक है।

   लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के आवेग को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव को फिर से जाग्रत किया और साथ ही शिवाजी की उपासना का पंथ भी शुरु किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धर्मिक उत्सव को सामाजिक एवं राजनीतिक अर्थ दिया तथा शिवाजी उत्सव द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने और संगठित करने का काम किया।

   तिलक हिन्दू गौरव को डूबते नहीं देखना चाहते थे किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे कोई हिन्दू राष्ट्रवादी थे अथवा मुसलमानों के खिलाफ थे। अनेक विचारको ने तिलक की हिन्दू राष्ट्रवादी भावना की इस आधार पर तीखी आलोचना की कि वे मुसलमानों व अन्य धर्म विलम्बियों के प्रति द्वेषभाव का प्रचार करते थे। सच्चाई यह है कि तिलक एक महान राष्ट्रवादी विचारक और देशभक्त थे जिनके ह्रदय में मुसलमानों तथा अन्य धर्मविलम्बियों के प्रति कोई द्वेषभाव नहीं था।

   तिलक ने आर्थिक कारको पर भी पर्याप्त महत्व दिया था। उन्होंने भारत की गरीबी का मुख्य कारण देश से विपुल धनराशि का विदेशों में चले जाना बताया। वे दादा भाई नौरोजी के ''आर्थिक निष्कासन के सिद्धान्त'' से सहमत थे। तिलक ने अपने 'केसरी' व 'मराठा' नामक के दो समाचार–पत्रों के द्वारा भारत में अंग्रेजी शासन द्वारा की जा रही लूट की ओर लोगो का ध्यान खींचा और विदेशी वस्तुओं के बहिस्कार और स्वदेशी के प्रयोग की बात कही।

2. **स्वदेशी और बहिस्कार** – स्वेदेशी और बहिष्कार–स्वाधीनता संग्राम के इन दो हथियारों को लोकप्रिय बनाने में लोकमान्य तिलक ने महत्पूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने स्वदेशी के संदेश को महाराष्ट्र और बरार के कोने–कोने तक पहुंचा दिया। यद्यपि स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों ने एक आर्थिक आन्दोलन के रुप में किया था, लेकिन उग्र राष्ट्रवादियों, विशेषकर तिलक के हाथों में यह एक राजनीतिक अस्त्र बन गया। पश्चिमी भारत में स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन तिलक के साथ पहुंचा। वास्तव में स्वदेशी ने ही स्वराज्य का रास्ता दिखाया। स्वदेशी की भांति बहिस्कार का भी मूल

उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितों पर दबाव डालकर उसे अपनी मांगे मनवाने के लिए विवश कर दिया जाए। वास्तव में तिलक ने लोगों को बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरुप दिखाकर स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त किया। यह बहिष्कार आन्दोलन गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन की स्पष्टतम पूर्वसूचना थी। यदि तिलक ने स्वराज्य के प्रति लोगों में इतना उत्साह न पैदा किया होता तो सम्भवतः देश गाँधीवादी कार्यक्रम के लिए इतना तैयार न होता। तिलक की 'स्वराज्य' सम्बन्धी अवधारणा– ''स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूँगा''।

तिलक ने स्वराज्य को एक राजनीतिक आवश्यकता मात्र नहीं, बल्कि नैतिक परमावश्यकता बताया और कहा कि यह तो मनुष्य के नैतिक स्वरुप की अनिवार्य मांग है। तिलक ने स्वराज्य को सामाजिक व्यवस्था का आधार बताया। उन्होने कहा कि राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज्य में ही निहित है। यदि स्वराज्य मिल गया तो हमारे विभिन्न उद्देश्य सुगमतापूर्वक पूरे हो स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है और प्राकृतिक सिद्धान्तों पर आधारित किया। उन्होंने माना कि स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है और अंग्रेजो द्वारा भारत पर अधिकार जमाए रखना एक असहनीय ज्यादती है। भारतीयो का सर्वोपरि कर्तव्य है कि वे स्वराज्य की प्रप्ति के लिए संघर्ष करें। तिलक ने भी 'स्वराज्य' से अर्थ पूर्ण स्वाधीनता से ही लगाया।

राजनीतिक उग्रवाद और आक्रामक राष्ट्रवाद – तिलक को उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता है उन्होंने राष्ट्रीय एकता को सुढ़ृढ बनाने तथा उग्र राष्ट्रवाद का विगुल फूकने के लिए एक ऐसे राष्ट्रव्यापी का आन्दोलन तथा संचालन तथा संचालन किया जिसमें सभी वर्ग और जातियों का आवाहन किया गया। पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल धीरे–धीरे यह राष्ट्रवादी आंन्दोलन फैलने लगा तथा 1905 में बंग–भंग की घटना के बाद ही लाल–बाल–पाल भारत में उग्रराष्ट्रीयता की त्रिमूर्ति बन गये तिलक ने ब्रिटिश सरकार की दमन कार्यनीति के खिलाफ स्वराज्य क ामंत्र फूका। स्वराज्य प्राप्त के लिए तिलक तथा उनके उग्रवादी साथियों ने मुख्यतः इन बातों पर जोर दिया – 1. स्वदशी 2. बहिष्कार 3. राष्ट्रीय शिक्षा 4. निष्क्रिय प्रतिरोध।

तिलक के उग्र राजनीतिक विचारो के कारण उनके विरोधियों एवं उनके राजदर्शन के विदेशी व्याख्याताओं ने उन पर क्रान्तिकारी व हिंसावादी होने का आरोप लगाया है। उन्हें भारतीय अशन्ति का जनक तक कहा गया। वास्तव में ऐसे सारे आरोप उनके राजनीतिक चिन्तन और कार्य कलापों की गलत व्याख्याओं के कारण है। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रुप में वो यह भलि–भांति जानते थे कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में हिंसात्मक व क्रान्तिकारी साधनो के प्रयोग से सरकारो के हाथो का खिलौना बन जायेगे। चूंकि तिलक महात्मा गॉधी के समान अहिंसावादी नहीं थे किन्तु वो यह जानते थे कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए एक साधन के रुप में हिंसा को सर्वथा व्याप्त नहीं माना जा सकता है।

1.3.6 महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी पैगम्बर भी थे और राजनीतिज्ञ भी। उन्होंने राजनीति को धर्म से कभी अलग नहीं माना और सत्य, अहिंसा तथा सत्याग्रह के साधनों से भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का संचालन किया

1. **अहिंसा की अवधारणा** – महात्मा गाँधी के तीन अमोघ अस्त्र थे – सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह। इनका प्रयोग उन्होंने देश को शांतिमय तरीके से स्वराज्य तक पहुंचाने में किया। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कोई भी क्षेत्र इन साधनों के स्पर्श से बच न सका। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा सर्वोच्च नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक है। अहिंसा के तीन रुप हो सकते है– जाग्रत अहिंसा, औचित्य अहिंसा तथा कायरो की अहिंसा। महात्मा गाँधी के अनुसार अहिंसा केवल एक दर्शन नहीं है बल्कि कार्य करने की एक पद्धति है, हृदय परिवर्तन का साध है। उन्होंने इसे व्यक्तिगत आचरण तक ही सीमित न रखकर मानव–जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में लागु किया।

2. **सत्याग्रह की अवधारणा** – सत्याग्रह दर्शन सत्य के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। सत्याग्रह केवल अहिंसक प्रतिरोध के विभिन्न उपायों असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, धरनों आदि तक ही सीमित नहीं है सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोध से कहीं अधिक व्यापक है। सब प्रकार के अन्याय, उत्पीडन ओर शोषण के विरुद्ध आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। गाँधीजी ने इसे प्रेम–शक्ति या आत्मिक–शक्ति भी कहा है। जहां कहीं भी अन्याय और असत्य का सामना करना पडे वही सत्याग्रह का प्रयोग कर सकता है। सत्याग्रह हर परिस्थिति में अहिंसात्मक होता है। इसमें शुद्धतम आत्म–बल का ही प्रयोग किया जाता है। गाँधीजी मानते थे कि सत्याग्रह एक मात्र अस्त्र है जिसमें बुराई और अन्याय का प्रतिरोध सम्भव है। सत्याग्रह का उद्देश्य है– विरोध का अन्त करना, न कि विरोधी का।

3. **राजनीति का आध्यात्मीकरण** – महात्मा गॉधी ने राजनीति और धर्म के बींच अटूट सम्बन्ध की स्थापना की। राजनीति देश धर्म है जिससे अलग होकर व्यक्ति आत्मघात करता है पर हमें इस देश धर्म को दूषित नहीं करना चाहिए। राजनीति को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता अथवा धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने घोषणा की – मेरे लिए धर्मविहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। ऐसी राजनीति सर्वथा त्याज्य है। गाँधीजी की दृष्टि में राजनीति धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी।

4. **साधन तथा साध्य की अवधारणा** – गाँधीजी ने साध्य को जितना महत्व दिया उतना ही साधन को भी। गॉधी दर्शन में इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। साध्य का ऊंचा होना ही काफी नहीं है। साधन की उच्चता एवं नैतिकता भी आवश्यक है और सच पूछा जाए तो साधन अधिक महत्पूर्ण है, क्योकि जा मनुष्य कर्म करता है उस कर्म का फल मनुष्य के हाथ में नहीं होता लेकिन कर्म जरुर हाथ में होता है, इसलिए जो हाथ में होता है वह ज्यादा महत्वपूर्ण है। साधनों की पवित्रता का यह विचार राजनीति को गाँधीजी की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

5. **स्वराज्य की अवधारणा** – गाँधीजी दार्शनिक अराजकतावादी थे। वे राज्य को एक आवश्यक दुर्गुण मानते थे जो मानव जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। गाँधीजी का तक्र था कि प्रत्येक राज्य में सरकार सजा का भ्य दिखाकर नागरिकों से कार्य कराती है और उन्हें कानून के अनुसार चलने पर बाध्य करती है ऐसा राज्य एक शोषण और दमन का भी राज्य

है जो पुलिस न्यायालय, सैनिक शक्ति के माध्यम से व्यक्तियों की इच्छा दमन करता है।

इसे बिडम्बना ही कहा जायेगा कि गाँधीजी ने हमें जो कुछ दिया उसे हम ठुकराते जा रहे है। आज की राजनीति निःस्वार्थ लोकसेवा और नैतिकता का कोई इम नहीं भरती। राजनीति मे सत्ता लोलुपता के अलावा किसी भी प्रकार की जनहितकारी व नैतिकता पूर्ण साधनों की शुचिता नहीं दिखाई देती है।

1.4 सारांश

यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतन के अन्तर्गत शासन के सिद्धान्तो और शासन की कला का बहुत अच्छा निरुपण किया गया है। इसमें नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के साथ–साथ कूटनीतिक मूल्यों की भी प्रधानता है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन को हिन्दूवादी राजनीतिक चिन्तन के रुप में भी देखा जा सकता है क्योकि उस पर हिन्दूवादी मूल्यों का प्रभाव था।

यह आश्चर्य की बात है कि कौटिल्य जैसा प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतक ने दण्डनीति या राजनीति को आधुनिक राजीतिक वैज्ञानिकों की भांति एक क्रया माना है किन्तु वह राजीति विज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान नहीं मानता। कौटिल्य राजनीति में मार्क्सवादियों की भांति अधिक तत्वों पर ज्यादा महत्व देता है। कौटिल्य ने अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था को एक ही सिक्के के दो पहलू माना है। तभी राजनीति व प्रशासन पर लिखी उसकी पुस्तक का नाम ''अर्थशास्त्र'' है। राजनीति का उद्देश्य आर्थिक व्यवस्था से सुव्यवस्था लाना है। राजनीतिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित व गतिशील बनाये रखना है।

भारत के राष्ट्रीय सवतंत्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में जिस राजनीतिक चिन्तन का उदय हुआ वह आधुनिक राजनीतिक चिन्तन कहलाता यह चिन्तन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के विनाश और राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध एक विद्रोह के रुप में आरम्भ हुआ था।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. राजनीतिक चिन्तन का इतिहास – प्रो0 जीवन मेहता – संजय साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन – सुषमा गर्ग – अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
3. श्राजनीति चिन्तन की रुपरेख – ओम प्रकाश गाबा।
4. भारतीय राजनीतिक चिन्तक – प्रो0 जीवन मेहता – संजय साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

1.6 बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न (उत्तर लगभग 400 शब्द)

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

2. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का उल्लेख कीजिए।

3. मनु के राज्य सिद्धान्त के विषय में आप क्या जानते है?

4. गाँधीजी की सत्याग्रह की अवधारणा का परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रष्न (उत्तर लगभग 50 शब्द)

1. प्राचीन भारत में राजा के कर्तव्य का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

2. राज्य का सप्तांग सिद्धान्त क्या है।

3. कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

4. राजा राममोहन राय के योगदान एवं मूल्यांकन का विवेचन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मानवजीवन के कितने साध्य माने गये है।

   (क) चार (ख) छः

   (ग) पाँच (घ) सात

2. ब्राह्मसमाज की स्थापना किस सन् में की गयी।

   (क) 1828 ई0 में (ख) 1827 ई0 में

   (ग) 1826 ई0 में (घ) 1820 ई0 में

इकाई : 2

उपनिवेशवाद और राष्ट्रीय आंदोलन की धरोहर

इकाई की रुपरेखा

2.0 उदेश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 औपनिवेशिक विरासत

2.3 राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत

- 2.3.1 राजनीतिक विरासत
- 2.3.2 आर्थिक विरासत
- 2.3.3 राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया
- 2.3.4 विदेश नीति

2.4 सारांश

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.6 शब्दावली

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित उपनिवेशवाद की विरासत का अध्ययन इस इकाई में किया गया है। इसी के साथ हम इस इकाई में साम्राज्य विरोधी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत का भी अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भारत में उपनिवेशवादी शासन के आर्थिक एवं राजनीतिक परिणामों की व्याख्या कर सकेंगे।
- राष्ट्रीय आंदोलन के समय के उन राजनीतिक और आर्थिक पक्ष का अध्ययन करेंगे, जिनका प्रभाव स्वतंत्र भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ा।
- राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिका पर चर्चा कर सकेंगे।
- स्वतंत्र भारत की विदेश नीति पर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव को जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत में अंग्रेजों का शासन लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। स्वतंत्रता के बाद भी भारत में औपनिवेशिक शासन का प्रभाव देखने को मिलता है। स्वतंत्र भारत की राजनीतिक व्यवस्था का ढांचा उसके मूल्य तथा वह सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों जिनमें उनका जन्म हुआ अधिकतर उपनिवेशवाद और उसके विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत मानी जाती है। ''विरासत'' शब्द का अर्थ है वे भौतिक और सैद्धांतिक शक्तियाँ जो स्वतंत्र भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था उसके ढ़ाँचे, मूल्यों को प्रभावित करते है। वर्तमान समय मे भी हमारी शिक्षा व्यवस्था प्रशासनिक व्यवस्था इत्यादि पर हमारे इतिहास का प्रभाव स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है।

2.2 औपनिवेशिक विरासत

अंग्रेजी शासन एक विश्व शक्ति बनने का सपना देखता था। अपने इस सपने को साकार करने के लिए इंग्लैंड ने विश्व में कई उपनिवेश स्थापित किये। भारत लगभग दो सौ वर्षों तक इंग्लैंड का उपनिवेश रहा। इतने लम्बे शासन काल में ब्रिटिश शासन व्यवस्था ने भारत में कई महत्वपूर्ण बदलाव किये। ब्रिटिश शासन की यह औपनिवेशिक विरासत आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है।

अंग्रेज भारत में एक व्यापारी के रुप में आये। उन्होंने भारत को अपना उपनिवेश बनाया। अंग्रेजों से पहले भी कई विदशी शासक आये परन्तु उन्होंने भारत को अपनाया और इसकी संस्कृति में रच बस गये। अंग्रेजी शासन का स्वरुप प्रारम्भ से ही विदेशी रहा। उन्होंने भारत को एक उपनिवेश ही समझा जिसका प्रयोग वे अपने देश की समृद्धि के लिए ही करना चाहते है। आर्थिक क्षेत्र में उनके द्वारा उठाये गये कदमों की विरासत आज भी हमारे समक्ष चुनौती बन कर उभर रही है।

1813 के चार्टर अधिनियम के माध्यम से अंग्रेजों एक तरफा मुक्त व्यापार की नीति अपनाई जिससे ब्रिटेन में बने उत्पाद आसानी से भारतीय बाज़ारों में प्रवेश कर सकते थे। अंग्रेजों ने भारत में रेल यातायात को विकसित कर भारत के हर कोने तक अपने देश में निर्मत उत्पादों को पहुँचाना प्रारम्भ किया। 1820 के उपरांत यूरोपीय बाज़ार भारतीय उत्पादों के लिये लगभग बंद हो चुका था और इसी के साथ भारत में विऔद्योगीकरण का दौर आया। जहाँ बेहद सुनियोजित तरह से भारतीय उद्योगो का नाश किया गया। निर्यात न होने के कारण भारतीय उद्योग धीरे–धीरे समाप्त होने लगे। ब्रिटेन के मशीन द्वारा निर्मित उत्पादों की तुलना में भारतीय उत्पादों का मूल्य इतना था की वह घरेलू बाज़ार में भी अपनी जगह खोने लगा।

विऔद्योगीकरण भारत में उस समय आया जब ब्रिटेन औद्योगिक क्रांति के चरम पर था। इससे ग्रामीण हस्तशिल्प एवं शहरी उद्योग चौपट हो गया। जो कामगार एवं कारीगर इन उद्योगों से जुड़े हुए थे, वे कृषि मज़दूर बनने को विवश हो गये। इससे भूमि पर दबाव बढ़ने लगा।

कृषि के क्षेत्र में भी अपने हित के लिए ब्रिटिश शासकों ने जमींदारी, रैयतदारी, भू–राजस्व और पट्टे के व्यवस्था प्रारम्भ की। इस व्यवस्था ने निजी

संपत्ति पर आधारित नये कृषि सम्बन्धो को जन्म दिया। सरकार जमींदारों से भू–राजस्व वसूलती थी। जमींदार अपने क्षेत्रों के किसानों से लगान वसूलता था ये लगान इतना अधिक होने लगा कि बेगारी की प्रथा प्रारम्भ हो गई। स्थाई बन्दोबस्त तथा इस पूरी कृषि योजना में अन्ततः कृषक को ही हानि होती थी।

भारत, ब्रिटेन का उपनिवेश था। भारत में जब अंग्रेजो का शासन पूरी तरह से स्थापित हो गया तो उन्होने भारतीय कृषि को ब्रिटेन की आवश्यकता के अनुरुप ढ़ालने का प्रयास किया। कृषि का वाणिज्यीकरण प्रारंभ किया गया। इससे पहले भारत में कृषि एक जीवन शैली थी इसे वाणिज्य के रुप में कभी नहीं देखा गया। अंग्रेजो ने कृषि का वाणिज्यीकरण प्रारम्भ किया जिसका अर्थ है, उन्होनें कुछ ऐसी फसलों को उगाने का प्रोत्साहन दिया जिनका प्रयोग खाद्यान्न के रुप में नही किया जाना था, बल्कि अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर उद्योगों को ध्यान में रख कर किया जाना था ये एक कृत्रिम और थोपी गई प्रक्रिया थी। चााय, कॉफी, रबड़, नील, कपास जैसी फसलों को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। इन फसलों ने ज्वार, बाजरा, दलहन का स्थान ले लिया, जिससे भारत में खाद्यान्न की कमी होने लगी और भूखमरी और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजो ने भारत की कृषि व्यवस्था के आधुनिकीकरण के कोई प्रयास नहीं किये। जिससे कृषि में गतिहीनता आ गई और उसका अद्यपतन प्रारंभ हो गया।

अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियों का परिणाम था, भयंकर गरीबी, भुखमरी और अभाव आज भी भारत इन समस्याओं के लड़ने का प्रयास कर रहा है।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था भी ब्रिटिश उपनिवेशिक शासन की ही एक विरासत है। ब्रिटिश सरकार भारत में एक केंद्रीकृत सरकारी सेवा व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे जिसके लिये उन्होंने एक नई शिक्षा व्यवस्था विकसित की। अंग्रेजी भाषा को शिक्षा व्यवस्था का एक स्थाई तत्व माना गया। यह मानसिकता आज भी भारतीय समाज में दिखाई देती है। शिक्षा का व्यवसायीकरण प्रारम्भ हुआ। लार्ड मैकाले ने कहा था शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना है जो देखने में भारतीय परन्तु सोच, विचार और मूल्यों से अंग्रेज हो। पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था ने एक नये पढ़े लिखे मध्यम वर्ग को जन्म दिया। इस नये वर्ग ने ही आगे चल कर भारत को एक नई दिशा प्रदान की। अंग्रेजो द्वारा स्थापित इस शिक्षा व्यवस्था में एक ऐसें पढ़े–लिखे प्रभुद्ध वर्ग को तैयार किया जो साधारण जनता को हीन दृष्टि से देखता था। इस शिक्षा व्यवस्था ने शिक्षित वर्ग तथा साधारण के बीच एक खाई उत्पन्न कर दी। अंग्रेजी भाषा के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण क्षेत्रीय भाषायें पीछे छूट गई। शिक्षा व्यवस्था में क्षेत्रीय भाषाओं का कोई स्थान नही था। इस शिक्षा व्यवस्था में वैज्ञानिक एवं तकनीकि शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया जिसका प्रभाव स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दिखाई देने लगा।

भारत में प्रशासनिक एकता की स्थापना करने का श्रेय ब्रिटिश शासन को ही जाता है। पहली बार पूरे भारत में एक प्रशासन तंत्र स्थापित किया गया। इससे पहले भारत अनेकों देसी रियासतों के शासन तंत्र द्वारा संचालित था। अपने इस विशाल उपनिवेश को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए अंग्रेज सरकार ने भारतीय नौकरशाही विकसित की जिसे आई0सी0एस0 (I.C.S) कहा जाता था। ब्रिटिश सरकार नौकरशाही को अपने शासन तंत्र का स्टील Qzse (Steel Frame) मानते। जिस पर पूरा शासन टिका हुआ था। प्रशासनिक सेवा के अफसरों को समाज में विशिष्ट दर्जा प्राप्त था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नौकरशाही ने भारत में सराहनीय कार्य किया है। परन्तु इस बात की अनदेखी भी नहीं की जा सकती की

इस व्यवस्था की कुछ कमजोरियाँ भी रही है जैसे लालफीताशाही। स्वतंत्रता के पश्चात् नवनिर्मित भारतीय शासन प्रणाली में नौकरशाही के पूवर्त् स्थान प्रदान किया गया। वर्तमान समय में भी नौकरशाही को समाज में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अंग्रेजी उपनिवेशकाल की यह विरासत आज भी हमें दिखाई देती है। ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में ही विधि को संहिताबद्ध करने का कार्य किया गया। आज भी हम इसी व्यवस्था को अपनाते हैं। भारत की पुलिस व्यवस्था भी अंग्रेजो द्वारा प्रारम्भ की हुई थी। भारतीय पुलिस व्यवस्था 1861 में अधिनियम द्वारा स्थापित की गई थी। यह व्यवस्था आज भी लगभग उसी स्वरुप में कार्य कर रही है।

1858 के पश्चात् समय समय पर ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न सुधार अधिनियम पारित किये। जिनमें से उल्लेखनीय है भारत सरकार का 1909, 1919 तथा 1935 के अधिनियम। भारतीय जनता के लिये औपनिवेशिक सरकार ने कुछ संवैधानिक सुधारों को लागू किया। 1935 के अधिनियम ने प्रांतो में चुनी हुई सरकारो की स्थापना की। ये चुनाव सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार पर आधारित नहीं थे। इन चुनावों में कुछ आबादी के लगभग 15: लोगों को ही मताधिकार प्रदान किया गया था। इस सुधारो ने जनता को कोई विशेष अधिकार प्रदान नहीं किये और न ही किसी उत्तरदायी सरकार की स्थापना की। परन्तु इन सुधारों मे भारतीय जनता को संसदीय ढ़ांचे और उसकी कार्य प्रणाली को समझने में सहायता प्रदान की। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने इसी संसदीय प्रणाली को अपनाया।

बोध प्रष्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) उपनिवेश काल में किस प्रकार अंग्रेजो ने भारत के उद्योगों को नष्ट किया?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) भारत की शिक्षा व्यवस्था में अंग्रेजों ने किस भाषा को महत्व दिया?

(ख) अंग्रेज किसे स्टील फ्रेम मानते थे?

(ग) किस अधिनियम के तहत अंग्रेजो ने चुनी हुई सरकारो की स्थापना की?

2.3 राष्ट्रीय आंदोलन की धरोहर

औपनिवेशिक शासन ने भारत को प्रशासनिक एकता प्रदान की 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्माण के साथ भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की गणना विश्व इतिहास के बड़े जन आंदोलनों में की जाती है। इस आंदोलन के उद्देश्य, मूल्य और विचार किसी एक वर्ग विशेष तक सीमित नहीं थे। सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत राष्ट्रीय आंदोलन में स्थापित इन उद्देश्यों मूल्यों और विचारों के साथ आगे बढ़ा। राष्ट्रीय आंदोलन की यह विरासतें आज भी हमारे राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिलक्षित होती है।

2.3.1 राजनीतिक विरासत

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी के प्रवेश साथ अपनी प्रकृति बदली। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन में परिवर्तित किया। इस दौर में राजनीति के अर्थ में बदला आया। राजनीतिक को केवल कुछ लोगों के लिये नहीं, बल्कि, जनता की भागीदारी के लिये होती है, यह विचार क्रान्तिकारी विचार था। जो सदियों से उपेक्षित भारतीय जनता के लिये नया विचार था। महात्मा गांधी ने अपने सहयोगियों को संघर्ष का नया मूल मंत्र दिया–सत्याग्रह। गांधी ने सत्याग्रह को एक धारधार हथियार के रुप में प्रयोग किया। सत्याग्रह संघर्ष का वह उपाय था जहाँ जनता की सक्रिय भूमिका की आवश्यकता थी। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में जनता की इस सक्रिय भूमिका का ही परिणाम था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार को लागू करने में कोई समस्या नहीं हुई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता अधिवेषन को अध्यक्षता करते हुये दादाभाई नौरोजी ने स्वशासन को कांग्रेस का उद्देश्य घोषित किया। इसके पश्चात् भारत में प्रतिनिधि शासन की मांग और तेज होने लगी। समय के साथ भारतीय जनता की लोकतांत्रिक स्वायत शासन की मांग भी और बढ़ने लगी। तिलक में स्वराज को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार बताया। 1929 के लाहौर अधिवेशन में पहली बार पूर्ण स्वराज की मांग की गई। पूरे राष्ट्रीय आंदोलन में उदारवादी, अतिवादी तथा गांधीवादी राष्ट्रीय उद्देश्यों की परिभाषा अलग–अलग रही लेकिन उनका उद्देश्य एक ही था उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने प्रारम्भ से ही लोकतांत्रिक विचारों, संस्थाओ और संस्कृति को अपनाया और इन्हें आम जनता के बीच लोकप्रिय बनाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही विचार विमर्श और मतदान को अपनी कार्यशैली बनाया। कांग्रेस प्रत्येक स्तर पर किसी भी निर्णय निर्माण के लिये विचार विमर्श को स्थान प्रदान करती थी। उसका प्रत्येक प्रस्ताव और नीति लम्बे वैचारिक मंथन का परिणाम हुआ करती थी। प्रत्येक आंदोलन को प्रारम्भ करने से पूर्व मतदान के माध्यम से कांग्रेसियों की राय मांगी जाती थी। कांग्रेस की इस संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता था। द्वितीय विश्व युद्ध में अंग्रेजों के साथ सहयोग करने के महात्मा गांधी के प्रस्ताव को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया था। यही कारण था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कांग्रेस लोकतांत्रिक संस्कृति से भलिभाँति परिचित हो चकी थी। इस लोकतांत्रिक संस्कृति के कारण स्वतंत्रता के पश्चात् भारतवासियों को लोकतंत्र अपनाने में कठिनाई नहीं हुई।

लोकप्रिय संभुता प्रतिनिधित्व सरकार और नागरिक स्वतंत्रता जैसे विचार भारतीय राजनीतिक जैसे विचार भारतीय राजनीतिक विचारधारा का भाग नहीं रहे है। ये विचार शुद्ध रुप से औपनिवेशिक शासन का परिणाम थे।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में नागरिक अधिकारों की मांग कर जोर दिया गया था। प्रारम्भ से ही राजनैतिक रुप से सजग भारतीय नागरिक स्वतंत्रता के आधार अभिव्यक्ति प्रेस, चितंन और संगठन की स्वतंत्रता जैसे अधिकारों से की मांग करते रहे। राष्ट्रीय आंदोलन के कई नेता नागरिक स्वतंत्रताओं के प्रति समर्पित थे। इसमें बाल गंगाधर लितक का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने एक संबोधन में कहा था कि 'प्रेस और भाषा की स्वतंत्रता एक राष्ट्र को जन्म देती है और उसका पोषण करती है। महात्मा गांधी ने भी इस नागरिक अधिकारों को व्यक्ति के लिये महत्वपूर्ण बताया 1931 के कांग्रेस के कराची अधिवेषण में मौलिक अधिकरों पर एक प्रस्ताव पारित हुआ। इन मौलिक अधिकारों में भाषा तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया।

धर्म निरपेक्षता भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे बड़ी विरासत है। धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ एक ऐसे राज्य है जो धर्म से पृथक तथा धर्म के प्रति निष्ठावान न हो। धर्म को व्यक्ति का निजी मामला माना जाता है। वर्ष 1931 के कांग्रेस के कराची अधिवेषण में एक प्रस्ताव पारित किया गया प्रत्येक व्यक्ति को अंर्तात्मा की स्वतंत्रता तथा किसी भी धर्म को मानने और अपनाने की स्वतंत्रता देने की बात कही गई। इस प्रस्ताव में महात्मा गांधी की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। महात्मा गांधी ने धर्म और राजनीति के सम्बन्धों की अलग व्याख्या की। उन्होंने धर्म को नैतिकता का स्त्रोत माना और राजनीति को नैतिकता पर आधारित होना चाहिये ऐसी बात कही।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कब हुई थी?

(ख) 1906 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेषण की अध्यक्षता किसने की?

(ग) पूर्ण स्वराज की माँग कांग्रेस के किस अधिवेषण में की गई?

3) स्वतंत्र भारत को धर्मनिरपेक्षता की विरासत किस प्रकार प्राप्त हुई?

.....

.....

2.3.2 आर्थिक विरासत

उपनिवेशवाद अर्थव्यस्था से ही प्रारम्भ होता है। आर्थिक शोषण इस व्यवस्था की एक पहचान थी। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने अंग्रेजों की आर्थिक उपनिवेशवाद की कड़ी आलोचना प्रारम्भ की। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उपनिवेशवाद की इस आलोचना ने कई चिंतको को भारत की आर्थिक दुर्दशा पर विश्लेषण करने को विवश कर दिया। उन्होंने भारत को उसके आर्थिक पिछड़ेपन से बाहर निकालने की कई योजनायें बनाई जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के आर्थिक चिंतन का आधार बनी। इस प्रभाव को हम राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत कह सकते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं ने अंग्रेजों की आर्थिक नीति का विश्लेषण प्रारम्भ किया। उनमें तीन नाम प्रमुख है– दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे और रोमेश चन्द्र दत्त।

दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक ''पावर्टी एण्ड अन–ब्रिटिश रुल इन इण्डिया'' में 'धन निकासी का सिद्धान्त' दिया। अपने इस सिद्धान्त में उन्होंने बताया कि किस प्रकार भारत का धन और उसकी समृद्धि इंग्लैण्ड जा रही थी। इससे पूर्व भी भारत में विदेशियों का शासन रहा है परन्तु वे जो भी कर वसूलते थे वह भारत में हो रहता था। अंग्रेजों द्वारा लगाया गया कर, तथा अपने अधिकारियों को दिये जाने वाले वेतन से भारत का धन विदेश जा रहा था और यदि भारत की दरिद्रता का सबसे बड़ा कारण था। प्रख्यात आर्थिक इतिहासकार रोमेश चन्द्र दत्त ने भी अपने विभिन्न लेखों और पुस्तकों में भारत की गरीबी और अकाल का कारण अंग्रेजी शासन को बनाया। इस कड़ी में एक और महत्वपूर्ण नाम महादेव गोविन्द रानाडे का है। रानाडे ने न केवल अंग्रेजी नीतियों की आलोचना की बल्कि भारत की अर्थव्यवस्था कैसी होनी चाहिये इस पर भी प्रकाश डाला उन्होंने भारत के विकास के लिये उद्योग और कृषि, क्षेत्रों के ही संतुलित विकास को महत्वपूर्ण बताया। रानाडे ने आर्थिक राष्ट्रवाद की वकालत की। उनका मानना था कि भारत जैसे देश भी इंग्लैण्ड की भांति औद्योगिक शक्ति बनने की क्षमता रखते हैं। भारत कच्चे माल का एक बड़ा स्त्रोत था यदि यहाँ उद्योगों की स्थापना की गई तो यह भी एक बड़ी औद्योगिक शक्ति बन सकता है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन जैसे–जैसे अपने चरम की ओर बढ़ा भारत के लिये एक आत्म निर्भर अर्थव्यवस्था का विचार लोकप्रिय होने लगा। राष्ट्रीय आंदोलन के आरम्भ से ही आर्थिक विकास को कृषि के आधुनिकीकरण और औद्योगिकरण से जोड़ कर देखा गया। कृषि और उद्योग को एक दूसरे का पूरक माना गया। औद्योगिक विकास को ग्रामीण विकास के लिये आवश्यक माना गया। ये माना जाना लगा यदि उद्योगों का विकास होता है तो कृषि पर निर्भरता कम होगी और लोगों को रोजगार के नये साधन उपलब्ध होंगे। राष्ट्रीय आंदोलन के इस दौर में भारी उद्योगों को भारत के लिये महत्वपूर्ण बताया गया। भूमि सुधार भी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख उद्देश्यों में से था। जमींदारी व्यवस्था को समाप्त कर बड़े क्रान्तिकारी बदलाव लाने के लिये योजनायें बनाई गई। एक प्रकार से यह स्वतंत्रता के पश्चात् की मार्गदर्शिका के रुप में देखी जा सकती है।

राष्ट्रीय आंदोलन का एक और पहलू है, जिसने स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास पर असर डाला। नौरोजी और रानाडे के समय से ही राष्ट्रीय नेताओं ने स्वतंत्र और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था ने निर्माण में राज्य की भूमिका को महत्वपूर्ण माना। भारत में औद्योगिकरण से लेकर भूमि सुधारों तक राज्य की भूमिका को आवश्यक माना गया। वर्ष 1931 कांग्रेस के करांची अधिवेषण में आर्थिक कार्यक्रम को अपनाया गया। इसमें कहा गया की प्रमुख उद्योग सेवायें रेल यातायात जहाजरानी और परिवहन जैसे महत्व राज्य नियंत्रण में रहेंगे। 1938 में आर्थिक नियोजन को बढ़ावा देने के लिये कांग्रेस ने राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान कुछ और योजनायें तैयार की गई। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण योजना बम्बई योजना थी जोकि टाटा, बिरला जैसे प्रमुख भारतीय उद्योगपतियों द्वारा तैयार की गई थी। यह बात उल्लेखनीय है कि स्वतंत्र भारत की आर्थिक नीति राष्ट्रीय आंदोलन के इसी दौर में बम्बई गई योनजाओं पर आधारित थी।

राष्ट्रीय आंदोलन के इस आर्थिक चिंतन को सबसे बड़ी आर्थिक विरासत माना जा सकता है।

2.3.3 राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया

ब्रिटिश प्रशासक भारत को एक राष्ट्र नहीं मानने थे। उनका मानना था की भारत छोटे–छोटे कई राज्यों से बना केवल एक भौगोलिक आकार कई प्रकार की जातियों और विश्वासों का समूह में विभाजित है। परन्तु भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के नेता इस बात से सहमत नहीं थे। वे मानते थे कि भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख उद्देश्य था, इस प्रक्रिया तीव्रता प्रदान करना। इस दौर में भारत को एक राष्ट्र के रुप में संगठित करने और जनता को एक सूत्र में बांधने का कार्य प्रारम्भ किया गया उस समय के नेतृत्व ने भारत को एक राष्ट्र बनाने में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की भूमिका को स्वीकार किया। ब्रिटिश शासन ने भले ही भारत को राजनीतिक रुप तोड़ने का प्रयास किया हो परन्तु उन्होंने भारत में प्रशासनिक एकता की स्थापना कि जिसका सीधा परिणाम था राष्ट्रीय चेतना का विकास।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना वर्ष 1885 में हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उस समय का कोई प्रान्तीय राजनीतिक संगठन नहीं था। ये एक ऐसा संगठन था जिसका स्वरुप अखिल भारतीय था। कांग्रेस के उद्देश्य थे– एक लोकतंत्रिक–राष्ट्रीय आंदोलन की स्थापना करना लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना तथा आंदोलन के लिये एक केन्द्र की स्थापना करना। यह उद्देश्य स्पष्ट करते है कि प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के लिये प्रतिबद्ध थी। कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेषण में ऐसी मांगे उठाई गई जिनका सरोकार भूरे भारत से था। कांग्रेस के सदस्य और सबसे बड़ी बात कांग्रेस का नेतृत्व समूचे भारत का प्रतिनिधित्व करता था न कि किसी क्षेत्र विशेष और भाषा विशेष लोगों का कांग्रेस में प्रारम्भ से भारत की एकता और अखण्डता को सर्वोपरि माना। कांग्रेस की इन्हीं विशेषताओं के कारण यह संगठन राष्ट्रीय आंदोलन का परयाय बन गया।

भारत विभिन्नताओं का देश है। यहाँ अनेक प्रकार की भाषायें, संस्कृतियाँ, जातियाँ और धर्म पाये जाते। ब्रिटिश शासन इन विभिन्नताओं के आधार पर भारत को खण्ड–खण्ड करना चाहते थे। परन्तु भारत के राष्ट्रवादी नेताओं में भारत की विभिन्नता को राष्ट्रीय एकता के लिये रोज़ नहीं माना गया। बल्कि उसे उसकी शक्ति के रुप में देखा यदि कारण है कि इतनी विभिन्नताओं को बाद भी राष्ट्रीय

आंदोलन की तीव्रता की इस विरासत ने स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारत को एक सूत्र में बांध कर रखा।

2.3.4 विदेश नीति

भारत की विदेश नीति पर राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव देखा जा सकता है। मैं भारत के राष्ट्रवादी विचारकों को समय के साथ ये समझ में आने लगा की उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का स्वरुप अंतर्राष्ट्रीय है। जैसे–जैसे राष्ट्रवादी विचार और सोच विकसित होने लगे भारत राष्ट्रीय आंदोलन में साम्राज्यवादी विरोधी, राष्ट्रवाद पर आधारित एक विदेश नीति विकसित होने लगी।

प्रथम विश्व युद्ध यूरोप में लोकतंत्र के राष्ट्रवादियों ने नाम पर लड़ा जा रहा था। भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने इस आशा में ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया कि जिन सिद्धान्तों के लिये वह यह विश्व युद्ध लड़ रहे है वह सिद्धान्त भारत में भी लागू किये जायेंगे। यह समाप्ति के पश्चात् अंग्रेजों की मंशा साथ दिखाई देने लगी। यही कारण 1920 के दशक में ही कांग्रेस ने एक व्यापक विदेश नीति को अपनाया। इसी समय कांग्रेस के कई नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को एक पहचान दिलाई। 1927 में नेहरु ने बरीलस में आयोजित Congress of Oppresed Nationalities का प्रतिनिधित्व किया। ये सम्मलेन एशिया, अमिका और लेटिन अमेरिका के देशों का था जो आर्थिक और राजनीतिक शोषण का शिकार थे। सन् 1930 के दशक में फासीवाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक बड़ी चुनौती के रुप में देखा। वर्ष 1939 में कांग्रेस ने अपने त्रिपुरी अधिवेषण में अंग्रेजो के फासीवाद समर्थन की नीति की आलोचना की।

राष्ट्रीय आंदोलन की यही विरासत थी कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत तीसरी दुनिया के अग्रणी नेता के रुप में देखा जाने लगा। अपने स्वतंत्रता विदेश नीति का परिचय देते हुये भारत ने गुट निरपेक्ष आंदोलन को प्रारम्भ किया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) अर्थव्यवस्था पर महादेव गोविंद रानाडे के क्या विचार थे?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) ''पावर्टी एण्ड उन ब्रिटिश रुल इन इण्डिया'' किसने लिखी है?

(ख) कांग्रेस ने राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किस वर्ष किया?

(ग) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किस अधिवेषण में अंग्रेजो के फासीवाद समर्थन की नीति की आलोचना की?

3) भारतीय विदेश नीति पर राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव किस प्रकार देखा जा सकता हैं?

.....

.....

.....

.....

4) राष्ट्र निर्माण में राष्ट्रीय आंदोलन की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

2.4 सारांश

भारत लगभग दो सौ वर्षों तक ब्रिटेन का उपनिवेश रहा। भारतीय अर्थव्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, प्रशासन सभी पर औपनिवेशिक प्रभाव दिखाई देता है। औपनिवेशिक काल में जिा प्रकार भारत की आर्थिक दुर्दशा हुई उसका प्रभाव आज भी हमारे सामने है। अंग्रेजो ने भारत में प्रशासनिक एकता की स्थापना की जिसके कारण सम्पूर्ण भारत एक सूत्र में बंधा। राष्ट्रीय आंदोलन के समय भारत में नागरिक अधिकारों, भाषा एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसी मांगे उठाई गई। वर्तमान समय में अपनाई गई धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की परंपराए भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की ही देन है।

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सरकार, सुमित (2008) : मॉडर्न इंडिया, नई दिल्ली ओरिएंट लैंगमैन
2. चंद्रा, बिपन, मुखर्जी मृदुला एवं, मुखर्जी, आदित्य (2003) इंडिया आफटर इंडिपेनडेन्स (1947–2000) नई दिल्ली, पेंगुईन बुक्स

2.6 शब्दावली

विऔद्योगीकरण : उद्योगों को नष्ट करने की नीति

राष्ट्र निर्माण : राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना

विदेश नीति : किसी देश की दूसरे देशों के साथ अपनाई जाने वाली नीति

धर्म निरपेक्षता : राज्य द्वारा किसी भी धर्म के साथ भेद–भाव न करना।

2.7 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(1) देखे 2.2

(2) (क) अंग्रेजी (ख) नौकरशाही (ग) 1935

बोध प्रन 2

(1) देखे 2.3.1

(2) (क) 1885 (ख) दादा भाई नौरोजी (ग) 1929 कराची अधिवेषण

(3) देखें 2.3.1

बोध प्रश्न 3

(1) देखें 2.3.2

(2) (क) दादा भाई नौरोजी (ख) 1938 (ग) 1939 त्रिपुरी अधिवेषण

(3) देखें 2.3.4

(4) देखें 2.3.3

इकाई : 3

भारतीय संविधान का सामाजिक–आर्थिक आधार एवं दर्शन

इकाई की संरचना

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 प्रकृति

1.4 सारांश

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तके

1.6 बोध प्रश्न

1.1 उद्देश्य

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त ''हम भारत के लोग ..... नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय ..... स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता..... व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता..... इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान का स्रोत भारत की जनता है जिसका मुख्य उद्देश्य है समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की स्थापना करना तथा प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता उपलब्ध कराना। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारतीय संविधान के सामाजिक–आर्थिक आधार, और दर्शन को भी निश्चित करने का प्रयास किया। संविधान–निर्माताओं का उद्देश्य भारत के लिए सिर्फ एक राजनीतिक दस्तावेज ही तैयार नहीं करना था, बल्कि एक सामाजिक और आर्थिक दस्तावेज के रुप में भी इसे उपस्थित करना था। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, ''संविधान–निर्माताओं का ध्येय यह है कि गरीबी और आश्रयहीनता को दूर किया जाए ..... भेदभाव और शोषण का अंत किया जाए तथा जीवन की उत्तम दशाओं की गारंटी दी जाए।'' पं0 जवाहरलाल नेहरु के शब्दों में, हमारी पीढ़ी के सबसे महान पुरुष की यही आकांक्षा रही हैं कि प्रत्येक आँख के आंसू पोंछ दिए जाएँ। यह काम हमारे काबू के बाहर हो सकता है, किन्तु हमें इसी दिशा में आगे बढ़ना है।'' के0 संथानम ने भी अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है,''भारत के लिए शीघ्र विकास या हिंसात्मक क्रांति के बीच चुनाव करना है, क्योंकि भारत के लोग अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक समय तक न तो प्रतीक्षा कर सकते हैं और न करेंगे।'' हमारे संविधान–निर्माताओं ने शीघ्र विकास का ही विकल्प पसंद किया और भारतीयों के लिए अनेक सामाजिक एवं आर्थिक आधार को निश्रित कर शांतिपूर्ण क्रांति में अपना विश्वास प्रकट किया इस इकाई में भारतीय संविधान के सामाजिक, आर्थिक आधार एवं दर्शन पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे और निम्न बातों को जान सकेंगे :–

- भारतीय संविधान का सामाजिक आधार एवं दर्शन की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारतीय संविधान एवं उसके आर्थिक आधारों की समीक्षा कर सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

भारतीय संवधिान के निर्माता भारत में साविधानिक व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक क्रांति लाना चाहते थे। अतः, संविधान के अनेक प्रावधानों द्वारा इस दिशा में कदम उठाने का प्रयास किया गया हैं। इसी आधार पर भारतीय संविधान को 'सामाजिक न्याय का चार्टर' (Charter of Social Justice) कहा जाता है। ऑस्टिन के शब्दों में, ''भारतीय संविधान सर्वप्रथम और प्रमुख रुप से एक सामाजिक प्रलेख है। इसके अधिकांश प्रावधान या तो प्रत्यक्ष रुप से सामाजिक क्रांति की दिशा में आगे बढ़ाते हैं अथवा आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा कर इस क्रांति के विकास को संभव बनाते हैं।'' पं0 जवाहरलाल नेहरु ने भारतीय संविधान के 'उदेश्य–प्रस्ताव' उपस्थित करते समय संविधान के सामाजिक आधार एवं दर्शन को स्पष्ट कर दिया था। 'उदेश्य–प्रस्ताव' में कहा गया है कि भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्यायः पद, अवसर एवं कानूनों, की समताः विचार, भाषण, अभिव्यक्ति, विश्रास, व्यवसाय, संध–निर्माण और कार्य की स्वतंत्रता कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन प्राप्त होगी। उदेश्य–प्रस्ताव के साथ–साथ भारतीय संविधान की प्रस्तावना भी नागरिकों को सामाजिक न्याय तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान करती है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म, जाति, लिंग, संपत्ति तथा इसी प्रकार के अन्य किसी आधार पर नागरिकों के बीच भेदभाव नहीं किया जाएगा। बिना किसी भेदभाव के लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकतम अवसर दिए जाएँगे।

'उदेश्य–प्रस्ताव' तथा 'प्रस्तावना' में वर्णित सामाजिक आधार एवं दर्शन के अतिरिक्त मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति–निर्देशक तत्त्वों के अंतर्गत भी सामाजिक आधार और दर्शन के संकेत मिलते हैं। मौलिक अधिकारों के अंतर्गत सामाजिक दर्शन, के आधार पर उसे न्यायिक मान्यता प्रदान की गई हैं। मौलिक अधिकारों के अंतर्गत सामाजिक आधार और दर्शन का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है–

(1) अनुच्छेद 14 में सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समानता और कानून के समान संरक्षण की व्यवस्था की गई हैं।

(2) अनुच्छेद 15 द्वारा नागरिकों के बीच धर्म, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर भेदभाव का निषेध किया गया है। इसमें कहा गया है कि सार्वजनिक स्थानों के उपभोग के लिए नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान में सष्ट कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक को केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर दुकान, सार्वजनिक भोजनालय, होटल, सिनेमागृह इत्यादि में जाने तथा सरकार की ओर से निर्मित सार्वजनिक कुओं, तालाबों, सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग करने से नहीं रोक सकता।

(3) संविधान के अनुच्छेद 16 द्वारा नागरिकों को अवसर की समता का अधिकार प्रदान किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि सिर्फ धर्म, जाति, वर्ण, मूल या वंश के आधार पर राज्य के अधीन किसी रोजगार, नियुक्ति या किसी पदोत्रति के लिए नागरिकों के बीच भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया जा सकता।

(4) संविधान के 17वें अनुच्छेद के अनुसार अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है और बताया गया है कि किसी भी रुप में अस्पृश्यता का आचरण निषिद्ध तथा दंडनीय हैं।

(5) अनुच्छेद 18 के अनुसार राज्य की ओर से सेना तथा शिक्षा से संबद्ध उपाधियों को छोड़कर अन्य सभी उपाधियाँ हटा दी गई हैं। संविधान में स्पष्ट कहा गया है कि भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि ग्रहण नहीं करेगा। राज्य के अधीन किसी लाभ या विश्वास के पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी राज्य से राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना कोई भेंट, उपलब्धि या पद स्वीकार नहीं करेगा।

अनुच्छेद 18 के प्रसंग में इस बात का उल्लेख कर देना ठीक रहेगा कि ' भारतरत्न''पद्यम्श्री आदि राजकीय अलंकारों को उपाधियाँ नहीं माना गया हैं। विश्विद्यालय को भी मानक उपाधि (Honorary Degree) देने पर रोक नहीं है। 1977 में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनने पर 'भारतरत्न जैसी उपाधियों और नाम के साथ इनके प्रयोग को कानून बनाकर वर्जित कर दिया गया था। परन्तु 1980 में पुनः (कॉग्रेस इ0) की सरकार बनने पर इन उपाधियों पर से प्रतिबंध समाप्त कर दिया गया और इन्हें पुनः प्रदान किया जाने लगा।

(5) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक के अनुच्छेद नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के विभिन्न प्रकार की स्वंतत्रताएँ प्रदान करते हैं।

(6) संविधान के अनुच्छेंद 23 और 24 में शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान कर सामाजिक न्याय स्थापित किया गया हैं। अनुच्छेद 23 के अनुसार मनुष्य का क्रय–विक्रय, बेगार तथा इस प्रकार के अन्य बलपूर्वक श्रम वर्जित है। अनुच्छेद 24 के अनुसार 14 वर्ष से कम आयुवाले बालकों तथा बालिकाओं को किसी कारखाने, खान या अन्य किसी प्रकार के खतरनाक काम में नहीं लगाया जा सकता हैं।

(7) अनुच्छेद 25 से 28 तक नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार, भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई हैं।

(8) संविधान के 29 वें और 30 वें अनुच्छेद में संस्कृति एवं शिक्षा से संबंद्ध अधिकारों का उल्लेख हैं, जिनका उदेश्य अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों की भाषा एवं संस्कृति की रक्षा करना है।

(9) राज्य के नीति–निर्देशक तत्त्वों के अंतर्गत भी संविधान के आर्थिक आधारों एवं दर्शन के साथ–साथ सामाजिक आधार एवं दर्शन के भी संकेत मिलते हैं। संविधान के अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि ''राज्य अधिक–से–अधिक प्रभावपूर्ण रुप में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था तथा सुरक्षा द्वारा, जिसमें आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक न्याय की प्राप्ति हो, जनता के हित के विकास का प्रयत्न करेगा और राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक संस्था को इस संबंध में सूचित करेगा।'' अनुच्छेद 44 से 47 तक में विभिन्न सामाजिक आधारों का उल्लेख किया गया हैं। इनका विवरण इस प्रकार हैं–

(क) राज्य समस्त देश के नागरिकों के लिए एक आचार–संहिता बनाने का प्रयत्न करेगा, ताकि समस्त देश में एक ही वैयक्तिक कानून हो।

(ख) राज्य संविधान आरंभ होने से दस वर्षों के अन्तर्गत 14 वर्ष की उम्र तक के बालकों और बालिकाओं के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

(ग) राज्य जनता के दुर्बलतम वर्गों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थ–संबंधी हितों की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा तथा सामाजिक न्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उन्हें बचाएगा।

(घ) राज्य लोगों के जीवन–स्तर के उन्नयन और स्वास्थ्य–सुधार के लिए प्रयत्न करेगा। इसी उदेश्य की पूर्ति के लिए औषधि में प्रयोग किए जाने के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए हानिकारक मादक द्रव्यों तथा अन्य मादक पदार्थो के सेवन पर प्रतिबंध लगाएगा।

स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारत में एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयास किया है, जिसका उदेश्य निःस्वार्थ रुप से सभी लोगों का कल्याण करना है। इसे ही भारतीय संविधान का सामाजिक आधार और दर्शन माना जाता हैं। संविधान के अनुसार नागरिकों के बीच धर्म, जाति, वंश, जन्मस्थान, लिंग, भाषा, संपत्ति, वर्ण आदि के आधार पर किसी प्रकार को भेदभाव नहीं किया जाएगा। समाज के एसे वर्ग, जिन्हें बहुत दिनों तक सताकर रखा जा चुका हैं, के लिए विशेष व्यवस्था की गई है, जिससे समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष वे आ सकें। इस प्रकार, सामाजिक न्याय की स्थापना की गई हैं।

1.3 प्रकृति

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारतीय संविधान के आर्थिक आधार, और दर्शन को भी प्रस्तुत किया है। संविधान के उदेश्य–प्रस्ताव में ही सभी नागरिकों को आर्थिक न्याय दिलाने की बात कही गई थी। इस आधार एवं दर्शन की झलक संविधान की प्रस्तावना में भी मिलती है, जिसमें नागरिकों के लिए आर्थिक न्याय की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। आर्थिक न्याय का अर्थ होता है देश के आर्थिक साधनों का विकेन्द्रीकरण, जिससे सभी लोग लाभान्वित हो सकें। धन कुछ लोगों के हाथो में केंद्रित न होकर सार्वजनिक उपभोग की वस्तु बन सके, इसका ध्यान रखा गया है। नागरिकों को आर्थिक शोषण से रक्षा के लिए भी संविधान में अनेक प्रावधान किए है। 'समान काम के लिए समान वेतन' के सिद्धांत तथा नागरिकों को जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध कराने की बात भी संविधान में कही गई हैं। संविधान की प्रस्तावना में मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति–निर्देशक तत्त्वों के अंतर्गत संविधान के आर्थिक आधार और दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती हैं।

संविधान की प्रस्तावना में आर्थिक न्याय की स्थापना की बात कही गई है। और मौलिक अधिकारवाले अध्याय से अनुच्छेद 23 में कहा गया है कि मनुष्य का क्रय–विक्रय और बेगार–प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। इस प्रकार, नागरिकों को आर्थिक शोषण से रक्षा प्रदान की गई हैं। मौलिक अधिकारों के अंतर्गत ही नागरिकों को संपत्ति का अधिकार दिया गया था। संविधान के 44 वें संशोधन द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से हटा दिया गया है। अब यह एक वैधानिक अधिकार रह गया है। संविधान में एक नया अनुच्छेद 300 । जोड़ा गया है, जिसमें कहा गया है कि ''कोई भी व्यक्ति कानून की सत्ता के बिना संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता।'' लेकिन, भारतीय संविधान के आर्थिक आधार एवं

दर्शन का विस्तृत उल्लेख राज्य के नीति–निर्देशक तत्त्व के अंतर्गत किया गया है, जिसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(1) अनुच्छेद 39 में मुख्य आर्थिक अधिकारों का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि (क) राज्य के सभी नागरिकों को जीविका के साधन प्राप्त करने का समान अधिकार है, अर्थात राज्य का यह कर्तव्य है कि भुखमरी को बंद करने की चेष्टा करें। (ख) समाज की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो, कि समस्त समाज का कल्याण हो, देश की संपत्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित न हो, (ग) देश के धन–उत्पादन के साधनों का अहितकार केंन्द्रीकरण न होकर उनसे सर्वसाधारण का कल्याण हो, (घ) पुरुषों तथा स्त्रियों को समान कार्यों के लिए समान वेतन मिले, (ड) पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न हो।

(2) अनुछेद 41 में कहा गया है कि अपने आर्थिक सामर्थ्य तथा विकास की सीमाओं के अंतर्गत राज्य या व्यवस्था करे कि सभी व्यक्ति योग्यतानुसार रोजगार तथा शिक्षा प्राप्त कर सकें तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अंगहीनता की स्थिति में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

(3) अनुच्छेद 42 में कहा गया है कि राज्य ऐसी व्यवस्था करे, जिससे नागरिकों को मानवोचित रुप से कार्य करने का अवसर मिले तथा प्रसूति के समय नारियों को सहायता मिल सके।

(4) अनुच्छेद 43 के अनुसार कानून या आर्थिक संगठन द्वारा राज्य ऐसी परिस्थिति उत्पत्र करे, जिससे कृषि–उद्योगों तथ अन्य क्षेत्रों में श्रमिकों को कार्य तथा निर्वाह–योग्य मजदूरी मिल सके। उन्हें जीवन–स्तर को ऊँचा करने, अवकाशकाल का पूर्ण उपयोग करने और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास करने का सुअवसर प्राप्त हो। राज्य ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित कर ग्रामों की आर्थिक दशा में सुधार लाए।

(5) अनुच्छेद 48 में कहा गया है कि राज्य कृषि, पशुपालन आदि के क्षेत्रों में आधुनिक तथा वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग कर उनकी दशा में सुधार करे तथा दूध देनेवाल पशुओं की बध से रक्षा करे।

1.4 सारांश

स्पष्ट है कि उपरोक्त उपबंधों में भारतीय संविधान के आर्थिक आधार एवं दर्शन की झलक मिलती है। इस संबंध में तीन दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए है– गाँधीवादी, समाजवादी और उदार लोकतंत्रवादी। संविधान–सभा के अनेक सदस्य गाँधीजी के विचार से प्रभावित थे। और वे भारत के आर्थिक आधार को गाँधीजी के विचारों के अनुरुप बनाना चाहते थे। कुटीर–उद्योगों को विकसित करने तथा पंचायती प्रणाली को अपनाने के उपबंध पर गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव हैं। डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, एस0सी0 मजूमदार तथा रामनारायण राय जैसे संविधान–निर्माताओं ने गाँधीवाद के आधार पर ही आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करने पर जोर दिया। दूसरी ओर, अनेक समाजवादियों ने भारत में 'सामाजवादी राज्य' की स्थापना पर जोर देकर उसी के अनुरुप आर्थिक आधार को निश्चित करने का सुझाव दिया। ऐसे सदस्यों में के0टी0शाह0 का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। पं0 जवाहरलाल नेहरु ने भी भारत में समाजवादी आर्थिक ढाँचे पर जोर देते हुए कहा

था–''इन सभी का प्रथम कार्य एक नवीन संविधान के माध्यम से भारत को स्वंतत्रता प्रदान करना है, भूखे लोगों को भोजन तथा नंगे लोगों को वस्त्र देना हैं एवं प्रत्येक नागरिक को अपने योग्यतानुसार विकास करने का अधिकतम अवसर प्रदान करना हैं'' अपने प्रधानमंत्रित्वकाल में भी पं0 नेहरु ने भारत में 'समाजवादी ढाँचे का समाज' (Socialistic Pattern of Society) स्थापित करने पर जोर दिया। बाद में, प्रस्तावना में संविधान के 42 वें संशोधन के अनुसार भारत को एक समाजवदी राज्य घोषित कर दिया गया है। अनेक संविधान–निर्माताओं ने लोकतंत्रीय समाजवादी (Democratic Socialism) के सिद्धांत पर जोर दिया। संविधान–सभा में सरदार पटेल और के0एम0 मुंशी जैसे सदस्यों ने उदारवादी लोकतंत्र की विचारधारा को गले लगाते हुए उसी के अनुरुप आर्थिक ढाँचे को निश्चित करने पर जोर दिया।

संविधान–निर्माण के समय उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर ही संविधान के आर्थिक आधार और दर्शन को निश्चित किया गया। समय और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन भी किया गया। उदाहरण के लिए सरदार पटेल और के0एम0मुंशी ने उदारवादी लोकतंत्रवाद से प्रभावित होकर संपत्ति के अधिकार को नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सूची में ही रखना पसंद किया। बाद में, संविधान के 44 वें संशोधन–अधिनियम द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारो की सूचि से हटा दिया गया हैं। 42वें संशोधन–अधिनियम द्वारा भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित किया गया हैं। संविधान के अंतर्गत उठाए गए इन कदमों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय संविधान का आर्थिक आधार एवं दर्शन 'लोकतांत्रिक समाजवाद' (Democratic Socialism) है। भारतीय संविधान का उद्धेश्य भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है और इसे ही भारतीय संविधान का आर्थिक आधार और दर्शन कहा जा सकता हैं।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नारंग, ए0एस0, ''इण्डियन गॉवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स'', गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2000

ब्रास, पॉल0आर0, ''द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेंडेन्स'', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2001

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

कोठारी, रजनी, ''पॉलिटिक्स इन इण्डिया'', ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 1970

कोहली, अतुल, ''द स्टेट एण्ड पॉवर्टी इन इण्डिया– द पॉलिटिक्स ऑफ रिफार्म'', ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, 1987

1.6 बोध प्रश्न

1. संविधान के आधारभूत उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का संविधान के किस भाग में वर्णन किया गया है :

   (अ) प्रस्तावना में (ब) संविधान के भाग तीन में

   (स) संविधान के भाग चार में (द) संविधान के भाग आठ में

2. संविधान की 'उद्देशिका' किस उद्देश्य की पूर्ति करती है?

(अ) शासन की अन्तिम सत्ता का स्रोत (ब) संविधान का उद्देश्य

(स) संविधान के प्रवर्तन की तिथि (द) उपर्युक्त सभी उद्देश्यों की

3. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के अनुसार भारत की सर्वोच्च सत्ता किसमें निहित है?

(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री

(स) जनता (द) संसद

4. भारतीय संविधान के किस भाग को 'संविधान की आत्मा' की संज्ञा प्रदान की गई है :

(अ) न्यायिक पुर्नविलोकन (ब) मूल कर्त्तव्य

(स) नीति निदेशक तत्व (द) प्रस्तावना

ANSWERS#

1. A 2. D 3. C 4. D

इकाई 4

भारतीय संविधान का निर्माण

इकाई की रुप रेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत का संवैधानिक विकास

4.2.1 1858 से पूर्व संवैधानिक विकास

4.2.2 1858 से 1909 तक संवैधानिक विकास

4.2.3 1909 से 1935 तक संवैधानिक विकास

4.2.4 1935 से 1947 तक संवैधानिक विकास

4.3 1947 से 1950 तक संविधान निर्माण की प्रक्रिया

4.4 संविधान के स्रोत

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम भारत में संविधान के निर्माण के विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप

- कंपनी के शासन में भारत में संवैधानिक विकास को जान पायेंगे।
- आप बिटिश शासन में भारत में संवैधानिक विकास की प्रक्रिया को जानेंगे।
- 1947 से संविधान के लागू होने तक संविधान के निर्माण की प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- भारतीय संविधान के विभिन्न स्रोतों को समझ पायेंगे।

4.1 प्रस्तावना

किसी भी देश की शासन व्यवस्था के संचालन के लिए एक संविधान की आवश्यकता होती है। यह संविधान लिखित या अलिखित दोनों रुपों में हो सकता है जैसे ब्रिटेन का संविधान मुख्यतः अलिखित है, जबकि अमेरिका, भारत, कनाडा, आदि देशों के संविधान लिखित संविधान की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। लिखित

संविधान का निर्माण सामान्यतः इस कार्य के लिए गठित, एक समिति के द्वारा किया जाता है, जबकि अलिखित संविधान सामान्यतः परम्पराओं पर आधारित होते हैं। भारतीय संविधान का निर्माण इस कार्य के लिए गठित एक समिति के द्वारा किया गया, परन्तु भारत में संविधानिक विकास की प्रक्रिया कम्पनी के शासन काल से ही प्रारम्भ हो जाती है, जो विभिन्न चरणों से गुजरते हुये भारत के स्पतन्त्र होने तक गतिमान रहती है, जिसका भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा तथा भारतीय संविधान में कई ऐसे प्रावधान हैं जो इस विकास की प्रक्रिया से जुड़े हैं।

4.2. भारत का संवैधानिक विकास

जैसा कि हम जानते हैं कि भारत की संविधानिक व्यवस्था एक लम्बे विकास का परिणाम है जिसमें हमें वैदिक काल, मौर्य काल तथा ब्रिटिश शासन काल की झलक देखने को मिलती है –जैसे पंचायत व्यवस्था वैदिक काल, जिला प्रशासन की नींव मौर्य काल आदि व्यवस्थायें भारत में ब्रिटिश काल के पहले से ही विद्यमान थीं किन्तु भारत की वर्तमान शासन प्रणाली एवं संवैधानिक व्यवस्था पर ब्रिटिश शासन का सबसे ज्यादा प्रभाव देखने को मिलता है।

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व संवैधानिक विकास का अध्ययन मुख्यतः दो भागों में किया जा सकता है।

प्रथमतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में संवैधानिक विकास तथा द्वितीय ब्रिटिश शासन काल में भारत में संवैधानिक विकास, जिसे सुगमता से अध्ययन करने की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। इसका विवरण निम्नवत है–

4.2.1 1858 से पूर्व संवैधानिक विकास

भारत में सांविधानिक व्यवस्था की शुरुआत 1765 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल के दीवानी अधिकार प्राप्त होने से होती है। लार्ड क्लाइव ने बंगाल के नवाब शाह आलम द्वितीय से 1765 में दीवानी अधिकार प्राप्त किये, जिसके तहत अंग्रेजों को प्रथम बार भारत में भूमिकर इकट्ठा करने का अवसर प्राप्त हुआ। ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के ऊपर संसदीय नियंत्रण स्थापित करने के लिए 1773 में रेग्यूलेटिंग एक्ट के नाम से एक अधिनियम बनाया। इस अधिनियम का देश के संवैधानिक इतिहास में विशेष महत्व है, क्योंकि भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन पर ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण की शुरुआत इसी अधिनियम के साथ होती है। इस अधिनियम ने प्रथम बार भारत में कम्पनी के शासन के लिए एक लिखित अधिनियम प्रस्तुत किया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधानों के अन्तर्गत बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल बना दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने। गवर्नर जनरल की सहायता के लिये 04 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गयी तथा इस अधिनियम द्वारा फोर्ट विलियम में सर्वोच्च न्यायालय को व्यवस्था की गयी।

1784 में रेग्यूलेटिंग एक्ट के दोषों को दूर करने के लिए पिट्स इण्डिया अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा इंग्लैण्ड में कम्पनी के शासन प्रबन्ध के लिए दोहरी शासन प्रणाली की स्थापना की गयी छः सदस्यों वाले नियन्त्रण बोर्ड का गठन हुआ, जिसको भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में विस्तृत

अधिकार दिये गये तथा गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद की संख्या 4 से घटाकर 3 कर दी गयी।

इस अधिनियम की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने कम्पनी के राजनीतिक, प्रशासनिक एवं व्यापारिक कार्यों को दो पृथक भागों में विभक्त कर दिया था। 1784 के पिट्स इण्डिया एक्ट द्वारा कम्पनी के प्रशासन पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण होने के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के अधिकार क्षेत्र को उत्तरोत्तर सीमित करने के लिए 1784 से 1858 की अवधि में चार चार्टर एक्ट 1793, 1813, 1833 एवं 1853 में पारित किये। सभी अधिनियमों के बावजूद ब्रिटिश सरकार भारतीय मामलों के सम्बन्ध में अपना नियंत्रण स्थापित करने में असफल रही।

4.2.2. 1858 से 1909 तक का संवैधानिक विकास

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम भारत पर कम्पनी शासन की समाप्ति तथा ब्रिटिश शासन के रुप में सामने आया। ब्रिटिश संसद ने सत्ता हस्तान्तरण और भारत के श्रेष्ठतर शासन हेतु एक कानून, 1858 में पारित किया। जिसके तहत नवम्बर 1858 से ब्रिटेन के सम्राट ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया। इस अधिनियतम के तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और भारत का प्रशासन सम्राट के द्वारा उसके नाम से होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सभी समितियों को समाप्त कर उनके समस्त अधिकार ब्रिटिश सम्राट के प्रमुख मंत्री को सौंपे गये, जिसे भारत सचिव की संज्ञा दी गयी, जिसका खर्च भारतीय राजस्व से देना निश्चित हुआ। अधिनियम की व्यवस्था के अनुसार एक नवम्बर 1858 को भारत सरकार के परिवर्तन के सम्बन्ध में महारानी की घोषणा को इलाहाबाद में एकत्र हुए राजाओं और भारतीय जनता को पढ़कर सुनाया गया। इस घोषणा पत्र का भारत के सांविधानिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। 1919 तक यह घोषणा पत्र ब्रिटिश सरकार की भारत सम्बन्धी नीति का मूल आधार बना रहा। इसने भारत सरकार को भारत में शांति व्यवस्था स्थापित करने में महत्वपूर्ण सहायता दी तथा उन सिद्धान्तों को निश्चित किया जिनके अनुसार भारत का शासन प्रबन्ध होने को था। यद्यपि इसके कुछ प्रस्तावों को लागू नहीं किया जा सका, फिर भी एक लम्बे समय तक इस घोषणा पत्र को ब्रिटिश नीति का आदर्श माना जाता रहा।

1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण शासक और शासितों के बीच में कोई वास्तविक सम्पक्र न होना था। इस स्थिति को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने यह जरुरी समझा कि वह भारतीय प्रशासन में सुधार सम्बन्धी नीति का निर्धारण करे तथा ऐसे साधनों तथा उपायों पर विचार करे जिसके द्वारा देश के जनमत से सम्पक्र स्थापित किया जा सके। इसके लिए सर्व प्रथम 1861 ई0 के भारतीय परिषद अधिनियम के माध्यम से भारतीयों को शासन में जोड़ने की नीति अपनायी गयी। इस अधिनियम के द्वारा भारतीयों को विधायी कार्यों के लिए कार्यकारिणी परिषदों की सदस्यता प्रदान की गयी। इस अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में विकेन्द्रीकरण की पद्धति का प्रारम्भ हुआ तथा भारत को एक सुदृढ़ प्रशासकीय ढांचा प्रदान करने की चेष्टा की गयी। इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद का विस्तार कर एक पांचवां सदस्य सम्मिलित कर दिया गया, जिसका न्यायविद होना जरुरी था।

भारतीय परिषद अधिनियम 1892 भारत के संवैधानिक विकास की दिशा में द्वितीय महत्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है। इस अधिनियम के द्वारा 1861 के

अधिनियम में भारतीयों को प्रशासन के साथ जोडने की नीति को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों का विस्तार किया गया। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय परिषदों के कार्यों और उनकी शक्ति में भी वृद्धि की गयी। उन्हें वार्षिक वित्त विवरण पर वाद–विवाद का अधिकार मिला। परिषद के सदस्यों को सार्वजनिक महत्व के विषयों पर कार्यपालिका से एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत प्रश्न पूछने और प्रस्ताव पेश करने का अधिकार मिला। अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण व्यवस्था विधायी परिषदों में निर्वाचन तत्व का प्रवेश था। विधायी परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों के नामांकन की व्यवस्था एक ऐसे रुप में की गयी थी कि वह अप्रत्यक्ष निर्वाचन के समान थी। इसलिए सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस अधिनियम के सम्बन्ध में कहा था ''इस अधिनियम से भारत में प्रतिनिध्यात्मक शासन की नींव भलीभांति तथा सत्य रुप में पड़ी।''

4.2.3 1909 से 1935 तक संवैधानिक विकास

1892 का अधिनियम भारतीय जनता की आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सका। 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल के विभाजन और बिगड़ती हुयी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों ने भारतीय जनता के असंतोष को और अधिक बढ़ाने का कार्य किया। ब्रिटिश सरकार के द्वारा इस स्थिति से निपटने के लिए 1892 से 1909 के मध्य कई सुधारों की घोषणा के बावजूद शासन में गति और सुचारुता नहीं आ सकी। 1905 में कांग्रेस ने पुनः राजनीतिक सुधारों की मांग की। अतः भारतीयों की मांग और उनकी पीड़ा को दूर करने के लिए ब्रिटिश संसद ने 1909 का भारतीय परिषद अधिनियम पारित किया, जिसका नाम भारत सचिव मार्ले तथा गवर्नर जनरल मिण्टों के नाम पर मार्ले–मिण्टों सुधार कहा गया।

1909 के अधिनियम द्वारा बनाये गये विनियमों द्वारा परिषदों तथा उनके कार्यक्षेत्र का और अधिक विस्तार किया गया तथा उन्हें अधिक प्रतिनिधिक बनाया गया। सदस्यों की संख्या दुगुनी या दुगुनी से ज्यादा की गयी। भारतीय विधान परिषद के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गयी। इस अधिनियम के अनुसार अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी। परन्तु मताधिकार बहुत अधिक सीमित तथा भेदभाव पर आधारित था और उम्मीदवारों के लिए अनावश्यक रुप से बहुत अधिक कठोर योग्यताएं निर्धारित की गयी थीं। इन सबके अतिरिक्त इस अधिनियम की सर्वाधिक दोषपूर्ण बात साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली व्यवस्था का प्रारम्भ था। जिसके अन्तर्गत मुस्लिम सम्प्रदाय को पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की यह पद्धति भारत में जातीय भेदभावों को बढ़ाने के लिए अपनायी गयी थी। मूल बात यह है कि भारतीय जनता जिस उत्तरदायी शासन की मांग कर रही थी, यह अधिनियम उन आकांक्षाओं को संतुष्ट नहीं कर सका।

20 अगस्त 1917 को तत्कालीन भारत सचिव श्री मान्टेग्यू ने हाउस आफ कामन्स में अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में प्रथम बार भारत में ''जिम्मेदार सरकार'' की स्थापना का वादा किया। भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की इस नवीन नीति को कार्यान्वित करने के लिए भारत सचिव मान्टेग्यू और गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड ने समस्त भारत का दौरा करने के बाद 1918 में ब्रिटिश संसद के सम्मुख एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर संसद ने 1919 में एक भारत शासन अधिनियम पारित किया जो माटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अधिनियम द्वारा भारत सरकार के सम्बन्ध में भारत सचिव की शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया, किन्तु प्रांतों के शासन के सम्बन्ध में

उसकी शक्तियों में कुछ कमी की गयी क्योंकि प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गयी थी।

अधिनियम द्वारा इंग्लैण्ड में एक हाई कमिश्नर की नियुक्त की गयी जो भारत सरकार के एजेन्ट के रुप में काम करता था। केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन बनाये रखा गया, किन्तु विधायिका को कुछ अधिक अधिकार दिये गये। विधायिका को द्विसदनात्मक बनाया गया तथा इसमें सरकारी बहुमत समाप्त कर गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। विधायिका के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी। यद्यपि सिक्खों, मुसलमानों और युरोपीय जातियों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया।

प्रान्तीय शासन में इस अधिनियम के द्वारा काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। क्योंकि प्रान्तों में स्वायत्त शासन का क्रमिक विकास करना था, अतः केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र एक दूसरे से अलग कर दिये गये। इस प्रकार लार्ड कर्जन की केन्द्रीकरण की नीति का त्यागकर अनेक विषयों का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया। प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी। इसके लिए द्वैध शासन प्रणाली अपनायी गयी। अधिनियम ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों का सूत्रपात किया तथा मताधिकार के क्षेत्र को बढ़ा दिया।

1919 के अधिनियम के द्वारा किए गए सुधारों से भारत का कोइ भी राजनीतिक दल सन्तुष्ट नहीं था। कांग्रेस ने इन सुधारों को अपर्याप्त, अंतोषजनक और निराशाजनक बताया तथा शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की। 1919 के सुधार लागू किए जाने के समय कांग्रेस ने चुनावों में भाग लेने से मना कर दिया। 1927 में ब्रिटिश शासन ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की। इसके सभी सदस्य अंग्रेज होने के कारण भारतीयों ने इसका बहिष्कार किया। भारत में भावी संविधान की रुपरेखा तैयार करने के लिए मोती लाल नेहरु की अध्यक्षता में एक समिति गठित हुई, जिसने अपनी रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की। 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया। इसी क्रम में 1930 में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिससे सभी असन्तुष्ट थे। वर्ष 1930, 1931 और 1932 में भारत के लिए भावी सुधार योजना के सम्बन्ध में तीन गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुए। इन सम्मेलनों के फैसलों के आधार पर मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार की ओर से एक श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ, जिसके आधार पर 1935 का भारत शासन अधिनियम पारित हुआ।

4.2.4 1935 से 1947 तक संवैधानिक विकास

भारत के संविधानिक विकास में 1935 के अधिनियम का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। यह अधिनियम एक विस्तृत आलेख था। इसने भारत में प्रान्तीय स्वायत्त शासन, केन्द्र में आंशिक रुप से उत्तरदायी शासन एवं संघवाद के सिद्धान्तों की नींव डाली। इस अधिनियम की सबसे प्रमुख विशेषता इसका संघात्मक रुप होना था। इसके द्वारा केन्द्र में ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ स्थापित किए जाने का निर्णय लिया गया। यह संघ ब्रिटिश प्रान्तों, चीफ कमिश्नर प्रान्तों और देशी रियासतों से मिलकर बनना था। प्रान्तों के लिए संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था एवं देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक था, परन्तु देशी रियासतों के संघ में सम्मिलित न होने के कारण प्रस्तावित संघ की स्थापना सम्बन्धी घोषणा पत्र जारी नहीं हो सका। 1935 के अधिनियम के द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था का अंत कर उन्हें एक स्वतंत्र और स्वशासित आधार प्रदान किया गया। परन्तु प्रान्तीय स्वायत्तता पर अनेक प्रतिबन्ध लगे होने के कारण प्रांतीय स्वायत्तता केवल नाम

मात्र बनकर रह गयी। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों के द्वैध शासन को केन्द्र में लागू किया गया, परन्तु गर्वनर जनरल की अत्यधिक शक्तियों के कारण केन्द्र में उत्तरदायी सरकार एक विडम्बना थी। 1935 के अधिनियम के द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी, जिसका कार्य संविधान की व्याख्या करना, रक्षा करना, केन्द्र और प्रान्तों के बीच झगड़ों को निपटाना तथा नागरिको के अधिकारों की रक्षा करना था। इस अधिनियम में भारत परिषद का अंत कर भारत सचिव की सहायता के लिए परामर्शदाताओं की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम की एक मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें अल्पमतों और अन्य वर्गों की रक्षा के लिए विभिन्न संरक्षणों और आरक्षणों की व्यवस्था की गयी। अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के क्षेत्रों के विषयों के विभाजन के लिए 3 सूचियां बनायी गयीं तथा अवशेष शक्तियां गवर्नर जनरल को प्राप्त थीं।

1935 के अधिनियम के पश्चात् भारत में संविधानिक विकास की प्रक्रिया में क्रिप्स योजना महत्वपूर्ण थी। भारत के राजनीतिक और संविधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए एक मार्च 1942 को ब्रिटिश मंत्रीमंडल का प्रस्ताव लेकर सर स्टेफोर्ड क्रिप्स दिल्ली आए। इस प्रस्ताव में यह मान लिया गया था कि भारत का दर्जा डोमिनियन का होगा और युद्ध के बाद भारतीयों को अधिकार होगा कि वे अपने संविधान सभा में अपने लिये संविधान बना सकें। किन्तु प्रान्तों को नये संविधान को स्वीकार करने या न करने की छूट दे दी गयी थी। भारतीय नेताओं ने इस योजना को एक 'पोस्ट डेटेड चेक' कहकर अस्वीकार कर दिया तथा मुस्लिम लीग ने भी इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें सांप्रदायिक आधार पर देश के विभाजन की व्यवस्था नहीं थी। क्रिप्स योजना के विफल होने पर अगस्त 1944 में लार्ड वेवेल भारत के नए वायसराय होकर आये, उन्होंने देश के संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार से मंत्रणा कर 14 जून 1945 को एक योजना प्रकाशित की जिसे वेवेल योजना कहते हैं। इस योजना में यह कहा गया कि वायसराय की कार्यकारिणी सभा का विस्तार होगा और उसके सभी सदस्य वायसराय तथा प्रधान सेनापति को छोड़कर, भारतीय नेता होंगे। इसमें सवर्ण हिन्दुओं तथा मुसलमानों का समान अनुपात मे प्रतिनिधित्व होगा। इस योजना पर विचार करने के लिए वायसराय ने सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया, इसे शिमला सम्मेलन कहा जाता है। किन्तु मुस्लिम लीग व कांग्रेस में मतभेद रहने के कारण यह सम्मेलन भी असफल रहा।

इस योजना की भी असफलता के बाद ब्रिटिश सरकार ने 19 फरवरी 1945 को एक घोषणा की जिसके अनुसार ब्रिटिश मंत्रीमंडल के तीन सदस्यों का एक शिष्ट मंडल भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए लार्ड वेवेल की सहायता करने भारत जाएगा। यह शिष्ट मंडल मार्च 1946 में भारत आया। शिष्ट मंडल ने लार्ड वेवेल और भारतीय नेताओं से परामर्श कर जो योजना प्रकाशित की, वह कैबिनेट मिशन योजना के नाम से जानी जाती है। इस योजना में मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की एक पृथक प्रभुता सम्पन्न राज्य बनाये जाने की मांग को अस्वीकार कर दिया गया। साथ ही साथ कांग्रेस के असंगठित फेडरेशन की योजना को भी इस आधार पर अस्वीकार कर दिया गया कि इसमें संविधानिक असुविधाएं तथा विसंगतियाँ थीं। इस योजना में एक त्रिस्तरीय ढाँचे की सिफारिश थी, जिसमें भारत संघ को सबसे ऊपर, प्रान्तों के समूहों को बीच में तथ देशी रियासतों को सबसे नीचे रखा गया था। संघ की एक कार्यपालिका तथा विधानमंडल होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों। ऐसे सभी विषय जो केन्द्र को नहीं दिए गए हैं, वे सब प्रान्तों के पास रहेंगें तथा अविशष्ट शक्तियां भी प्रान्तों के पास रहेंगी। इसके अतिरिक्त जिन

विषयों को देशी रियासतें संघ को नहीं सौंपेंगी, उन सब पर देशी रियासतों का ही अधिकार होगा। इस मिशन ने यह भी तय किया कि भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा स्थापित की जायेगी, जिसके कुल सदस्य 389 होंगे। केन्द्र में शीघ्र ही एक अंतरिम सरकार स्थापित की जाएगी, जिसे भारत के प्रमुख दलों का सहयोग प्राप्त होगा।

कैबिनेट योजना के तहत प्रथम अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की घोषणा 24 अगस्त 1946 को की गयी। कानूनी तौर पर सरकार के सदस्य वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य थे और वायसराय परिषद का अध्यक्ष था, किन्तु पं. नेहरु को परिषद का उपाध्यक्ष बनाया गया था।

भारत में सत्ता के निर्बाध हस्तांतरण के लिए मार्च 1947 में लार्ड माउंटबेटन को नए वायसराय के रुप में भारत भेजा गया। भारतीय नेताओं से विचार विमर्श के बाद लार्ड माउंटबेटन ने जून 1947 में एक योजना निकाली, जो माउंटबेटन योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने यह सुझाव पेश किया कि भारतीयों की भलाई के लिए भारत का बँटवारा कर दिया जाए तथा यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार 1947 तक भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित कर देगी। मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों के द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया।

माउंटबेटेन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद ने 4 जुलाई 1947 को एक विधेयक प्रस्तुत किया जो 27 जुलाई 1947 को स्वीकृत हुआ। इसी को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम कहते हैं। इस अधिनियम में भारत में 2 राज्यों–भारत तथा पाकिस्तान की स्थापना के लिए 15 अगस्त 1947 की तारीख निर्धारित की गयी। नये संविधान के निर्माण तक दोंनो राज्यों में ब्रिटिश सम्राट की ओर से नियुक्त एक–एक गवर्नर जनरल की व्यवस्था की गयी। देशी राज्यों को दो में से एक डोमेनियन में सम्मिलित होने की अथवा स्वतंत्र रहेने की स्वतंत्रता दी गयी। दोनो उपनिवेशों को अपनी इच्छानुसार ब्रिटिश राष्टमंडल में सम्मिलित होने या सम्बन्ध विच्छेद का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार 15 अगस्त 1947 को भारत राज्य सचिव और भारत ऑफिस का अंत कर दिया गया। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी –i) नीचे दिए गए स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1. 1919 के अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2. कैबिनेट मिशन योजना ने कितने सदस्यीय संविधान सभा की बात की।

1. 350 2. 389 3. 360 4. 400

4.3 1947 से 1950 तक संविधान निर्माण की प्रक्रिया

भारत में संविधान निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ कैबिनेट मिशन योजना के प्रकाशन के साथ शुरु होता है। कैबिनेट मिशन योजना ने भारत में संविधान निर्माण के लिए एक संविधान सभा के निर्माण के सम्बन्ध में प्रस्ताव प्रस्तुत किया। संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या 389 निश्चित की गई, जिसमें ब्रिटिश भारत के लिए 296 तथा 93 सदस्य देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। परन्तु देश के विभाजन के बाद संविधान निर्मात्री सभा की कुल सदस्य संख्या 324 रह गयी, जिसमें 235 स्थान प्रांतों के लिए और 89 देशी राज्यों के लिए थे। संविधान सभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर 1946 को संसद भवन में हुई, डा0 सच्चिदानंद सिन्हा जो संविधान सभा के वरिष्ठतम सदस्य थे, को संविधान सभा का अस्थायी सभापति चुना गया, तत्पश्चात् 11 दिसम्बर 1946 को डा0 राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी सभापति चुने गए। इस सभा की प्रथम बैठक में 210 सदस्य उपस्थित थे। संविधान सभा का उद्घाटन एक ऐतिहासिक अवसर था, जिसमें डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने अपने भावपूर्ण भाषण में स्वतंत्र भारत के आदर्शों पर प्रकाश डालते हुए नए भारत की रुपरेखा के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए। उनके विचारों को दृष्टिगत रखते हुए 13 दिसम्बर 1946 को पं0 जवाहरलाल नेहरु के द्वारा एक उद्देश्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, जिसको इस सभा ने 22 जनवरी 1947 को पारित किया, जिसके आधार पर संविधान निर्मात्री सभा को अपना कार्य करना था।

उद्देश्य प्रस्ताव के प्रकरण में भारत के प्रभुत्वसंपन्न गणराज्य की रुपरेखा दी गयी थी। इस प्रस्ताव में ब्रिटिश भारत, देशी रियासतों तथा ऐसे राज्य क्षेत्रों को मिलाकर जो उसमें सम्मिलित होना चाहते थे, के लिए एक संघीय राज्य व्यवस्था की परिकल्पना की गयी थी, जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ तथा सरकार व प्रशासन की संपूर्ण शक्तियाँ राज्यों के पास और प्रभुता का स्रोत जनता में होगा। इसमें सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक, न्याय, सभी को अवसर की समानता, विधि के सम्मुख समानता तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय और कार्य की स्वतंत्रता को निश्चितता प्रदान की गयी। साथ ही अल्पसंख्यकों कबाइली क्षेत्रों तथा दलित और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए उपयुक्त संरक्षणों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार इस प्रस्ताव ने संविधान सभा को उसके मार्गदर्शी सिद्धान्त तथा दर्शन दिए, जिसके आधार पर इसे संविधान निर्माण का कार्य करना था।

संविधान सभा ने संविधान निर्माण के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में अनेक समितियाँ गठित की। इस क्रम में 29 अगस्त 1947 को संविधान का प्रारुप तैयार करने हेतु डा0 भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारुप समिति गठित की गयी। इस समिति ने संविधान का प्रथम प्रारुप तैयार किया, जिसमें 243 अनुच्छेद तथा 13 अनुसूचियां थीं। इसके पश्चात् इस समिति ने संविधान का दूसरा प्रारुप तैयार किया, जिसमें 315 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थीं। इस प्रारुप को तैयार करने में समिति को लगभग 6 माह का समय लगा, जिसे 21 फरवरी 1948 को संविधान सभा के समक्ष रखा गया। संविधान सभा ने इसमें कुछ संशोधनों सहित 26 नवम्बर 1949 को स्वीकृति दे दी। इस समय इसमें 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियाँ थीं। इस प्रकार संविधान सभा ने 2 वर्ष 11 माह 18 दिन में संविधान तैयार किया। 24 जनवरी 1950 कों संविधान सभा का अधिवेशन हुआ, जिसमें सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद को नवीन संविधान के अनुसार भारतीय गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया तथा 26 जनवरी 1950 से भारत का यह नवीन संविधान प्रभावी हो गया।

बोध प्रश्न –2

टिप्पणी –i) नीचे दिए गए स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1 संविधान सभा का उद्देश्य प्रस्ताव क्या था ?

.....

.....

.....

.....

2. भारतीय संविधान सभा की प्रथम बैठक कब हुई ?

क. 9 दिसम्बर 1946 **ख.** 11 दिसम्बर 1946

ग. 15 अगस्त 1947 **घ.** 26 नवम्बर 1950

3. संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष कौन था ?

क. डा0 सच्चिदानंद सिन्हा **ख.** डा0 राजेन्द्र प्रसाद

ग. प0 जवाहर लाल नेहरु **घ.** डा0 अम्बेडकर

4.4 संविधान के स्रोत

भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। संविधान निर्माताओं को एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था जो भारत जैसे विशाल और वैविध्यतापूर्ण देश को एक व्यवस्था प्रदान करने में सफल हो सके, जो न केवल विभिन्न सामाजिक, आर्थिक समस्याओं और संकटों में सफलतापूर्वक कार्य कर सके, वरन् युग–युग तक देश को व्यवस्था देने में सक्षम हो। इसीलिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत के संविधान के निर्माण में उन सभी स्रोतों का सहारा लिया जो उपयुक्रत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आवश्यक थे। भारत के संविधान के स्रोत नानाविध तथा अनेक हैं। संविधान निर्माताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे पूर्णतः स्वतंत्र रुप से संविधान लेखन नहीं कर रहे। उन्होंने पहले से स्थापित ढांचे तथा अनुभव के आधार पर ही संविधान के निर्माण का कार्य किया। उन्होंने प्रमुख देशों के संविधानों और राजनीतिक अनुभवों का गहन अध्ययन करने के बाद बिना हिचक कुछ उपबन्धों को अपने संविधान में अपना लिया।

संविधान के कुछ उपबंन्धों के स्रोत तो भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी तथा अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ के समय में ही खोजे जा सकते हैं। स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय प्रतिनिधिक एवं उत्तरदायी शासन संस्थानों के लिए उठायी गयी मांगों के परिणामस्वरुप अंग्रेजी शासकों द्वारा क्रमशः थोड़े थोड़े संवैधानिक सुधार किए गए। हमारे संविधान पर इन संवैधानिक अधिनियमों 1858, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 का अत्यधिक प्रभाव है। संविधान में अनेक उपबन्ध इन अधिनियमों से लिए गए हैं। संविधान का 75 प्रतिशत भाग 1935 के भारत शासन अधिनियम से लिया गया है। उसमें बदलती परिस्थितियों के अनुकूल कुछ आवश्यक संशोधन मात्र किया गया है। राज्य व्यवस्था का आधार भूत ढांचा तथा संघ एवं राज्यों के

सम्बन्धों एवं आपात स्थिति की घोषणा आदि से सम्बन्धित उपबन्ध अधिकांशतः 1935 के अधिनियम पर आधारित हैं।

प्राचीन भारत स्वशासी संस्थानों की प्रेरणा से राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों के संगठन का उल्लेख किया गया है। 1928 में नियुक्त मोतीलाल नेहरु कमेटी की रिपोर्ट में घोषित 19 मूल अधिकारों में से दस को भारत के संविधान में बिना किसी विशेष परिवर्तन के सम्मिलित कर लिया गया। संविधान में संसद के प्रति उत्तरदायी संसदीय शासन प्रणाली, अल्पसंख्यकों के रक्षा–उपायों और संघीय राज्य व्यवस्था सम्बन्धी उपबन्ध के मूल स्त्रोत भी 1928 की नेहरु कमेटी रिपोर्ट में मिलते हैं।

भारतीय संविधान में दूसरे देशों के संविधानों के वे तत्व, जो हमारे देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए संविधान में अन्तः स्थापित किए जा सकते थे, सम्मिलित किये गए। डा0 बी.एन.राव जो संविधान सभा के संविधानिक सलाहकार थे, उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने सुझाव दिए थे।

संसद के स्थान पर संविधान की सर्वोच्चता, स्वतंत्र न्यायपालिका, न्यायिक पुनर्विलोकन, राष्ट्रपति के लिए निर्वाचकगण, राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की प्रक्रिया, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया, मौलिक अधिकार, संविधान में संशोधन की प्रक्रिया, राष्ट्रपति में संघ की कार्यपालिका शक्ति तथा संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश निहित करना, उपराष्ट्रपति को राज्य सभा का पदेन सभापति सम्बन्धी उपबन्ध अमरीकी संविधान पर आधारित है। राज्य की नीति के निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के चुनाव की पद्धति–(राष्ट्रपति का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा) राज्य सभा में कुछ सदस्यों का राष्ट्रपति द्वारा नामांकन किया जाना आयरलैण्ड के संविधान से लिया गया है।

संसदीय सरकार की व्यवस्था, कानून बनाने की प्रक्रिया, अध्यक्ष का पद, अखिल भारतीय सेवाएं, इकहरी नागरिकता, न्यायपालिका ढांचा ग्रेट ब्रिटेन के संविधान से लिया गया है। कनाडा के संविधान के आदर्श पर भारत संघ को यूनियन कहा गया है तथा अवशिष्ट शक्तियों को राज्यों को नहीं, बल्कि केन्द्र को दिया गया है।

प्रस्तावना के भाव और भाषा, सप्तम अनुसूची में समवर्ती अनुसूची, व्यापार, वाणिज्य तथा समागम और संसदीय विशेषाधिकारों से सम्बन्धित उपबंध आस्ट्रेलियाई संविधान पर आधारित है।

संविधान के अनुच्छेद 21 की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' जापान के संविधान से, संविधान में संशोधन की प्रणाली दक्षिण अफ्रीका के सविधान से, संकटकाल में राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी अधिकार जर्मनी के वीमर संविधान से लिए गए हैं। भारतीय संविधान पर विश्व के विभिन्न संविधानों के प्रभाव को देखते हुए यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि भारतीय संविधान अनेक संविधानों का सम्मिश्रण है।

बोध प्रश्न–3

टिप्पणी –i) नीचे दिए गए स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर से मिलाएं।

1. भारतीय संविधान पर अमेरिकी संविधान के प्रभाव को लिखिए ?

.....

.....

.....

.....

2. भारतीय संविधान के नीति निदेशक तत्वों को किस संविधान से लिया गया है?

   क. जापान ख. जर्मनी

   ग. आयरलैण्ड घ. कनाडा

3. भारतीय संविधान में राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों को किस संविधान से लिया गया है? ,

   क. अमेरिका ख. जर्मनी

   ग. कनाडा. घ. ब्रिटेन

4.5 सारांश

भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया एक लम्बे विकास का परिणाम हैं। जिसमें प्राचीन भारतीय व्यवस्थाएं, मुगलकालीन व्यवस्थाएं, ब्रिटिश शासन के समय भारत में अलग–गलग समय संविधानिक व्यवस्था की स्थापना के लिए ब्रिटिश सरकार के द्वारा उठाए गए कदम आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में मुख्य रुप से संविधानिक विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ 1858 से होता है, किन्तु 1858 से पूर्व भी भारत में संविधानिक विकास के क्षेत्र में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण अधिनियम बने, जिन्होंने भारत में संविधानिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसमें रेग्यूलेटिंग एक्ट, पिट्स इंडिया एक्ट महत्वपूर्ण हैं। 1858 के पश्चात् भारत में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेतृत्व के दबाव में संविधानिक व्यवस्था की स्थापना के लिए समय–समय पर कई कदम उठाए, जिनमें 1909, 1919 तथा 1935 का अधिनियम महत्वपूर्ण है। इसी क्रम में 1946 में कैबिनेट मिशन योजना के तहत भारत के संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान सभा का गठन किया गया, जिसने 02 वर्ष 11 माह 18 दिन तक अथक प्रयास के द्वारा 26 नवम्बर 1949 को भारत को एक संविधान दिया, जिसे 26 जून 1950 को लागू कर दिया गया।

4.6 शब्दावली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली– समाज के विभिन्न वर्गों का आनुपातिक आधार पर प्रतिनिधित्व।

गणराज्य–वह राज्य जिसमें सर्वोच्च पद पर जनता के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से चुना गया व्यक्ति आसीन हो।

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऑस्टिन, ग्रानविल, 1964 इंडियन कान्स्टीट्युशन, कारनरस्टोन आफ ए नेशन, लंदन

काश्यप, सुभाष, 2006, हमारा संविधान : भारत का संविधान और संवैधानिक विधि, इंडिया नेशनल बुकट्रस्ट, दिल्ली

ग्रोवर, बी.एल, ग्रोवर, एस, 1990, अ न्यू लुक ऑन माडर्न इंडियन हिस्ट्री एस चांद एंड कंपनी लिमिटेड, दिल्ली।

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1 देखें 4.2.3

2. ख 389

बोध प्रश्न–2

1. देखें 4.3.1

2. क. 9 दिसम्बर 1946

3. ख. डा0 राजेन्द्र प्रसाद

बोध प्रश्न–3

1. देखें 4.4

2. ग. आयरलैण्ड

3. ख. जर्मनी

इकाई–5

संविधान सभा, समाजवाद और संविधान

इकाई की रुपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 संविधान सभा का उद्‌भव

5.3 संविधान सभा का गठन

5.3.1 संविधान सभा की संरचना का मूल्यांकन

5.3.2 संविधान सभा की स्थिति।

5.4 संविधान सभा कि समितियां

5.5 संविधान सभा की कार्य प्रणाली

5.5.1 सहमति द्वारा निर्णय

5.5.2 समायोजन का सिद्धान्त

5.6 समाजवाद और संविधान

5.7 सारांश

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारतीय संविधान के निर्माण के लिए गठित संविधान सभा की रचना और कार्य प्रणाली से अवगत कराना तथा भारतीय संविधान के निर्माण में समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- संविधान सभा के उद्‌भव की परिस्थितियों को जान पायेंगे।
- संविधान सभा के गठन को समझ सकेंगे।
- संविधान सभा की कार्य प्रणाली पर चर्चा कर सकेगे।
- समाजवादी विचारधारा का संविधान पर प्रभाव जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

किसी भी देश का संविधान परम्पराओं या अभिसमयों द्वारा विकसित होता है अथवा इस कार्य के लिए गठित समिति के द्वारा किया जाता है। भारत में संविधान का निर्माण संविधान सभा के द्वारा किया गया। भारत में यह प्रक्रिया दिसम्बर 1946 में संविधान सभा के गठन के साथ प्रारम्भ हुई जो लगभग तीन वर्ष तक चलकर 26 जनवरी 1950 को पूर्ण हुई। संविधान सभा का गठन कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार हुआ। परन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व तथा स्वतन्त्रता के पश्चात पाकिस्तान के निर्माण के कारण इसके स्वरुप में कुछ परिवर्तन आया। इस सभा ने संविधान के निर्माण के लिए विभिन्न प्रकार की समितियों का गठन करके इसको मूर्त रुप प्रदान किया। संविधान सभा का गठन इस प्रकार से किया गया था, जिससे इसके अन्तर्गत समाज के सभी वर्गों, धर्मों तथा विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व हो सके। इसीलिए भारतीय संविधान में सभी विचार धाराओं का मिश्रण देखने को मिलता है। इसमें कई प्रावधान ऐसे हैं जो समाजवादी विचारधारा पर आधारित होने के कारण इस संविधान पर समाजवाद के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं।

5.2 संविधान सभा का उद्‌भव

भारतीय संविधान सभा भारत के लोगों की आकांक्षाओं और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन की इस मांग का चरम बिन्दु थी कि भारत के संविधान का निर्माण ब्रिट्रिश संसद के द्वारा न होकर भारतीयों के चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा किया जाये। 1922 में महात्मा गांधी ने कहा कि ''यह संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।'' फरवरी 1924 में केन्द्रीय विधायिका में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं ने देश के संविधान का प्रारुप तैयार करने के लिये एक गोलमेज सम्मेलन की मांग की। सर्वदलीय सम्मेलन की रिपोर्ट जो 1928 की नेहरु रिपोर्ट के नाम से विख्यात हैं, संविधान निर्माण की दिशा में भारतीयों द्वारा अपने देश के संविधान निर्माण का पहला अवसर और प्रयास था। कांग्रेस द्वारा 1934 में पहली बार यह मांग की गयी कि भारत का संविधान बनाने के लिये संविधान सभा का गठन किया जाये और उसके सदस्य भी भारतीय ही होने चाहिए। कांग्रेस द्वारा संविधान सभा की स्पष्ट मांग 1936 में अपने फैजपुर अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव पारित करते हुये की। कांग्रेस द्वारा उपर्युक्त प्रस्ताव पास होने के बाद कांग्रेस ने संविधान सभा की मांग प्रतिवर्ष होने वाले अधिवेशनों में उठायी। फैजपुर अधिवेशन में पं0 जवाहर लाल नेहरु ने कहा था कि संविधान सभा की मांग आज की कांग्रेस की नीति का आधार स्तम्भ है। सन् 1940 में कांग्रेस ने रायगढ़ अधिवेशन में इस बात को दोहराया कि भारत के संविधान निर्माण के लिये संविधान सभा के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है। प्रारम्भ में ब्रिटिश शासक भारतीयों की संविधान सभा की मांग को किसी न किसी तरह से टालते रहे, परन्तु द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों ने उन्हें इस मांग को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। सन् 1942 में क्रिप्स मिशन के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने भारत की इस मांग को पहली बार स्वीकार किया कि भारत विधिवत निर्वाचित संविधान सभा के द्वारा अपना संविधान स्वयं बना सकता है। लेकिन क्रिप्स प्रस्ताव अनिश्चित और अस्पष्ट थे, अतः कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह घोषणा की थी कि स्वाधीनता के बाद अस्थायी राष्ट्रीय सरकार एक संविधान सभा का गठन करेगी जो देश के लिये सर्वमान्य संविधान

का निर्माण करेगी। भारत छोड़ो आन्दोलन के समय अधिकतर राष्ट्रीय नेताओं के जेल में होने के कारण संविधान सभा के गठन की ओर 1945 तक कोई कदम नहीं उठाया जा सका। 19 सितम्बर 1945 को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड बेवल ने यह घोषणा की कि प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव के बाद सरकार यथाशीघ्र संविधान सभा बुलाना चाहती है। अंत में 1946 में ब्रिटिश सरकार ने एक तीन सदस्यीय मिशन को भारत भेजा। यह मिशन 26 मार्च 1946 को भारत पहुंचा। इस मिशन को कैबिनेट मिशन के नाम से जानते हैं। इस मिशन ने संविधान सभा के गठन के सम्बन्ध में अपनी योजना तैयार की जिसे कैबिनेट मिशन योजना कहते हैं। इसके आधार पर भारत में संविधान सभा का गठन हुआ।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी i) नीचे दिये गये स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1. कैबिनेट मिशन योजना क्या थी?

.....

.....

.....

.....

2. कांग्रेस का फैजपुर अधिवेशन कब हुआ?

क. 1934 में ख. 1935 में

ग. 1936 में घ. 1937 में

5.3 संविधान सभा का गठन

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या 389 थी जिसमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि चुने जाने थे। जुलाई 1946 में संविधान सभा के 296 स्थानों के लिए चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस को 208 मुस्लिम लीग को 73 तथा 15 अन्य दलों के एवं स्वतन्त्र प्रत्याशी निर्वाचित हुये। संविधान सभा में कांग्रेस की सबल स्थिति देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार किया तथा पाकिस्तान के लिये अलग संविधान सभा की मांग प्रारम्भ कर दी। कांग्रेस के द्वारा प्रयास करने के बावजूद मुस्लिम लीग ने इसमें किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं किया था।

संविधान सभा की प्रथम बैठक 09 दिसम्बर 1946 को वर्तमान संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में हुई तथा डा0 सच्चिदानान्द सिन्हा को संविधान सभा का अस्थायी सभापति चुना गया। तत्पश्चात् 11 दिसम्बर 1946 को डा0 राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी सभापति निर्वाचित हुये। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा पाकिस्तान की स्थापना से संविधान सभा की रचना में कुछ परिवर्तन आया। अब इसके कुल सदस्यों की संख्या 324 निश्चित की गयी। ब्रिटिश प्रान्तों के लिये 235 तथा देशी रियासतों के लिये 89 स्थान निर्धारित किये गये। इस सभा में

मुस्लिम लीग के उन सदस्यों ने भाग लिया, जिन्होंने भारत में रहने का निश्चय किया था। हैदराबाद रियासत के प्रतिनिधि को छोड़कर अन्य सभी देशी रियासतों के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा की बैठकों में भाग लिया। ब्रिटिश प्रान्तों के संविधान सभा के सदस्य अप्रत्यक्ष रुप से प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित हुये थे, वहीं देशी रियासतों के प्रतिनिधि रियासतों के नरेशों द्वारा मनोनीत किये गये थे।

5.3.1 संविधान सभा की संरचना का मूल्यांकन

संविधान सभा का गठन प्रांतीय विधान सभाओं के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर हुआ था। प्रान्तीय सभाएं सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होती थीं, जिसमें केवल 20 से 24 प्रतिशत आबादी को ही वोट देने का अधिकार था। इसीलिए भारतीय संविधान सभा के प्रतिनिधि स्वरुप पर आपत्ति उठायी जाती है। आलोचकों का कहना है कि संविधान सभा एक प्रतिनिधि सभा नहीं थी क्योंकि इसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा नहीं किया गया था। यही कारण है कि संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने संविधान की प्रस्तावना में ''हम भारत के लोग'' शब्दों पर आपत्ति उठायी थी। उनका कहना था कि जब संविधान सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से नहीं किया गया तो इन शब्दों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त संविधान सभा की आलोचना इस आधार पर भी की गयी कि संविधान सभा में कांग्रेस दल का पूर्ण बहुमत था, अतः यह एक दलीय संविधान सभा थी। ऑस्टिन ने लिखा है कि ''संविधान सभा एक दलीय देश में एक दलीय संस्था थी।'' लार्ड साइमन ने इसे एक हिन्दू संस्था की संज्ञा दी थी और यह प्रश्न पूछा था कि, ''क्या सरकार दिल्ली में सवर्ण हिन्दुओं की इस बैठक को संविधान सभा कह सकती है।''

भारतीय संविधान सभा के प्रतिनिधि स्वरुप के सम्बन्ध में उपर्युक्त आलोचनाएं लोगों की संकीर्णता तथा संविधान सभा की संरचना एवं कार्यवाही से अनभिज्ञता को प्रकट करती हैं। भारतीय जनता द्वारा प्रतिनिधि निर्वाचित न किये जाने पर भी संविधान सभा पूर्णतया एक प्रतिनिधि संस्था थी। इस सभा में भारत की सभी जातियों, सभी वर्गों, हितों, क्षेत्रों आदि का प्रतिनिधित्व था। यह सत्य है कि इसमें कांग्रेस दल का बहुमत था किन्तु कांग्रेस ने यह पूर्ण प्रयास किया कि जहां तक सम्भव हो, सभा का एक व्यापक जनाधार हो। कांग्रेस की इस नीति के परिणाम स्वरुप संविधान सभा में अल्पसंख्यक समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व था। सभा में भारतीय ईसाईयों के सात, आंग्ल भारतीयों के तीन, पारसियों के तीन प्रतिनिधि थे। विभाजन के पश्चात प्रान्तों के लिये निर्धारित किये गये 235 स्थानों में से 88 स्थानों पर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि थे जो कि कुल प्रान्तीय सदस्यता का 37 प्रतिशत था। के संथानम ने कहा है कि भारतीय जनता का शायद ही कोई ऐसा वर्ग होगा, जिसका प्रतिनिधित्व संविधान सभा में नहीं था। इस सभा को व्यापक आधार प्रदान करने की दृष्टि से इसमें समाज के सिर्फ बहुमत और अल्पमत को प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया, बल्कि इसमें पूंजीपतियों, बुद्धिजीवियों तथा मध्यम वर्ग को भी जोड़ा गया जैसे सरोजिनी नायडू, हंसा मेहता आदि को सभा में शामिल कर महिलाओं को प्रतिनिधित्व दिया गया। इसके अतिरिक्त संविधान सभा में उन लोगों को भी जोड़ा गया, जिनका ज्ञान संविधान निर्माण में लाभकारी हो सकता था, उदाहरणतः डा0 राधा कृष्णन, एन0 गोपाल स्वामी आंयगर, ए.के. अय्यर, एच.एन. कुँजरु,डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद, के.एम. मुंशी, वी.

एन.राय, जवाहर लाल नेहरु, बल्लभ भाई पटेल तथा डा0 बी.आर. अम्बेडकर की सेवाएं इसी आधार पर प्राप्त की गयी थी।

उपयुक्रत वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान सभा एक प्रतिनिधि संस्था ही नहीं थी, बल्कि यह एक महान संस्था थी, जिसमे जनता के प्रतिनिधि, बुद्धिजीवियों, कानूनी, विशेषज्ञों, समाज सेवकों तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट लोगों ने भाग लिया था। इसमें केवल निर्वाचित सदस्य ही नहीं थे, बल्कि उन लोगों को भी इसमें स्थान दिया गया था, जो अपने–अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ थे। इस सभा में रुढ़िवादी, समाजवादी, प्रगतिवादी, सभी विचारधाराओं के लोगों का प्रतिनिधित्व था। वस्तुतः संविधान सभा के समक्ष केवल विशेषज्ञों के प्रतिवेदन ही प्रस्तुत नहीं किए गए थे, बल्कि जन संगठनों और गैर सरकारी व्यक्तियों के विचार भी प्रस्तुत किए गए थे।

संविधान सभा केवल अपनी संरचना में ही प्रतिनिधि संस्था नहीं थी, बल्कि अपने विचार विमर्श और निर्णयों में भी एक लोकतांत्रिक और प्रतिनिधि संस्था थी। इसके सभी निर्णय प्रायः समझौते और समन्वय की भावना से लिए गए, सहमति और समायोजन इसके आधार स्तम्भ थे।

5.3.2 संविधान सभा की स्थिति

संविधान सभा के गठन और उसके द्वारा कार्य प्रारंभ किए जाने के साथ ही संविधान सभा की स्थिति को लेकर विवाद प्रारम्भ हो गया संविधान सभा के ही एक सदस्य एम.आर. जयकर ने संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन में इसके संप्रभु होने के दावे को चुनौती दी थी। उनका कहना था कि, ''संविधान सभा एक संप्रभु संस्था नहीं है और इसकी शक्तियां मूलभूत सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं दोनों ही दृष्टि से मर्यादित हैं।'' उनके इस विचार का आधार यह था कि संविधान सभा कैबिनेट योजना के अधीन अस्तित्व में आयी और यह ब्रिटिश संसद की सत्ता के ही अधीन है। यह संस्था कैबिनेट योजना में वर्णित संविधान की मूल रुपरेखा में परिवर्तन नहीं कर सकती हैं। सभा का आवाहन ब्रिटिश सम्राट के द्वारा प्रदत्त अधिकार पर गर्वनर जनरल द्वारा किया गया था। इसे भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित नहीं किया गया था। अतः इसके पास अपनी कोई शक्ति या सत्ता नहीं थी। इसमें सामंतों, अभिजात्य या कुलीन वर्गों का ही प्रतिनिधित्व था तथा जनसाधारण को इसमें प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। परंतु संविधान सभा की सर्वोच्चता से संम्बन्धित ये विचार सर्वमान्य नहीं थे। सर्वमान्य विचार यही था कि संविधान सभा पर मर्यादाएं होते हुए भी यह एक संप्रभु संस्था थी क्योंकि कैबिनेट योजना को जिसके द्वारा संविधान सभा का गठन हुआ था, को भारतीयों द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। अतः इसको जनता का समर्थन प्राप्त था और यह एक संप्रभु संस्था थी। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों, बुद्धिजीवियों और विधि विशेषज्ञों का यही मत था कि संविधान सभा एक प्रभुसंपन्न संस्था थी। डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए कहा था कि संविधान सभा एक स्वशासी, स्वनिर्णायक एंव स्वतंत्र संस्था थी। पुरुषोत्तम दास टंडन ने भारतीय संविधान सभा की तुलना फ्रांस की संविधान सभा से की थी, जिसने राजा के आदेशों को मानने से इंकार कर दिया था।

3 जून 1947 की लार्ड माउंटबेटेन योजना की स्वीकृति ने संविधान सभा के स्वरुप में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिए।

1. 16 मई 1946 की कैबिनेट मिशन योजना ने संविधान सभा पर जो मर्यादाएं लगायी थीं, वे अब समाप्त हो गयीं।

2. मुस्लिम लीग के संविधान सभा में उपस्थित होने से जिन समस्याओं के आने की संभावना थी, वे अब समाप्त हो गयीं। देश का विभाजन होने से मुस्लिम लीग के अधिकांश सदस्य पाकिस्तान चले गए।

3. संविधान सभा भारतीय संघ के लिए संविधान निर्माण के लिए संप्रभु संस्था बन गयी, जिसने न केवल संविधान सभा के रुप में कार्य किया, बल्कि नवीन संविधान का निर्माण होने तथा उसके लागू होने तक इसने भारतीय संसद के रुप में भी कार्य किया। अतः इस संस्था ने अपने जन्म से जिस संप्रभु के रुप को ग्रहण किया था भारत की स्वतंत्रता के साथ वह संप्रभु रुप वैधानिक रुप से उसे प्राप्त हो गया।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणी–i) नीचे दिए गए स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1. संविधान सभा का संगठन लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2. संविधान में कांग्रेस के कितने सदस्य चुने गये?

क. 205 ख 208

ग. 212 घ. 214

5.4 संविधान सभा की समितियां

संविधान सभा ने संविधान–निर्माण के कार्य को सुचारु रुप से संपादित करने के लिए भिन्न–भिन्न पहलुओं पर विचार विमर्श हेतु अनेक समितियेां, उपसमितियों तथा तदर्भ समितियों का गठन किया। कुल मिलाकर संविधान सभा में 20 से ज्यादा समितियों का गठन किया गया, उनमें से ज्यादातर ने स्थायी समिति के रुप में कार्य किया। इसमें से प्रारुप समिति ही एक ऐसी समिति थी, जिसने संविधान निर्माण के अंत तक कार्य किया। इन समितियों में मुख्य समितियां निम्नलिखित थीं।

विशेष समिति

इस समिति का गठन संविधान सभा की प्रथम बैठक से पूर्व ही 1946 में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने कर दिया था। इसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरु थे। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसमें सात अन्य सदस्य थे। इस समिति का उद्देश्य

संविधान सभा के लिए मुख्य रुप से संविधान के प्रारुप, नियमेां और उद्देश्यों प्रस्तावों को तैयार करना था।

प्रारुप समिति

इस समिति का गठन 29 अगस्त 1947 को किया गया था। यह समिति सात सदस्यीय समिति थी तथा इसके अध्यक्ष डा0 भीमराव अम्बेडकर थे। इस समिति का उद्देश्य संविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किए गए संविधान की समीक्षा करना तथा संविधान सभा में लिए गए निर्णयों को प्रारुप संविधान में समाविष्ट करना तथा पुनः विचार के लिए संविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करना था।

प्रक्रिया नियमन समिति

यह समिति 16 सदस्यीय समिति थी। इसके अध्यक्ष संविधान सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद थे। इस समिति का उद्देश्य सभी प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों, अध्यक्ष की शक्तियों, संविधान सभा के कार्य संचालन तथा अधिकारियों की नियुक्ति और सभा में रिक्त स्थानों को भरने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में सिफारिश करना था।

संचालन समिति

इस 12 सदस्यीय समिति का गठन जनवरी 1947 को संविधान सभा के द्वारा किया गया। इस समिति के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद थे। इस समिति का उद्देश्य कार्य सूची का निर्धारण करना तथा सभा, अनुभागों, समितियों के लिए व्यापक संपक्र साधन के रुप में कार्य करना था।

परामर्श समिति

यह समिति संविधान सभा की सबसे बड़ी समिति थी, जिसमें अध्यक्ष सहित कुल 64 सदस्य थे। सरदार वल्लभ भाई पटेल इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति का गठन मूल अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों की रक्षा सम्बन्धी धाराओं और कबाइली तथा वर्जित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। इस समिति में कार्य की सुविधा के लिए 2 उपसमितियां मूल अधिकारों पर उपसमिति तथा अल्पसंख्कों पर उपसमिति का निर्माण किया गया।

संघ शक्ति समिति

यह 15 सदस्यीय समिति थी, जिसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरु थे। इस समिति का उद्देश्य संघ की शक्तियों के सम्बन्ध में परामर्श देना था।

सर्वोच्च न्यायालय पर तदर्थ समिति

इस समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 4 सदस्य थे। इस तदर्भ समिति का उद्देश्य सर्वोच्च न्यायालय के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करना था।

उपयुक्रत समितियों द्वारा जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गए, उन पर संविधान

सभा में विस्तृत रुप से विचार विमर्श हुआ। तदोपरान्त इन समितियों द्वारा दिए गए महत्वपूर्ण सुझावों के आधार पर भारतीय संविधान का निर्माण किया गया।

बोध प्रश्न –3

टिप्पणी– i) नीचे दिए गए स्थान में प्रश्नों के उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1. संचालन समिति का वर्णन कीजिए

.....

.....

.....

.....

2. परामर्श समिति का अध्यक्ष कौन था ?

क. जवाहर लाल नेहरु ख. वल्लभ भाई पटेल

ग. बी.आर. अम्बेडकर घ. के.एम. मुन्शी

5.5 संविधान सभा की कार्यप्रणाली

5.5.1 सहमति द्वारा निर्णय

भारतीय संविधान के निर्माण में संविधान सभा द्वारा प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों पर अंतिम निर्णय पारस्परिक सहमति से लिए गए। जटिल राजनीतिक प्रश्नों पर निर्णयों को बहुमत के आधार पर थोपने के बजाय सहमति से उन्हें तय किया गया। संविधान निर्माताओं का यह मानना था कि बहुमत का शासन राजनैतिक रुप से अनुचित हो सकता है, क्योंकि दृढ़ इच्छा के कारण कई समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। इसके अलावा भारतीय परम्परा में सर्वसम्मत्ति के विचार की गहरी जड़ें हैं। रजनी कोठारी का मानना है कि राष्ट्रीय नेतृत्व ने न केवल सर्वसम्मति के आधार पर काम किया बल्कि नेतृत्व ने ऐसे क्षेत्रों में भी सहमति पैदा की जहां सहमति नहीं थी। जवाहर लाल नेहरु ने संविधान सभा में कहा था कि जहाँ तक सम्भव हो सके, संविधान निर्माण का कार्य सर्वसम्मति से होना चाहिए। भारतीय संविधान निर्माताओं ने संघीय व्यवस्था के प्रश्नों पर सहमति के सिद्धान्त का अत्यधिक प्रयोग किया। संघीय व्यवस्था में, शिक्षा के क्षेत्र में एक समान राष्ट्रीय मानक, रेलवे की सुरक्षा, संकटकालीन धाराएं आदि प्रावधानों पर सहमति के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। सहमति के बिना इन प्रश्नों का स्थायी हल निकलना कठिन था। इसके लिए प्रारुप समिति, संघीय शक्ति समिति, केन्द्रीय मंत्री मंडल के सदस्यों, प्रान्तीय मंत्रीमंडल के सदस्यों में अनेक बार विचार विमर्श हुआ।

भाषा की समस्या पर संविधान सभा में आम सहमति के निर्माण के लिए जिस प्रकार वाद विवाद हुआ वह इस बात का प्रतीक है कि संविधान सभा सहमति उत्पन्न करने के लिए कितनी उत्सुक थी। भाषा के प्रश्न पर अंतिम बहस को आरम्भ करते हुए डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि वे इस प्रश्न पर मतदान की अनुमति नहीं देंगे। उनका कहना था कि यदि कोई समझौता पूरे देश को मान्य

नहीं हुआ तो उसका क्रियान्वयन कठिन होगा। यह सत्य है कि संविधान सभा में सहमति के सिद्धान्त को महत्व दिया गया था, किन्तु सहमति को प्राप्त करना सरल कार्य नहीं था। परन्तु संविधान सभा के सदस्यों ने जटिल राजनीतिक प्रश्नों पर सहमति प्राप्त करने के लिए औपचारिक रुप से अपनी राजनीतिक सत्ता तथा अनौपचारिक रुप से अपने व्यक्तित्व–प्रतिभा एवं लोकप्रियता का प्रयोग किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय भावना तथा एक आदर्श संविधान निर्माण करने की महत्वाकांक्षा ने सहमति के सिद्धान्त को संविधान निर्माण का आधार बनाया।

5.5.2 समायोजन का सिद्धान्त

भारतीय संविधान के निर्माण में समायोजन के सिद्धान्त को भी अपनाया गया है। ऑस्टिन ने लिखा है कि 'समायोजन परस्पर विरोधी विचारधाराओं का उनके स्वरुपों में परिवर्तन किए बिना, समाधान करने और उन्हें समंजित करने की योग्यता है।'' ''भारतीय संविधान में ऐसे कई प्रावधान हैं जो समायोजन के सिद्धान्त पर आधारित हैं। उदाहरण स्वरुप भारतीय संविधान में संघात्मक और एकात्मक दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं को कार्यशील बनाने का प्रयास किया गया है। सामान्यतः भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक संघीय व्यवस्था के रुप में कार्य करती है अर्थात् संविधान में केन्द्र व राज्यों में शक्तियों का बँटवारा किया गया है, वहीं संकटकाल में बिना किसी परिवर्तन के यह संविधान एकात्मक रुप ग्रहण कर लेता है।

इसी प्रकार भारतीय संविधान में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का समायोजन किया गया है। अतः संविधान ने जहाँ केन्द्र को शक्तिशाली बनाया, वहीं पंचायतों जैसी संस्थाओं का संविधान में प्रावधान कर इसमें विकेन्द्रीकरण को भी महत्व दिया है। जहाँ पंचायती राज विकेन्द्रीकरण का प्रतीक है, वहीं शक्तिशाली केन्द्र केन्द्रीकरण का प्रतीक है।

संविधान सभा के सदस्यों की यह कोशिश रही कि भारतीय संविधान का निर्माण सहमति और समन्वय के आधार पर किया जाए तथ निर्णय बहुमत के आधार पर नहीं बल्कि आम राय से लिया जाए। इसी का यह परिणाम था कि जिस संविधान का निर्माण इस सभा के द्वारा किया गया उसे संविधान सभा का ही नहीं अपितु आम जनता की भारी सहमति और स्वीकृति प्राप्त हुई।

5.6 समाजवाद और संविधान

भारत में समाजवादी चिंतन का विकास लगभग 20वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि से पश्चिम की स्थिति भिन्न है, वहाँ समाजवादी दर्शन की शुरुआत 19वीं शताब्दी में ही हो चुकी थी। मई 1923 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। इस दल का समाजवादी विचाराधारा को भारत में लोकप्रिय बनाने में विशेष महत्व था। संविधान सभा में संविधान के विभिन्न मुद्दों पर बहस के दौरान प्रमुख विचारधारा और दार्शनिक मुद्दे उठे, जिसमें समाजवादी विचारधारा के आधार पर भारतीय संविधान का निर्माण महत्वपूर्ण विषय रहा। उद्देश्य प्रस्तावों, जिन्होंने संविधान की प्रस्तावना के लिए आधार प्रदान किया, में समाजवाद को प्रधानता देने को लेकर अत्यधिक वाद–विवाद हुआ। संविधान सभा के सदस्य वी.ड. ी त्रिपाठी तथा अन्य सभा के समाजवादी विचारधारा के सदस्यों ने यह मांग की कि सभा के सदस्य यह घोषणा करें कि 'अब हमारा संविधान मुख्यतः समाजवादी ढांचे पर बनाया जाएगा और किसी भी रुप में पूंजीवाद के आधार पर नहीं।' परन्तु जवाहर लाल नेहरु तथा सभा के अन्य प्रमुख सदस्यों के द्वारा इस मांग का विरोध

किए जाने के कारण यह मांग अस्वीकार कर दी गयी। जवाहर लाल नेहरु ने समाजवाद के प्रति अपनी वचन बद्धता दोहराते हुए बहुमत का समर्थन करते हुए कहा कि संविधान में ऐसा कुछ भी न रखा जाए जो सभी को स्वीकार न हो। इसीलिए उन्होंने संविधान सभा में कहा, ''यदि मैंने अपनी इच्छा के अनुसार इसमें कुछ रखा है तो वह यह है कि हम समाजवादी राज्य चाहते हैं, हमने इसमें कुछ ऐसी बातों को भी स्थान दिया है, जिनसे बहुत से व्यक्ति सहमत होंगे और कुछ असहमत होंगे और हम यह चाहते हैं कि ऐसे मामलों के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव विवादास्पद न बने।'' इसीलिए उद्देश्य प्रस्ताव में कई समाजवादी प्रावधानों के बावजूद भारतीय संविधान की प्रस्तावना में संविधान के निर्माण के समय समाजवाद शब्द नहीं रखा गया, जिसको आगे उनकी पुत्री प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा 1976 में 42वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान की प्रस्तावना में जोड़ा गया।

5.7 सारांश

संविधान सभा का गठन भारतीय में संविधान के निर्माण के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम था। इसका उद्देश्य भारत के लिए एक संविधान की रचना करना था। इसके निर्माण में सभी वर्गों को इसमें सम्मिलित किया गया तथा विभिन्न समितियों का निर्माण कर संविधान बनाने का महत्वपूर्ण कार्य पूर्ण किया गया। संविधान सभा की कार्य प्रणाली पूर्णतः लोकतांत्रिक तथा सहमति व समायोजन पर आधारित थी। जिसका उद्देश्य भारत के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था जो समाज के सभी लोगों को स्वीकार्य हो। संविधान सभा के कार्यकरण में सभी विचारधाराओं का प्रभाव देखने को मिलता है। वैसे तो इस सभा का उद्देश्य लोकतंत्र की मान्यताओं पर आधारित एक संविधान का निर्माण करना था, परन्तु भारत की आर्थिक, सामाजिक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस पर समाजवाद का भी प्रभाव स्पष्ट रुप से देखने को मिलता है।

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आस्टिन ग्रेनविल, 1972, द इंडियन कॉस्टीट्यूशन, कार्नर स्टोन ऑफ अ नेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस मुंबई।

शिवाच, जे.आर., 1992 भारत की राजनीतिक व्यवस्था, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़।

बसु, दुर्गादास 1997, इंट्रोडक्शन टू द कांस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, प्रेन्टिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, न्यू दिल्ली।

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. देखें 5.2
2. ग. 1936

बोध प्रश्न–2

1. देखें 5.3
2. ख. 208

बोध प्रश्न–3

1. देखें 5.4
2. ख. सरदार वल्लभ भाई पटेल

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-102
भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 2

व्यक्ति और राज्य

इकाई – 6 71
मौलिक अधिकार

इकाई – 7 83
राज्य के निति निदेशक सिद्वांत

इकाई – 8 93
सर्वोच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

इकाई – 9 111
न्यायिक–पुर्नवलोकन शक्तियाँ वा भूमिका

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक / परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीति विज्ञान विभाग 3 / 184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्विद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद**, असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2021 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई 6

मौलिक अधिकार

ईकाई की रुपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सामान्य उपबंध

6.3 समानता का अधिकार

6.4 स्वतंत्रता का अधिकार

6.4.1 दोषी ठहराए जाने के बारे में

6.4.2 जीवन की सुरक्षा और निजी स्वतंत्र

6.4.3 गिरफ्तारी से संरक्षण

6.5 शोषण के विरुद्ध अधिकार

6.6 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

6.7 संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

6.8 संवैधानिक उपचारों का अधिकार

6.9 सारांश

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.11 शब्दावली

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य हमारे संविधान में शामिल विभिन्न मौलिक अधिकारों से आपको परिचित करवाना है तथा उनके महत्व की व्याख्या करना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- मौलिक अधिकारों के उदय और विकास को बता सकेंगे
- मौलिक अधिकारों के अर्थ और स्वरुप की व्याख्या कर सकेंगे
- मौलिक अधिकारों को और उसके विभिन्न उपबंधो को जान सकेंगे

6.1 प्रस्तावना

मौलिक अधिकार व्यक्ति के जीवन की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक हैं। इन अधिकारों को मौलिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनके अभाव में व्यक्ति अपने व्यक्तित्वा का विकास नहीं कर सकता है। भारत में प्रत्येक व्यक्ति के लिए मौलिक अधिकारों की मांग स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही प्रारंभ हो गयी थी। वर्ष 1928 में मोतीलाल नेहरु द्वारा प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट (नेहरु रिर्पोट) में भी मौलिक अधिकारो की मांग की गयी थी। संविधान निर्मात्री सभा की योजना प्रस्तुत करने वाले कैबिनेट मिशन द्वारा यह सुझाव दिया गया की मौलिक अधिकारों तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सिफारिश करने के लिए एक समिति का गठन किया जाना चाहिए। इसके परिणाम स्परुप सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में परामर्श समिति का गठन किया गया। इस परामर्श समिति द्वारा जे. बी. कृपलानी की अध्यक्षता में एक उपसमिति गठित की गयी। परामर्श समिति तथा उपसमिति की सिफारिशों के आधार पर ही संविधान में मौलिक अधिकारों को शामिल किया गया।

भारत में मौलिक अधिकार संविधान का अभिन्न अंग है। इनका वर्णन संविधान के भाग तीन में किया गया है। यह वर्णन बेहद विस्तृत और व्यापक रुप से किया गया है। भारत के संविधान में 6 मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है, ये निम्नलिखित है :–

1. समानता का अधिकार
2. स्वतंत्रता का अधिकार
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार
5. संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार
6. संविधानिक उपचारों का अधिकार

मूलतः संपत्ति का अधिकार भी एक मौलिक अधिकार था। 44वें संशोधन द्वारा इसे मौलिक अधिकार के स्थान पर एक वैधानिक अधिकार बना दिया गया। मौलिक अधिकारों का वर्णन अनुच्छेद 12–35 तक किया गया है।

6.2 सामान्य उपबंध

मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित विभिन्न उपबंधो में 'राज्य' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। अनुच्छेद 12 में राज्य शब्द की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार जब भी राज्य शब्द का प्रयोग किया जायेगा, तो उसका आशय होगा, भारत की सरकार और संसद, राज्यों में से प्रत्येक राज्य की सरकार और विधान–मंडल, भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सभी स्थानीय और अन्य प्राधिकारी। इस अनुच्छेद में प्रयोग हुए 'प्राधिकारी' शब्द का प्रयोग उस शक्ति के लिए किया गया है जो कानून, आदेश, अधिसूचना आदि को बनाने या जारी करने तथा उसका पालन सुनिश्चित कराती हो। स्थानीय प्राधिकारी का आशय ग्राम पंचायत, ब्लाक पंचायत, जिला पंचायत, नगर पालिका आदि से है। 'अन्य प्राधिकारी' के अन्तर्गत वे सभी संस्थायें या संगठन आते है जो संविधान या किसी संसदीय अधिनियम द्वारा स्थापित किये गए है और जिन्हें कानून बनाने का या उसी प्रकार का आदेश जारी करने की शक्ति है। इसका उदाहरण है विद्युत बोर्ड, जल बोर्ड, विश्वविद्यालय, सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाली इकाई जैसे N.T.P.C., B.H.E.L. आदि।

अनुच्छेद 13 में यह व्यवस्था दी गयी है कि संविधान के प्रारम्भ होने के ठीक पूर्व भारतीय राज्यक्षेत्र में प्रचलित वे सभी कानून उस सीमा तक अवैध माने जायेंगे जिस सीमा तक वे मौलिक अधिकारो के प्रतिकूल होंगे या असंगत होंगे। इस अनुच्छेद में ये भी कहा गया है कि यदि भविष्य में भारत सरकार कोई ऐसा कानून बनाती है, जो मौलिक अधिकारो को छीनता या कम करता है तो वक कानून उस सीमा तक अवैध माना जायेगा।

6.3 समानता का अधिकार

भारत के संविधान में अनुच्छेद 14 से 18 तक समानता के अधिकार का वर्णन किया गया है। अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि भारत राज्य क्षेत्र किसी व्यक्ति को विधि के सम्मुख समानता से या विधियों के सामान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। इसका अर्थ है भारत में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति को विधि से ऊपर नहीं समझा जायेगा।

अनुच्छेद 15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है। यह अधिकार समाज में समानता लाने के लिए किया गया एक प्रयास है। इस अनुच्छेद में राज्य को यह आज्ञा दी गयी है की वह इन आधारों पर विभेद न करे। किसी भी व्यक्ति को इन में से किसी भी आधार पर किसी सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग से रोका नहीं जा सकता है। राज्य स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबंध करने की शक्ति देता है। इसी के साथ सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के लिए तथा अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए विशेष उपबंध करने के लिए राज्य स्वतंत्र है।

अनुच्छेद 16 राज्य के अधीन सेवाओं में सभी नागरिकों को नियुक्ति का समान अवसर देने का प्रावधान करता है। संविधान ने अवसर की समानता का प्रावधान करते हुए कहा है कि सरकारी पदों पर नियुक्ति के मामले में राज्य द्वारा नागरिकों के बीच उनके धर्म, जाति, निवास स्थान आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद 16 में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि

यदि संसद चाहे तो किसी सेवा के लिए आवास की योग्यता रख सकता है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि राज्य विभिन्न सेवाओं में राज्य के पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण का प्रावधान कर सकता है। वर्ष 1995 में संविधान में हुए 77वें संशोधन ने मौलिक अधिकारों में एक उपधारा 16(4–।) जोड़ी गयी। इस उपधारा में कहा गया कि यदि राज्य को ऐसा लगे की सेवाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजाति का उचित प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह सेवाओ में पदोन्नति के समय आरक्षण का प्रावधान कर सकती है।

'अस्पृश्यता' भारतीय समाज की एक ऐसी समस्या है जिसे दूर करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक प्रयास किए गए। अनुच्छेद 17 'अस्पृश्यता' को अवैधानिक घोषित करता है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य था 'अस्पृश्यता' जैसे अमानवीय व्यव्हार से भारतीय समाज को मुक्त करना। वर्तमान समय में अस्पृष्यता को व्यव्हार में लाना एक दंडनीय अपराध है।

अनुच्छेद 18 सैनिक तथा शैक्षणिक उपाधियों को छोड़ राज्य द्वारा किसी उपाधि देने पर प्रतिबन्ध लगता है। स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेज सरकार 'रायबहादुर' इत्यादि जैसी उपाधियां देती थी जिससे सामाजिक समानता प्रभावित होती थी। यह अनुच्छेद इस प्रकार की व्यवस्था को समाप्त करने का कार्य करता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने कई पुरस्कार देने प्रारंभ किये है जैसे भारतरत्न, पदमश्री इत्यादि। इन पुरस्कारों को उपधियों की तरह प्रयोग नहीं किया जा सकता, ये केवल अलंकरण मात्र ही है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

प्र0–1 अनुच्छेद 12 में ''राज्य'' को कैसे परिभाषित किया गया है?

.....

.....

.....

.....

प्र0–2 निम्नलिखित को पूरा कीजिए?

(क) अनुच्छेद..... में अस्पृश्यता को अवैधानिक घोषित किया गया है।

(ख) अनुच्छेद..... को वर्ष 1995 में हुए 77वें संशोधन के माध्यम से मौलिक अधिकारों का हिस्सा

(ग) अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समता अथवा ..... से वंचित नहीं करेगा।

6.4 स्वतंत्रता का अधिकार

संविधान में स्वतंत्रता सम्बन्धित अधिकारों का वर्णन अनुच्छेद 19 से 22 तक किया गया है। स्वतंत्रता के अधिकारों को संविधान की आत्मा भी कहा जाता है।

अनुच्छेद 19 नागरिकों को छः महत्वपूर्ण स्वतंत्रताए प्रदान करता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि सभी नागरिकों को –

(a) वाक् स्वातंत्रय और अभिव्यक्ति स्वातंत्रय का

(b) शांतिपूर्ण और निरायुध सम्मेलन का

(c) समुदाय या संघ बनाने का

(d) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वख अबाध संचरण का

(e) भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का

(g) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता का अधिकार होगा।

प्रारम्भ में 7 स्वतंत्रताएं नागरिकों को प्रदान की गयी थी जिसमें सम्पत्ति खरीदने और बेचने का अधिकार भी नागरिकों को प्रदान किया गया था। 44वें संशोधन के माध्यम से यह अधिकार की श्रेणी से हटा दिया गया है। संपत्ति का अधिकार अब एक वैधानिक अधिकार है। ये सभी स्वतंत्रताएं असीमित नहीं है इसी अनुच्छेद में इन स्वतंत्रताओं की सीमा को भी बताया गया है।

वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। प्रेस की स्वतंत्रता भी इसी स्वतंत्रता में सम्मिलित है। परन्तु इसकी एक सीमा होना भी आवश्यक है। संविधान में निम्नलिखित आधारो पर वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर सीमा निर्धारित की है। ये है; राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मत्रिपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में, न्यायालय का अवमान, मानहानि, अपराध उद्दीपर, भारत की प्रभुता और अखंडता।

भारत का संविधान लोगों को शांतिपूर्वक निरायुध सम्मेलन करने की स्वतंत्रता देता है परन्तु इस अधिकार को लोक व्यवस्था एवं भारत की प्रभुता के आधार पर सीमित किया जा सकता है।

स्वतंत्रता के अधिकार में ही समुदाय और संघ बनाने का अधिकार है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है क्योंकि इसके अभाव में कोई भी राजनैतिक दल, मजदूर दल, औद्योगिक संघ तथा अन्य कोई भी संघ नहीं बनाया जा सकता है। ये सभी समुदाय और संघ लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। इस स्वतंत्रता की भी सीमा इसी अनुच्छेद में दी गयी है। भारत की प्रभुता और अखंडता, लोक व्यवस्था और सदाचार इस स्वतंत्रता को सीमित करते है।

भारत के लोगो को भारत में कहीं पर भी बसने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस अधिकार की भी सीमा सुनिश्चित की गयी है। सामान्य जनता के हित में इस पर रोक लगाई जा सकती है। सरकार यदि चाहे तो अनुसूचित जाति

एवं जनजातियों के हितों को देखते हुए भी इस स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

भारत अपने निवासियों को कोई भी आजीविका अपनाने का अधिकार प्रदान करता है। राज्य इन अधिकारों को व्यावसायिक या तकनीकी योग्यताओं के आधार पर या राज्य द्वारा चलाये जाने वाले किसी व्यापार, कारोबार या के लिए प्रतिबंधित कर सकता है।

6.4.1 दोषी ठहराए जाने के बारे में (संरक्षण)

अनुच्छेद 20 में अपराधों के लिए दोषसिद्धि के सम्बन्ध में संरक्षण के उपाय बताये गए है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक दोषी नहीं ठहराया जा सकता जब तक उसने ऐसा कोई कार्य करने के समय, उस समय लागू किसी विधि का उल्लंघन नहीं किया हो। ऐसे व्यक्ति को उस अपराध के लिए वही दण्ड दिया जायेगा जो उस अपराध के करते समय विधि द्वारा प्रावधानित हो। इसका यह अर्थ है कि भविष्य में बनायी हुई कोई भी विधि अतीत में किये गए किसी कार्य को अपराध घोषित करके उस कार्य के करने वाले को दण्डित नहीं कर सकती।

6.4.2 जीवन की सुरक्षा और निजी स्वतंत्रता

अनुच्छेद 21 जीवन की सुरक्षा एंव सार्थकता से सम्बन्धित है। इसमें प्रावधान है कि, किसी भी व्यक्ति (नागरिक और अनागरिक दोनों को) उसके प्राण या दैहिक स्वातंत्रय से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जायेगा अथवा नहीं।

इस अधिकार का महत्व इसी बात से समझा जा सकता है कि इसे आपातकाल में भी स्थगित नहीं किया जा सकता है। यह अधिकर भारत में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति चाहे वो भारत का नागरिक हो या नहीं, प्राप्त है। दैहिक स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि, जीवन जीने के लिए जितनी भी मूलभूत आवश्यकताये है, वे सभी इसकी परिधि में आ जाती है। अब तक विभिन्न निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने निम्नलिखित को भी जीवन के अधिकार के लिए आवश्यक माना है क्योंकि इसके अभाव में जीवन के अधिकार का उचित रुप से प्रयोग संभव नहीं है। जैसे– विदेश भ्रमण का अधिकार, मानव गरिमा के साथ जीने का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, पीने योग्य शुद्ध जल का अधिकार, अच्छी सड़कों का अधिकार, पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य के रक्षण का अधिकार.....

समय–समय पर दिए गए न्यायिक निर्णय के कारण यह अधिकार बेहद विस्तृत हो गया है। इसी का परिणाम है कि शिक्षा के अधिकार को अब मौलिक अधिकार का एक भाग बना दिया गया है। वर्ष 2002 में संविधान में 86वें सं"ोधन के माध्यम से अनुच्छेद 21 (।) को जोड़ा गया। इस अनुच्छेद में कहा गया है; राज्य 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, उसी प्रकार की रीति से जैसे राज्य, विधि अनुसार निर्धारित करे, देने की व्यवस्था करें।

6.4.3 गिरफ्तारी से संरक्षण

अनुच्छेद 22 जीवन के अधिकार को व्यक्ति की गरिमा के साथ जोड़कर देखता है। यदि किसी व्यक्ति को गिरफ्तार किया गया है तो उस दशा में उसके अधिकार क्या होंगे यह बात इस अनुच्छेद में वर्णित है। अनुच्छेद 22 में स्पष्ट किया

है, कोई भी व्यक्ति जो बंदी बनाया गया है, उसे बंदीकरण के कारणों से यथा शीघ्र अवगत कराये बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जाए। बंदी बनाये जानेवाले व्यक्ति को उसके रुचि की वकील से परामर्श करने तथा प्रतिरक्षा करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा। बंदी बनाये जानेवाले व्यक्ति को 24 घंटे के अन्दर (यात्रा के लिए आवश्यक समय छोड़ कर) किसी निकटतम मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत करना आवश्यक होगा और मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना उसे 24 घंटो से ज्यादा हिरासत में नहीं रखा जा सकता है।

उपरोक्त बाते किसी ऐसे गिरफ्तार व्यक्ति पर लागू नहीं होंगी जो शत्रु देश का निवासी हो या जिसे निवारक निरोध के अन्तर्गत हिरासत में लिया गया हो।

भारतीय संविधान की एक विशेषता है कि इसमें निवारक निरोध का प्रावधान मौलिक अधिकारों में ही दिया गया है। निवारक निरोध का वह कानून है जिसके माध्यम से पुलिस को यह अधिकार दिया है कि वह किसी भी व्यक्ति को संदेह के आधार पर गिरफ्तार व्यक्ति को संदेह के आधार पर गिरफ्तार कर सकती है कि वह भविष्य में कोई अपराध कर सकता है। निवारक निरोध के अधीन गिरफ्तार व्यक्ति को तीन माह तक हिरासत में रखे जाने का प्रावधान है, यदि तीन माह से अधिक समय तक पुलिस बंदी को हिरासत में रखना चाहे तो उसे परामर्शदात्री बोर्ड से अनुमति लेनी होगी। निवारक निरोध के अंतर्गत हिरासत में लिए गए व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी का कारण उस परिस्थिति में नहीं बताया जायेगा, जब परार्शदात्री बोर्ड के मत में ऐसा करना लोकमत के विरुद्ध हो। यह अनुच्छेद भारतीय संसद को यह अधिकार देता है की वह निवारक निरोध का कानून बनाकर यह प्रावधान कर सकती है। भारतीय संसद समय–समय पर निवारक निरोध संबंधी कानून बनती रही है। 1950 में संसद ने पहली बार निवारक निरोध का कानून पारित किया। MISA, TADA, POTA संसद द्वारा पारित निवारक निरोध अधिनियम है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) अनुच्छेद 22 में किस प्रकार दोषी ठहरायें जाने के समय संरक्षण का अधिकार प्रदान किया जाता है?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) अनुच्छेद 19 नागरिको को कितनी स्वतंत्रताये प्रदान करता है?

(ख) वर्ष 2002 में संविधान में कौन सा नया अधिकार जोड़ा गया है?

(ग) किस अधिकार के अन्तर्गत मानव गरिमा के साथ जीने का अधिकार आता है?

3) निवारक निरोध कया होता हैं?

.....

.....

.....

.....

6.5 शोषण के विरुद्ध अधिकार

शोषण के विरुद्ध अधिकारों का वर्णन अनुच्छेद 23 और 24 में किया गया है। अनुच्छेद 23 मानव का दुर्व्यापर और बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य बलात् श्रम को अपराध घोषित करता हैं। यह अधिकार भारत में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। यह भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक गरिमामयी जीवन प्रदान का अधिकार प्रदान करता है।

अनुच्छेद 24 के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को किसी कारखाने या खान में काम करने के लिए नियोजित नहीं किया जायेगा। ये प्रावधान बालशोषण रोकने के लिए एक प्रयास है। कम आयु के बच्चों के लिए इस प्रकार का काम हानिकारक हो सकता है।

6.6 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतंत्रता संबंधी अधिकारों का वर्णन किया गया है। अनुच्छेद 25 अंतःकरण और धर्म को अबोध रुप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। परन्तु यह धार्मिक स्वतंत्रता अबाध नहीं है। लोकव्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए व्यक्ति इन अधिकरों का पालन कर सकता है। राज्य को यह अधिकार है की सामाजिक कल्याण व सुधार के लिए सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों तथा अनुभागों के किये खोलने का उपबंध करने वाला कोई कानून बनाये।

संविधान प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपने धार्मिक मामलों का प्रबंध करने अथवा धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए चल तथा संपति अर्जित करने तथा उस संपति के प्रशासन का अधिकार देता है। अनुच्छेद 27 सरकार पर यह प्रतिबन्ध लगता है कि वह किसी भी व्यक्ति को ऐसा कोई कर देने के लिए बाध्य नहीं करेगी जिसका व्यय किसी धर्म विशेष अथवा धार्मिक संप्रदाय को पोषित करने के लिए हो। इसी के साथ अनुच्छेद 28 में यह कहा गया है कि राज्यनिधि से पूर्णतः पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। यह मौलिक अधिकार भारत के धर्मनिरपेक्ष स्वरुप को व्यक्त करता है।

6.7 संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

अनुच्छेद 29 और 30 संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार प्रदान करते है। भारत बहुत सी बोलियाँ, भाषायें और संस्कृतियों की जन्मस्थली रहा है भारत के इसी स्वरुप का यह अधिकार संरक्षिण करता है। अनुच्छेद 29 में कहा गया है कि भारत के किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी वि"ोष भाषा, लिपि, या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। इसी अनुच्छेद की उपधारा 2 में यह कहा गया है कि राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति भाषा अथवा इनमें से किसी आधार पर वंचित नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद 30 धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार प्रदान करता है। इसी अनुच्छेद की उपधारा (2) में कहा गया है कि सरकार शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में किसी प्रकार की उपधारा (2) में कहा गया है कि सरकार शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं करेगी, चाहे वह अल्पसंख्यकों के प्रबंधन से संबंधित हो या धर्म और भाषा पर आधारित हो। इस अधिकार का मूल उद्देश्य अल्पसंख्यकों को यह आश्वासन देना है कि भारत में बहुसंख्यकों की निरंकुशता नहीं होगी।

6.8 संविधानिक उपचारों का अधिकार

अनुच्छेद 32 में संविधिनिक उपचारों का अधिकार प्रदान किया गया है। इसका महत्व डॉ0 अम्बेडकर के शब्दों से लगाया जा सकता है। उन्होंने कहा, ''यदि मुझसे पूछा जाये कि संविधान में कौन सा अनुच्छेद सबसे महत्वपूर्ण है, जिसके बिना यह संविधान शून्य हो जायेगा, तो मैं इसके सिवाय किसी दूसरे अनुच्छेद का नाम नहीं लूँगा, यह संविधान की आत्मा है।'' अनुच्छेद 32 में कहा गया है कि यदि सरकार कोई ऐसा कानून बनती है या कोई ऐसा कार्य करती है जिससे नागरिकों के किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण होता हो तो वह सर्वोच्च अथवा उच्च न्यायालय में याचिका दे सकता है।

नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए पाँच प्रकार के प्रलेख (रिट) जरी करने का अधिकार प्रदान किया गया है। यह प्रलेख निम्न प्रकार के हैं–

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण प्रलेख (रिट ऑफ हबेअस कार्पस) यह प्रलेख एक आदेश के रुप में होता है। इसमें न्यायालय यह आदेश देता है कि किसी गिरफ्तार व्यक्ति को उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाये।

2. परमादेश प्रलेख (रिट ऑफ मैनदेमस) यह प्रलेख तब जारी किया जाता है जब सार्वजनिक संस्था को उसके सार्वजनिक दायित्वों तथा कर्तव्यों का पालन करवाना हो। यह प्रलेख प्राइवेट व्यक्ति तथा संस्थाओं के विरुद्ध जारी नहीं किया जा सकता।

3. प्रतिषेध प्रलेख (रिट ऑफ प्रोहिबेशन) यह प्रलेख तब जारी किया जाता है जब कोई निम्न न्यायालय अपने अधिकारक्षेत्र से बाहर जाकर कोई कार्यवाही करे या निर्णय दे, तो उच्च न्यायालय यह प्रलेख जारी कर उसे अपनी सीमा में रहने का आदेश देता है।

4. उत्प्रेषण प्रलेख (रिट ऑफ सेथिओरेए) यह प्रलेख न्यायालय द्वारा तब जारी किया जाता है जब निम्न न्यायालय अपनी अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर कोई निर्णय दे चुका हो।

5. अधिकार पृच्छा (रिट ऑफ कुओ वारंटो) यह प्रलेख किसी व्यक्ति कोई ऐसा सार्वजनिक पद ग्रहण करने से रोकने के लिये जारी किया जाता जिस पद को ग्रहण करने की अहर्ताएँ पूरी न करता हो।

6.9 सारांश

भारतीय संविधान अपने सभी नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करता है। कुछ ऐसे भी अधिकार है जो भारत में रहने वाले हर व्यक्ति को प्राप्त है चाहे वो भारत का नागरिक हो अथवा नहीं। ये मौलिक अधिकार भारत की अपनी वि"ौष सामाजिक परिस्थिति को ध्यान में रख कर बनाये गए है। समानता का अधिकार भारत के सभी वर्गों और व्यक्तियों को बराबरी का स्थान देता है। स्वतंत्रता का अधिकार भारत के लम्बे राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष का परिणाम है। भाषा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कहीं भी आने–जाने की स्वतंत्रता, जीवन की स्वतंत्रता, आदि स्वतंत्राएँ वो हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास और अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता भारत के धर्म निरपेक्ष पहलु को परिलक्षित करती है। संविधानिक उपचारों का अधिकार मौलिक अधिकारों को और शक्ति प्रदान करते हैं। मौलिक अधिकारों में समय–समय पर संशोधन होते रहे है। वर्ष 2002 में शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकार घोषित किया गया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) अनुच्छेद 32 में वर्णित संविधानिक उपचारों के अधिकार क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) किस अनुच्छेद में मानव दुर्व्यव्यापार और बेगार को अपराध घोषित किया गया है?

(ख) किसने अनुच्छेद 32 को संविधान की आत्मा कहा है?

(ग) किस अनुच्छेद में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार वर्णित है?

3) परमादेश प्रलेख के बारे में आप क्या जानते हैं?

.....

.....

.....

6.10 उपयोगी पुस्तकें

शर्मा, ब्रज किशोर (2011) : भारत का संविधान एक परिचय, नई, दिल्ली, पी.एच. आई. लरनिंग पी0लि0

सईद, एस.एम. (2011) : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, लखनऊ भारत बुक सेण्टर

पायली, एम.वी. (1984) कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इण्डिया, नई दिल्ली, एस. चांद एण्ड कम्पनी

6.11 शब्दावली

अस्पृश्यता : जाति के आधार पर छुआ–छूत का भेद–भाव

निवारक निरोध : पहले से रोकने वाला कानून

6.12 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखे 6.2

2 (क) अनुच्छेद 17

(ख) 6

(ग) सम्पत्ति का अधिकार

बोध प्रश्न 2

1) देखे 6.4.3

2) (क) 6

(ख) शिक्षा का अधिकार

(ग) जीवन की सुरक्षा और निजी स्वतंत्रता

3) देखें 6.4.3

बोध प्रश्न 3

1) देखे 6.8

2 (क) अनुच्छेद 23

(ख) भीम राव अम्बेडकर

(ग) अनुच्छेद 25

3) देखें 6.8

इकाई 7

राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत

ईकाई की रुपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 अर्थ एवं विशेषताये

7.3 नीति निदेशक सिद्धांतों का वर्गीकरण

7.3.1 सामाजिक आर्थिक सिद्धांत

7.3.2 गांधीवादी सिद्धांत

7.3.3 अन्तराष्ट्रीय शांति सम्बन्धी सिद्धांत

7.3.4 अन्य सिद्धांत

7.4 नीति निदेशक सिद्धांत और मौलिक अधिकारो में सम्बन्ध

7.5 नीति निदेशक सिद्धांतो का औचित्य

7.6 नीति निदेशक सिद्धांतो का कार्यान्वयन

7.7 सारांश

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तके

7.9 शब्दावली

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का मूल उद्देश्य आपको राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतो के स्वरुप, उपबंधो, अभिप्राय और विषय क्षेत्र से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- नीति निदेशक सिद्धांतो का अर्थ एवं उसकी विशेषता जान सकेंगे
- नीति निदेशक सिद्धांतो को वर्गीकृत कर सकेंगे
- नीति निदेशक सिद्धांतो के औचित्य को जान सकेंगे
- मौलिक अधिकारों से सम्बन्धो को समझ सकेंगे

7.1 प्रस्तावना

राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत का वर्णन संविधान के भाग चार के अनुच्छेद 36 से 51 तक किया गया है। संविधान निर्माताओं ने यह विचार आयरलैंड के संविधान से लिया है। राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतो के महत्व पर प्रकाश डालते हुए ग्रेवविल ओंस्टिन ने कहा, ''यह कहना गलत न होगा कि मूल अधिकार तथा नीति निदेशक सिद्धांत संविधान की अंतरात्मा हैं।''

7.2 अर्थ एवं विशेषताएं

स्वतंत्रता के समय भारत विभिन्न प्रकार की सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से संघर्ष कर रहा था। संविधान निर्माता देश के भविष्य के लिए कुछ आदर्श स्थापित करना चाहते थे जिससे भारत में सामाजिक, आर्थिक, और राजनितिक लोकतंत्र और न्याय की स्थापना की जा सके। इन्ही आदर्शों का वर्णन राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतो में किया गया है। अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि राज्य के नीति निदेशक तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।

अक्सर ये प्रश्न उठता है कि यदि ये सिद्धांत देश के लिए आदर्श है तो इन्हें बाध्यकारी क्यों नहीं बनाया है? वास्तव में राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत भारत के भावी शासकों के लिए मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। स्वतंत्रता के समय भारत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति इस प्रकार की नहीं थी कि इन सिद्धांतों को लागू करने की मांग करते। जिसके लिए सरकार सक्षम नहीं थीं।

7.3 नीति निदेशक सिद्धांतो का वर्गीकरण

संविधान में नीति निदेशक सिद्धांतो का वर्गीकरण नहीं किया गया है। परन्तु इनकी प्रकृति के अनुसार इन्हें चार भागों में वर्गीकृत कर देखा जा सकता है।

1. सामाजिक–आर्थिक सिद्धांत
2. गांधीवादी सिद्धांत
3. अंतराष्ट्रीय शांति सम्बन्धी सिद्धांत
4. अन्य सिद्धांत

7.3.1 सामाजिक–आर्थिक सिद्धांत

इन सिद्धांतो का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान करना है। ये लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करना।

1. अनुच्छेद 38 में कहा गया कि, राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्न करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करे। इसी अनुच्छेद के उपबंध 2 में कहा गया है कि राज्य विशेष रुप से आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता को समाप्त करने का प्रयत्न करेगा।

2. अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि राज्य ऐसी नीति का निर्माण करेगा जिसमें

   i. सामान रुप से स्त्री और पुरुष सभी नगरिकों को जीविकोपार्जन के साधन हो सकें।

   ii. जिसमें समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो, जिससे सामूहिक हित का सर्वोतम रुप से साधन हो

   iii. आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन–साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी स्केंद्रण न हो

   iv. पुरुषों और स्त्रियों को सामान कार्य के लिये सामान वेतन मिले

   v. ऐसी औद्योगिकनीति बनाई जाये जिसमें शोषण न हो

   vi. बच्चों और युवकों की शोषण से तथा भौतिक और नैतिक परित्याग से रक्षा की जाये

3. अनुच्छेद 39 (कं) के अनुसार समान न्याय और कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता देने की व्यवस्था की जाये।

4. अनुच्छेद 41 में नागरिकों को काम पाने, शिक्षा पाने और बेकारी, बुढापे तथा बीमारी आदि में राज्य द्वारा लोक सहायता देने का प्रावधान किया गया है।

5. अनुच्छेद 42 में महिलाओं के लिए प्रसूति सहायता तथा मजदूरों के लिए काम की उची परिस्थिति के निर्माण के लिए कहा गया है।

6. अनुच्छेद 43 में सभी कर्मकारों के निर्वाह, मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर तथा सामाजिक और सांसकृतिक अवसर प्रदान करने का प्रावधान है।

7. अनुच्छेद 43। में उद्योगों के प्रबंधन में कर्मकारों के भाग लेने के लिए कदम उठाने का प्रावधान है।

8. अनुच्छेद 47 नागरिकों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊचा करने तथा लोक स्वास्थ्य को सुधारने और मादक वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने का निर्देश देता है।

7.3.2 गांधीवादी सिद्धांत

ये वे सिद्धांत है जो महात्मा गांधी द्वारा बताए गए आदर्शो विचारों पर आधारित है।

1. अनुच्छेद 40 में ग्राम पंचायतों का गठन और उन्हें आवश्यक शक्तियां प्रदान कर स्व–सरकार की इकाई के रुप में कार्य करने की शक्ति प्रदान करने की बात कही गई है।

2. अनुच्छेद 43 में ग्रामीण क्षेत्रों के कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा राज्य से की गयी है।

3. अनुच्छेद 45 में अनुसूचित जाति एवं जनजाति और समाज के कमजोर वर्गों के शैक्षिणिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहन और सामाजिक अन्याय एवं शोषण से सुरक्षा की बात कही गयी है।

4. अनुच्छेद 47 मादक द्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की बात कहता है।

5. अनुच्छेद 48 गौरक्षा तथा कृषि के वैग्यनिकरण को प्रोत्साहित करने की बात करता है।

7.3.3 अंतराष्ट्रीय शांति से सम्बन्धित सिद्धांत

अनुच्छेद 51 में कहा गया है कि राज्य

a) अंतराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का

b) राष्ट्रो के बीच न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण सम्बन्धो को बनाये रखने का

c) संगठित लोगों के एक दूसरे से व्यवहार में अंतराष्ट्रीय विधि और संधि–बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ने का और

d) अंतराष्ट्रीय विवादों के माध्यम द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा

7.3.4 अन्य सिद्धांत

1. अनुच्छेद 44 के अनुसार राज्य पूरे भारत में समान व्यवहार सहित बनाने का प्रयास करेगा।

2. अनुच्छेद 45 में सभी बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने की बात कही गयी है। वर्ष 2002 में किए गए 86वें संशोधन द्वारा यह प्रावधान अब एक मौलिक अधिकार है। इसी संशोधन द्वारा इस अनुच्छेद में एक नया प्रावधान जोड़ा गया जिसमें राज्य को यह निर्देश दिया है कि राज्य 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों कि देख–रेख और शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

3. अनुच्छेद 48। में पर्यावरण संरक्षण तथा सवर्धन तथा अन्य जीवों की रक्षा के विषय में कहा गया है।

4. संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, वस्तुओं को, दूषित होने, स्थानान्तरित किये जाने तथा बाहर जाने से रोकने ओर उनकी रक्षा के निर्देश अनुच्छेद 49 में दिए गए हैं।

5. अनुच्छेद 50 राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने की बात कहता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) नीति निदेशक तत्वो के अर्थ को बताइये?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) किस अनुच्छेद में ग्राम पचायतो के गठन की बात की गयी है?

(ख) किस अनुच्छेद में अर्न्तराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना की बात की गयी है?

(ग) क्या नीति निदेशक तत्व न्यायोचित है?

3) क्या आप नीति निदेशक सिद्धांतो में स्थापित कुछ समाजवादी आर्दशो की विवेचना कर सकते है?

.....

.....

.....

.....

7.4 नीति निदेशक सिद्धांत और मौलिक अधिकारों में सम्बन्ध

मौलिक अधिकारकों और नीति निदेशक तत्वों के उद्देश्य सामान है– व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करना। परन्तु दोनों में मौलिक अंतर भी है। एलन ग्लादिहल के शब्दों में ''मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाए है। इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया गया है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत इसके विरुद्ध यह बतलाते है कि राज्य को क्या करना चाहिए।'' अनुच्छेद 37 में यह स्पष्ट कहा गया है देश में सरकार की शासन व्यवस्था के लिए कानून बनाने में इन निदेशक सिद्धांतो को व्यवहार में लाना राज्य का कर्तव्य होगा।

मौलिक अधिकारों की न्यायोचिता और नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए राज्य की बाध्यता और कर्तव्य ने दोनों ने मध्य टकराव को जन्म दिया है। मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धांतो को ले कर न्यायपालिका के विचार परिवर्तित होते रहे है।

वर्ष 1951 में मद्रास बनाम चंपाकम दुराईराजन मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह फैसला सुनाया था कि राज्य की नीति निदेशक सिद्धांत एवं मूल अधिकारो के बीच किसी प्रकार टकराव में मूल अधिकार प्रभावी होंगे। इस फैसले में यह भी कहा गया कि नीति निदेशक सिद्धांत, मूल अधिकारों के पूरक के रुप में निश्चित रुप से लागू होंगे। लेकिन यह भी तय हुआ कि मूल अधिकारों को संसद द्वारा संविधान संशोधन कि प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है। इसी निर्णय के फलस्वरुप संसद ने प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन पारित किया।

संविधान में हुए प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन की वैधानिकता को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। 1969 में गोलाखनाथ मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय परिवर्तित किया। अपने इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा संसद के पास यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के भाग तीन में दिए मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सके। इस फैसले के कारण संसद के लिए यह संभव नहीं रह गया की वह मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सके।

1971 के संसदीय चुनाव के पश्चात्, संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए संविधान में दो संशोधन किये गए। 24वें संशोधन में घोषणा की गयी की संसद को यह अधिकार है कि वह संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के माध्यम से संविधान के किसी भी भाग में जिसमें मौलिक अधिकारों को भी शामिल किया है, समाप्त कर सकती है या संशोधित कर सकती है। 25वें संशोधन के माध्यम से यह व्यवस्था कि गयी की अनुच्छेद 39 (इ) और (ब) में वर्णित समाजवादी निदेशक तत्वों को लागू करने वाली किसी विधि को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि वह मौलिक अधिकारों (अनुच्छेद 14, 19 और 31) का उल्लंघन कर रही है।

25वें संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। 1973 में केशवानंद भारती मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने एक एतिहासिक निर्णय दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा संविधान में संशोधन में करने कि शक्ति सीमित है। संसद मौलिक अधिकारों या संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है परन्तु इससे संविधान के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं आना चाहिए। अपने फैसले में न्यायाधीशों ने कहा, ''हमारे संविधान निर्माताओ ने मूल अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धांतों के बची किसी प्रकार के असमंजस कि कल्पना नहीं कि है, इनका उद्देश्य'' एक दूसरें कि अनुपूर्ति करना है। इस निर्णय ने संविधान के 25वें संशोधन को वैध ठहराया परन्तु अनुच्छेद 31( ) के अंतिम भाग को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसमें कहा गया था कि नीति निदेशक सिद्धान्तो को व्यावहारिक रुप देने वाला कानून न्याययोग्य नहीं होगा।

मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धान्तों के सम्बन्धे में एक बार फिर 42वें संशोधन के माध्यम से परिवर्तन आया। इस संशोधन ने यह व्यवस्था कर दी कि नीति निदेशक सिद्धांतो में से किसी भी सिद्धांत को कार्यान्वित करने के लिए बनाये गए किसी भी कानून को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण कर रहा है। (25 वें संशोधन में यह व्यवस्था केवल अनुच्छेद 39 के विषय में ही की गयी थी।)

1980 में सर्वोच्च न्यायालय में मिनर्वा मिल निर्णय के पश्चात् मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धांतो के सम्बन्ध में बार फिर परिवर्तन आया। इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने 42 वें संशोधन के उस प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसने समस्त नीति निदेशक सिद्धातो को मौलिक अधिकारों पर

प्राथमिकता दी थी। वर्तमान में नीति निदेशक सिद्धांत के अनुच्छेद 39 (इ) और (ब) को ही मौलिक अधिकारों पर प्रधानता दी गई है।

7.5 नीति निदेशक सिद्धान्तों का औचित्य

नीति निदेशक सिद्धांतों के विषय में अनुच्छेद 37 में स्पष्ट रुप से कहा गया है कि वे न्यायोचित नहीं है। इन्हें लागू करवाना राज्य का कर्तव्य होगा। दूसरे शब्दों में यदि राज्य इन नीति निदेशक तत्वों कि अनदेखी भी करता है तो उसे इन सिद्धान्तों को लागू करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। संविधान निर्मात्री सभा में नीति निदेशक तत्वों पर होने वाली बहस में कुछ लोगों ने इसे बिना संविधानिक महत्व के राजनीतिक घोषणाए कहा तो किसी ने इसे 'नव वर्ष के प्रथम दिन पारित किये गए प्रस्ताव' माना। आईवर नेनिंग्स के अनुसार नीति निदेशक तत्व पुणात्मा लोगों कि महत्वकंशायें हैं और आने वाले समय में ये तत्व निःसंदेह निरर्थक हो जायेंगे। संविधान निर्मात्री सभा के ही एक सदस्य के0टी0 शाह ने कहा कि 'यह एक ऐसा चेक है जिसका भुगतान बैंक कि सुविधा पर छोड़ दिया गया है।' बाध्यकारी शक्ति के बिना इनके औचित्य पर प्रश्न चिन्ह उठने लगता है, आखिर इन्हें संविधान का भाग क्यों बनाया गया है?

संविधान निर्मात्री सभा भारत के लिए एक व्यावहारिक संविधान बनाना चाहती थी। सभा के सदस्य जानते थे कि स्वतंत्रता के पश्चात् की परिस्थितियों में भारत में इन सिद्धान्तो को लागू करवाना संभव नहीं है। इसलिए भविष्य कि सरकारों के लिए दिशानिर्देश के रुप में उन्होनें नीति निदेशक तत्वों का प्रावधान दिया। ग्रेनविल ओंस्टिन के अनुसार, 'नीति निदेशक तत्वों का लक्ष्य सामाजिक क्रांति के लक्ष्यों को प्राप्त करना है, वे उन परिस्थितियों का निर्माण करते है जिसके माध्यम से इस क्रांति को सफल बनाया जा सकता है और उसे आगे भी बढ़ाया जा सकता है।' इनके पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है परन्तु फिर भी इसकी अनदेखी करना किसी भी सरकार के लिए आसान नहीं है। श्री अलादी कृष्णा स्वामी ने इसके महत्व को समझाते हुए कहा, 'कोई भी लोकप्रिय मंत्रीमंडल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबंध का उल्लंघन करने का दुस्साहस नहीं करेगा। संविधान का कोई भी आदेश चाहे वह न्यायोग्य न भी हो, सरकार के सभी अंगो के लिए प्रतिबंधक नहीं होता।' इनके पीछे जनता के शक्ति विद्यमान होती है।

नीति निदेशक सिद्धांत न्यायालयों के लिए भी मार्ग दर्शक का कार्य करते है। ये न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा कि शक्ति के प्रयाग में सहायता करते है। नीति निदेशक सिद्धान्तो में संविधान निर्मात्री सभा कि सोच परिलक्षित होती है।

नीति निदेशक तत्व राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों कि घरेलू और विदेशी नीतियों में स्थायीत्व और निरंतरता बनाये रखे है भले ही सत्ता में परिवर्तन क्यों न आता रहे ये विपक्ष द्वारा सरकार पर नियंत्रण को संभव बनाते है। इसी के साथ ये सरकार के प्रदर्शन कि भी कड़ी परीक्षा भी करते है। लोग सरकार की नीतियों और कार्यक्रमो का परिक्षण इन ही निदेशक तत्वों को ध्यान में रख कर करते है। यदि कोई सरकार जान–बूझ कर इन सिद्धान्तों कि उपेक्षा करती है तो उस सरकार को आने–वाले आम चुनावों में जनता–जनता को उत्तर देना होगा।

ऑस्टिन का मानना था कि राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों में सामाजिक क्रांति कि झलक दिखाई देती है। इसका उद्देश्य भारतीय जनता को सकारात्मक अर्थो में स्वतंत्र बनाना है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) मौलिक अधिकारों एवं नीति निदेशक सिद्धांतो के सम्बंधो की वर्तमान स्थिति क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए।

(क) सर्वोच्च न्यायालय ने किस मामले में संविधान के मूल ढांचे की बात कही थी?

(ख) किसका कथन है कि नीति निदेशक सिद्धांत वह चेक है जिसका भुगतान बैंक की सुविधा पर छोड़ दिया गया है।?

(ग) किसने कहा कि नीति निदेशक सिद्धांतो में सामाजिक क्रांति की झलक दिखाई देती है?

7.6 नीति निदेशक सिद्धान्तों का कार्यान्वयन

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने राज्य के नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए अनेक कार्यक्रम एवं विधियों को बनाया। भारत सरकार ने 1950 में योजना आयोग कि स्थापना कि अपने उस प्रस्ताव में, जिसके माध्यम से योजना आयोग कि स्थापना हुई, यह स्पष्ट रुप से कहा गया कि योजना आयोग का उद्देश्य नीति निदेशक सिद्धान्तो के अनुरुप सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को जन्म देना है। योजना आयोग ने अपनी विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के नीति निदेशक तत्वों को प्राथमिकता प्रदान कि है।

भाग चार के अनुच्छेद 40 में राज्य को यह निर्देश दिया था कि वह ग्राम पंचायतो का संगठन करने के लिए कदम उठायेगा। संविधान लागू होने के पश्चात पंचायती राज्य व्यवस्था स्थापित करना का प्रयास किया गया। वर्ष 1993 में संविधान में 73वें और 74वें संशोधन के माध्यम से इस नीति निदेशक तत्व को साकार रुप प्रदान किया गया। इन संशोधनों के माध्यम से संविधान में दो नए अध्याय 9 और 9। जोड़े गए। जिनमें ग्राम पंचायतों और स्थानीय निकायों के संगठन, शक्तियों और कार्यक्षेत्र का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इस संशोधन ने स्थानीय स्वशासन की इकाईयों को पहली बार संविधानिक दर्जा प्रदान किया है।

अनुच्छेद 47 मादक वस्तुओ के प्रयोग पर प्रतिबन लगाने का निर्देष देता है। इस निर्देश का अनुपालन करने के लिए कुत्च राज्य सरकारो ने अपने राज्यों में मद्यानिशेद कि नीति अपनायी है।

7.7 सारांश

नीति निदेशक सिद्धांत सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय के सिद्धांतो और आदर्शो से जन्मे हैं। इन्हें शासन के मूल आधार के रुप में देखा जा सकता है। राज्य से उससे यह आशा की जाती है कि वह अपनी बनाई गई विधियों में नीति निदेशक सिद्धांतों को स्थान देगा। न्यायोचित न होते हुए भी नीति निदेशक को कार्यान्वित करना सरकार का कर्तव्य है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

ii) अपने उत्तरो की जांच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1) नीति निदेशक सिद्धांतो के कार्यान्वयन का उदाहरण दीजिये?

.....

.....

.....

.....

7.8 उपयोगी पुस्तके

शर्मा, ब्रजकिशोर, 2011, भारत का संविधान एक परिचय पी0एच0आई लरनिंग लि0 दिल्ली

सईद0एम0एम0 2011, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेण्टर लखनऊ

बक्शी, पी0एम0, 2013, कान्सटीट्यूशन ऑफ इण्डिया, यूनिवर्सल लॉ पब्लिशन

7.9 शब्दावली

न्यायोचित : लागू न होने पर न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकती है

मार्ग दर्शक : आगे का रास्ता बताते है

7.10 बोध प्रश्नो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखे 7.3

2 (क) अनुच्छेद 40

(ख) अनुच्छेद 51

(ग) नहीं

3) 7.3.1

बोध प्रश्न 2

1) देखे 7.4

2) (क) केशवानन्द भारती

(ख) के0टी0 शाह

(ग) ऑस्टिन

बोध प्रश्न 3

1) देखे 7.6

इकाई–8

सर्वोच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय का संगठन

इकाई की रुपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 सर्वोच्च न्यायालय

8.2.1 सर्वोच्च न्यायालय का गठन

8.2.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति

8.2.3 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

8.2.4 कार्यकाल

8.2.5 सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से हटाया जाना : महाभियोग प्रक्रिया

8.2.6 न्यायाधीशों के वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ

8.2.7 उन्मुक्तियाँ

8.2.8 तद्र्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति

8.2.9 सेवा निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति

8.2.10 सर्वोच्च न्यायालय का अभिलेख न्यायालय होना

8.3 सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व

8.3.1 संविधान का रक्षक

8.3.2 संघात्मक व्यवस्था का रक्षक

8.3.3 मौलिक अधिकारों का रक्षक

8.4 सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता

8.4.1 प्रारम्भिक अधिकारिता

8.4.2 अपीलीय अधिकारिता

8.4.3 परामर्शदात्री अधिकारिता

8.5 सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता

8.5.1 कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण

8.5.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं पदावधि की संरक्षा

8.5.3 न्यायाधीशों के कर्तव्य पालन सम्बन्धी आचरण पर संसद में चर्चा पर रोक

8.5.4 न्यायालय के अवमान के लिये दण्ड देने की शक्ति

8.5.5 न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के मतदान से परे है।

8.5.6 कार्य प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति

8.6 न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति

8.7 न्यायिक सक्रियता

8.8 जनहित याचिका

8.9 सारांश

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 प्रस्तावना

आजादी प्राप्त करने के उपरान्त समस्त भारतवासियों के लिये दूसरी सबसे महत्वपूर्ण तिथि 26 जनवरी, 1950 थी। जब हमारा संविधान लागू हुआ। यह संविधान अपने आप में दुर्लभ था क्योंकि इसे भारत के बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी तथा बहुधर्मी समाज के लिए विशेष रुप से तैयार किया गया था। इसमें विश्व के प्रमुख संविधानों के महत्वपूर्ण तत्वों का निचोड़ तो है, किन्तु यह किसी की भी छायाप्रति नहीं है। जहाँ इंग्लैण्ड में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया, वहीं भारत में संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया। हमने संसदीय शासन प्रणाली के साथ–साथ संघात्मक शासन व्यवस्था को भी अपनाया है। जिसमें शक्तियों का विभाजन केन्द्र तथा राज्यों के मध्य होता है। यह विभाजन भौगोलिक तथा कार्यात्मक दोनों ही दृष्टियों से किया गया है। भौगोलिक दृष्टि से राजनीतिक शक्ति केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विभाजित है तथा कार्यात्मक दृष्टि से यह विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में विभक्त है। विधायिका का कार्य विधि निर्माण करना, कार्यपालिका का कार्य निर्मित विधियों को लागू करना और न्यायपालिका का कार्य उन विधियाँ का उल्लघंन करने वाले को दण्ड देना तथा समाज में न्याय तथा विधि के शासन को स्थापित करना है। इसी न्यायपालिका की शीर्षस्थ संस्था के रुप में संविधान में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। जिसका प्रमुख कार्य संविधान की रक्षा करना है।

इस इकाई के अन्तर्गत हम सर्वोच्च न्यायालय के गठन, उसकी कार्य प्रणाली, क्षेत्राधिकार तथा महत्व आदि विषयों का अध्ययन करेंगे तथा यह भी देखेंगे कि किस प्रकार इस संस्था ने समय के साथ–साथ महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली स्वरुप को प्राप्त किया है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पीछे हमारे निम्न लक्ष्य हैं:–

- भारतीय न्याय प्रक्रिया को समझना
- इस संवैधानिक संस्था के द्वारा कैसे नागरिक अधिकारों की रक्षा की जा सकती है।

- इससे समाज को मिलने वाले लाभों का अध्ययन।
- इसके (सर्वोच्च न्यायालय) सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों का अध्ययन कर भविष्य के लिये इसे कैसे और अधिक उपयोगी और मजबूत बनाया जाये। इन प्रश्नों पर विचार करना।

8.2 सर्वोच्च न्यायालय

भारत में एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष निकाय के रुप में न्यायपालिका का गठन किया गया है। इसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है। यह शीर्षस्थ है क्योंकि–

(i) इसका निर्णय अन्तिम होता है।

(ii) इसके निर्णय एवं संविधान की व्याख्या से सभी आबद्ध होते हैं।

(iii) यह विधायिका और कार्यपालिका के मध्य शक्तियों के पृथक्करण को बनाए रखता है।

(iv) यह संघवाद को मजबूत करता है तथा दो राज्यों अथवा केन्द्र तथा राज्यों के मध्य के विवादों को अन्तिम रुप से निपटाता है।

(v) यह संविधान तथा नागरिक अधिकारों का रक्षक है।

8.2.1 सर्वोच्च न्यायालय का गठन

संविधान का अनुच्छेद 124 भारत के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का उपबन्ध करता है। इसके अनुसार भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति और, जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती तब तक, सात से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। समय–समय पर आवश्यकतानुसार न्यायाधीशों की संख्या में बदलाव होते रहे हैं। 1977 में इसे बढ़ाकर 18कर दिया गया था। जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति भी सम्मिलित था। इसीप्रकार 1986 में इसे बढ़ाकर 26 कर दिया गया था। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में कुल 31 न्यायाधीश हैं। जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा 30 अन्य न्यायाधीश हैं।

8.2.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति

अनुच्छेद 124(2) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को कोई विवेकीय शक्ति प्राप्त नहीं है। राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् करेगा जिनसे इस प्रयोजन के लिये वह परामर्श करना आवश्यक समझे। इस प्रकार राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति करेगा। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सदा मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से

करेगा। इस सम्बन्ध में यदि वह चाहे तो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से भी परामर्श कर सकता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति आत्यन्तिक (इवसनजम) नहीं है। इस मामले में वह मंत्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है। जहाँ तक मुख्य न्यायाधीश का प्रश्न है, अनुच्छेद 124 के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान द्वारा विहित अर्हता रखने वाले किसी भी व्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेने को बाध्य है।

8.2.3 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के लिये किसी व्यक्ति में निम्नलिखित अर्हताओं का होना आवश्यक है।

(क) वह भारत का नागरिक हो और

(ख) किसी उच्च न्यायालय या दो या दो से अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम 5 वर्षों तक न्यायाधीश रहा हो। या

(ग) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम 10 वर्षों तक अधिवक्ता रहा हो। या

(घ) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो।

8.2.4 कार्यकाल

साधारणतया सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है। (अनुच्छेद 124(2))। किन्तु इस अवधि से पहले भी यदि वह चाहे तो राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकता है।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणीः i) नीचे दिये गये प्रश्नों के सही विकल्प का चयन कीजिए।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिये।

(1) सर्वोच्च न्यायालय कहाँ स्थित है?

(अ) कोलकाता (ब) मुम्बई

(स) नई दिल्ली (द) चेन्नई

(2) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कितनी होती है?

(अ) 30 (ब) 31

(स) 32 (द) 28

(3) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पद पर कितने वर्ष की आयु तक कार्य कर सकते हैं?

(अ) 65 वर्ष (ब) 62 वर्ष

(स) 60 वर्ष (द) 58 वर्ष

8.2.5 सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से हटाया जानाः महाभियोग प्रक्रिया

सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को उसके पद से निम्न दो आधारों पर ही हटाया जा सकता है– (1) सिद्ध कदाचार (2) असमर्थता। यह प्रक्रिया काफी जटिल है तथा इसको महाभियोग का नाम दिया गया है। इसके लिए आवश्यक है कि समावेदन संसद के प्रत्येक सदन द्वारा पृथक–पृथक रुप में (लोकसभा एवं राज्यसभा) की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा सदन में उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के कम से कम दो–तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित होना चाहिए। तत्पश्चात् समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा। और उसके आदेश दे देने के पश्चात् ही सम्बन्धित न्यायाधीश को उसके पद से हटाया जा सकता है। ऐसा समावेदन संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिए। ऐसे किसी प्रस्ताव के संसद में रखे जाने तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता के अन्वेषण और उसे साबित करने की प्रक्रिया संसद विधि द्वारा विनियमित करेगी। यह प्रक्रिया जटिल अवश्य है किन्तु इसके पीछे भी एक मकसद है कि न्यायाधीश के पद की गरिमा को बनाए रखा जा सके तथा न्यायाधीशों को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त हो सके। जिससे न्यायपालिका की निष्पक्षता और स्वतंत्रता भी बनी रह सके।

8.2.6 न्यायाधीशों के वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ

संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को इतना वेतन दिया जाएगा, जितना संसद विधि बनाकर अवधारित करे, और जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक वही वेतन दिया जाएगा जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट है।

इसके साथ ही प्रत्येक न्यायाधीश ऐसे भत्तों और विशेषाधिकारों को प्राप्त करने का हकदार होगा जो कि संसद विधि द्वारा अवधारित करे और यदि ऐसा नहीं किया जाता तो, तब तक ऐसे विशेषाधिकारों, भत्तों और अधिकारों का हकदार होगा जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं। न्यायाधीशों के विशेषाधिकारों और भत्तों में उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जायेगा जो उनके लिए अलाभकारी हो तथा न्यायाधीशों के वेतन से अन्य नागरिकों की भाँति आयकर अधिनियम के अन्तर्गत कर कटौती भी की जा सकती है।

8.2.7 उन्मुक्तियाँ

न्यायाधीशों को उनके पदपर रहते हुये दिये गये निर्णयों के लिये आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है। किन्तु शैक्षणिक दृष्टि से इन

निर्णयों की आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। महाभियोग प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त संसद अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं कर सकती है।

8.2.8 तद्‌र्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति

न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 127 में एक अन्य व्यवस्था यह की गयी है कि यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय के सत्र को आयोजित करने या चालू रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति प्राप्त न हो, तो भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश को, जो कि सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये सम्यक रुप से योग्य हो और जिसे भारत का मुख्य न्यायाधीश नामित करे, न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए जितनी आवश्यक हो तद्‌र्थ न्यायाधीश के रुप में कार्य कर सकता है। जब तक वह इस रुप में कार्य करेगा तब तक उसको सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे।

8.2.9 सेवा–निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति

अनुच्छेद 128 के अन्तर्गत सेवा–निवृत्त न्यायाधीशों को सर्वोच्च न्यायालय की बैठकों में न्यायाधीश के रुप में बैठने और कार्य कर सकने का प्रावधान किया गया है। यदि भारत का मुख्य न्यायाधीश, किसी भी समय, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से, जो सर्वोच्च न्यायालय या फैडरल न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका हो तथा सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए पूर्णतः योग्य हो, से सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रुप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध करता हो, तो वह यदि चाहे, तो इस रुप में (न्यायाधीश) कार्य कर सकेगा। इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान, ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे तथा उसको उस न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियाँ और विशेषाधिकार होंगे, किन्तु उसे अन्यथा उस न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जायेगा।

8.2.10 सर्वोच्च न्यायालय का अभिलेख न्यायालय होना

संविधान का अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय (court of record) घोषित करता है और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय में मुख्यतः दो बातें विहित होती हैं:–

(i) इसके समस्त निर्णय और समस्त कार्यवाहियाँ लिखित में होते हैं और इनको सदा के लिये सुरक्षित रखा जाता है। ताकि भविष्य में इनको अधीनस्थ न्यायालयों के समक्ष (Precedent) पूर्व –निर्णय के रुप में प्रस्तुत किया जा सके।

(ii) ऐसे न्यायालय को अपने अवमान के लिए दोषी किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने की भी शक्ति होती है। भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय को स्पष्ट रुप से यह शक्ति प्रदान करता है।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणीः i) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिए।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिए।

(1) संक्षेप में बताएं सर्वोच्च न्यायालय का गठन कैसे होता है?

.....
.....

.....

.....

(2) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को किस प्रकार पद से हटाया जा सकता है?

.....
.....

.....
.....

(3) अभिलेख न्यायालय से क्या तात्पर्य है?

.....
.....
.....

8.3 सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व

भारतीय राज व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय एक अति महत्वपूर्ण संस्था के रुप में स्थापित किया गया है। हमारे संविधान मनीषियों ने संविधान का निर्माण करते समय कार्यात्मक स्तर पर शक्तियों का विभाजन कुछ इस प्रकार किया कि शासन की तीनों संस्थाएँ परस्पर निर्भरता और स्वतंत्रता दोनों का भोग करते हुए कुछ इस प्रकार कार्य कर सकें जिससे कि वह एक दूसरे को अनुशासित और नियंत्रित भी कर

सकें। इस उपक्रम में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका और महत्व उल्लेखनीय है। इसके इस महत्व को इसके द्वारा सम्पादित कार्यों के सन्दर्भ में और अच्छी तरह से समझा जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय मुख्यतः तीन प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करती हैः—

8.3.1 संविधान का रक्षक

भारत में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के अधिकारिक व्याख्याता के रुप में कार्य किया जाता है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान का उल्लंघन करती है। उदाहरण के लिए 11 जुलाई, 2013 को सर्वोच्च न्यायालय का एक अति महत्वपूर्ण निर्णय आया है। इसके माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने राजनीति का अपराधीकरण रोकने की दिशा में फैसला देते हुए अदालत से सजा पाए सांसद—विधायकों की सदस्यता बनाए रखने वाले कानून को असंवैधानिक ठहरा दिया है। सर्वोच्च न्यायालय ने जन प्रतिनिधि कानून की धारा 8(4) को असंवैधानिक घोषित करते हुये कहा कि —"सरकार को कानून बनाकर सदस्य की अयोग्यता टालने का अधिकार नहीं है। संसद ने ऐसा कानून बनाकर संविधान में दिये गये कानून बनाने का अधिकार का अतिक्रमण किया है। इसलिए जनप्रतिनिधित्व कानून की धारा 8(4) असंवैधानिक घोषित की जाती है।"

8.3.2 संघात्मक व्यवस्था का रक्षक

संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र और राज्य सरकारों के मध्य शक्ति—विभाजन किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय इस संवैधानिक व्यवस्था की रक्षा करता है, तथा संघीय व राज्य सरकारों को उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर जाने से रोकता है तथा इनके मध्य उत्पन्न होने वाले किन्हीं विवादों का अन्तिम रुप से समाधान करता है।

8.3.3 मौलिक अधिकारों का रक्षक

भारतीय संविधान ने अपने नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं। जिनके उल्लंघन होने की दशा में प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होगा कि वह संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत सीधे सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा कर सकता है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय सरकार के बिरुद्व नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है।

8.4 सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता

सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित अधिकारिता प्राप्त हैः—

8.4.1 प्रारम्भिक अधिकारिता

8.4.2 अपीलीय अधिकारिता

8.4.1 प्रारम्भिक अधिकारिता

अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की प्रारम्भिक एवं अनन्य अधिकारिता का उल्लेख किया गया है। जिसे निम्नलिखित आधारों के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

(क) पक्षकारों की दृष्टि से

इस दृष्टि से निम्नांकित के बीच विवादों की प्रारम्भिक अधिकारिता केवल सर्वोच्च न्यायालय को ही है।

(i) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच के विवाद;

(ii) संघ और कोई राज्य एक ओर तथा एक राज्य दूसरी ओर;

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच।

उपरोक्त सभी प्रकार के विवाद प्रारम्भिक रुप से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष ही प्रस्तुत किये जायेंगे। इसके अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों द्वारा सरकार के विरुद्ध किये गये मुकदमों की सुनवाई नहीं करेगा।

(ख) जब विधि का प्रश्न अर्न्तग्रस्त हो

प्रारम्भिक अधिकारिता के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय उन्हीं विवादों को स्वीकार कर सकता है जिनमें–

(i) कोई ऐसा तथ्य या विधि का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो; अथवा

(ii) ऐसे प्रश्न पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर करता हो।

यहाँ पर 'विधिक अधिकार' से अभिप्राय ऐसे अधिकार से है। जो विधि द्वारा मान्य एवं न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय हो। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह न्यायालयों द्वारा ही लागू किया जाये। किसी भी प्रकार के राजनीतिक प्रश्न वाले मामले इस परिधि में नहीं आयेंगे।

(ग) मूल अधिकारों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अधिकारिता

संविधान का अनुच्छेद 32 मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकारिता प्रदान करता है। अर्थात् कोई भी नागरिक अपने मूल अधिकारों के उल्लंघन होने की दशा में सीधे सर्वोच्च न्यायालय में अपील सुनवाई के लिए जा सकता है। उसे पहले उच्च न्यायालय तथा किसी अन्य न्यायालय जाने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारियों के प्रवर्तन के लिये ऐसे निदेश, आदेश या रिट, जिनके अन्तर्गत बन्दी–प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा तथा उत्प्रेषण आदि

में, जो भी समुचित हों, जारी करने की शक्ति होगी। इस प्रकार यह नागरिकों को त्वरित न्याय प्रदान करता है। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारिों का संरक्षक भी कहा जाता है।

8.4.2 अपीलीय अधिकारिता

सर्वोच्च न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। इसे भारत के किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार है। ऐसी अपीलों में सर्वोच्च न्यायालय में दिया गया निर्णय अन्तिम होता है। उसके निर्णय के विरुद्ध कहीं भी कोई भी अपील नहीं की जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता हैः—

8.4.2.1 सांविधानिक मामले

8.4.2.2 सिविल मामले

8.4.2.3 दाण्डिक मामले

8.4.2.4 विशेष इज़ाजत से अपील

8.4.2.1 सांविधानिक मामलों में अपील

अनुच्छेद 132 इस बात का उपबन्ध करता है कि भारत के राज्य क्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की सिविल दाण्डिक या अन्य कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होगी यदि वह उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134(क) के अधीन प्रमाणित कर देता है कि उस मामले में इस संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अंतर्विलित है। चौवालिसवें संशोधन से पूर्व उच्च न्यायालय अपील फाइल करने का प्रमाण पत्र केवल पक्षकारों के आवेदन पर ही दे सकता था। अब यह ऐसा प्रमाण पत्र स्वयं दे सकता है।

अनुच्छेद 132 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय में अपील फाइल करने के लिये निम्नलिखित शर्ते हैंः—

(1) अपील उच्च न्यायालय के सिविल, दाण्डिक या अन्य कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय डिक्री या अन्तिम आदेश के विरुद्ध होनी चाहिए।

(2) मामले में संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो।

8.4.2.2 सिविल मामलों में अपील

संविधान के अनुच्छेद 133 के अन्तर्गत भारत के राज्य क्षेत्र में किसी उच्च न्यायालय की सिविल कार्यवाही में दिये गये किसी निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में तभी की जा सकेगी जब उच्च न्यायालय अनुच्छेद 139(क) के अधीन इस बात का प्रमाण पत्र दे दें कि—

(1) उस मामले में विधि का सार्वजनिक महत्व का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, और

(2) उच्च न्यायालय की राय में उस प्रश्न का सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है।

8.4.2.3 दाण्डिक विषयों में अपील

अनुच्छेद 134 के अन्तर्गत दाण्डिक मामलों में सर्वोच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता का उल्लेख किया गया है। इसमें किसी उच्च न्यायालय के निर्णय, दण्डादेश या अन्तिम आदेश के विरुद्ध अपील के सम्बन्ध में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ की गयी हैं:–

(i) उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र के बिना अपील

इसके अन्तर्गत अपील तभी हो सकती है जबकि–

(A) उच्च न्यायालय ने अपील में अधीनस्थ न्यायालय द्वारा किसी अभियुक्त व्यक्ति की दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है, अथवा उसको मृत्युदण्ड दिया है।

(B) उच्च न्यायालय ने अपील अधीनस्थ न्यायालय के किसी मामले का विचारण के लिये अपने पास मंगा लिया है और अभियुक्त को स्वयं मृत्युदण्ड दिया है।

(ii) उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र से अपील

अनुच्छेद 134 के खण्ड (ग) के अनुसार यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134(क) के अधीन यह प्रमाणित करता है कि मामला सर्वोच्च न्यायालय के अपील के लायक है तो उसमें अपील की जाएगी।

8.4.2.4 विशेष इज़ाजत से अपील

अनुच्छेद 136 सर्वोच्च न्यायालय को बड़ी महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान करता है। इसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को अपने विवेकानुसार भारत के राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किये गये या दिये गये किसी निर्णय, डिक्री, अवधारणा, दण्डादेश या आदेश की अपील के लिये विशेष इज़ाजत दे सकता है। इसका खण्ड (2) में केवल एक ही अपवाद है और वह यह है कि इसे सशस्त्र बलों से सम्बन्धित किसी विधि द्वारा या उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा पारित किये गये या दिये गये किसी निर्णय, अवधारणा या आदेश से लागू नहीं होंगी। अर्थात् इस मामले में अपील की विशेष इज़ाजत नहीं दी जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति महत्वपूर्ण इसलिये है क्योंकि यह ऐसे मामलों में, जिनमें विधि की आवश्यकताएँ देश के सर्वोच्च न्यायालय से हस्तक्षेप की माँग करती है। उनमें इसे हस्तक्षेप का अधिकार देती है।

8.4.3 परामर्शदात्री अधिकारिता

साधारणतया सर्वोच्च न्यायालय केवल उन्हीं मामलों में अपनी राय विनिश्चय देते हैं। जो उनके समक्ष प्रस्तुत होते हैं अथवा विचाराधीन होते

हैं लेकिन अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रपति यदि चाहे तो किन्हीं ऐसे विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय से राय माँग सकता है जिनमें–

(i) विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की सम्भावना है, जो ऐसी प्रकृति का और ऐसे व्यापक महत्व का है कि उस पर सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त करना समीचीन है, तो वह उस प्रश्न को विचार करने के लिए उस न्यायालय को निर्देशित कर सकेगा और वह न्यायालय, ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो वह, ठीक समझता है, राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय दे सकेगा।

(ii) दैनिक कार्य व्यवहार में राष्ट्रपति के समक्ष ऐसे अनेक प्रकरण प्रायः आते रहते हैं जिनमें उसे न्यायालय से परामर्श की आवश्यकता होती है, किन्तु राष्ट्रपति ऐसे किसी परामर्श को माने या न मानें यह उसके विवेक पर निर्भर होता है। वह ऐसे किसी भी परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है।

8.5 सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता

भारत में न्यायपालिका कितनी स्वतंत्र है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। उसकी स्वतंत्र और निष्पक्ष रुप में कार्य करने की क्षमता इस बात से ही स्पष्ट होती है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस बात का ध्यान रखते हुये संविधान में ऐसी व्यवस्थाएँ की हैं। जिनके कारण न्यायपालिका स्वतंत्र और निष्पक्ष रुप से कार्य कर सकती है। यह निम्नलिखित है–

8.5.1 कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण

संविधान में कार्यों के आधार पर शक्तियों का पृथक्करण किया गया है। इसी क्रम में न्यायपालिका पूर्ण रुप से कार्यपालिका से स्वतंत्र होकर कार्य करती है। न्यायपालिका का कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रहना उसकी स्वतंत्रता और निष्पक्षता के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

8.5.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं पदावधि की संरक्षा

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। लेकिन उन्हें पद से हटाने का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं है। संविधान में इसके लिए एक विशेष प्रक्रिया को अपनाया गया है। जिसमें दो बातें प्रमुख हैं– पहला कि उसको संविधान में दिये गये आधारों पर ही हटाया जा सकता है तथा दूसरा संसद के दोनों सदनों द्वारा विशेष बहुमत की प्रक्रिया को अपना कर ही उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि न्यायाधीशों को उनके पदों से मुक्त करना आसान नहीं है। यह उन्हें निष्पक्ष रुप से कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

8.5.3 न्यायाधीशों के कर्त्तव्य पालन सम्बन्धी आचरण पर संसद में चर्चा पर रोक

संसद के किसी भी सदन में किसी भी समय किसी न्यायाधीश के उसके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में किये गये किसी भी आचरण पर कोई चर्चा नहीं की जा सकती है। सिर्फ महाभियोग प्रक्रिया के दौरान ही ऐसी कोई चर्चा की जा सकती है। इससे न्यायाधीशों को उनके कार्यों के सम्बन्ध में विशेष स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। सार्वजनिक रुप से उनके किसी भी निर्णय की आलोचना नहीं की जा सकती है।

8.5.4 न्यायालय के अवमान के लिये दण्ड देने की शक्ति

संविधान का अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को तथा अनुच्छेद 215 उच्च न्यायालय को अपने अवमान के लिए किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति प्रदान करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि न्यायालय या न्यायाधीश की आलोचना नहीं की जा सकती बल्कि इसका अर्थ यह है कि न्यायिक प्रक्रिया और न्यायिक निर्णय के प्रति लोगों में सम्मान और आदर का भाव बना रहे।

8.5.5 न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के मतदान से परे हैं

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन भारत की संचित निधि पर भारित होता है तथा संविधान के अनुसार नियत किया जाता है। उस पर संसद में न तो मतदान हो सकता है और न ही उनके कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और भत्तों में कोई परिवर्तन किया जा सकता है। वित्तीय संकट के समय को छोड़कर ऐसा कभी नहीं किया जा सकता है।

8.5.6 संसद सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति और अधिकारिता को बढ़ा सकती है, किन्तु कम नहीं कर सकती

सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त स्वतन्त्रता का एक प्रमुख आधार इस बात में निहित है कि विधायिका के पास ऐसी कोई ताकत नहीं हैं जिससे वो इसकी शक्ति और अधिकारिता को सीमित कर सके। वह इसमें वृद्धि तो कर सकती है, पर इसे कम या सीमित नहीं कर सकती है।

8.5.7 कार्य प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद 145 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को उसकी कार्य प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार स्वयं सर्वोच्च न्यायालय को ही प्राप्त है। इससे भी उसकी स्वतंत्रता को बल मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त आवधानों के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनके कारण वह स्वतंत्र और निष्पक्ष रुप में कार्य कर सकती है।

बोध प्रश्न–3

टिप्पणी : i) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिए?

ii) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाकर लिखिए।

(i) सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व पर प्रकाश डालिए?

.....
.....
.....
.....
.....

(ii) सर्वोच्च न्यायालय की प्रारम्भिक व अपीलीय अधिकारिता से क्या अभिप्राय है। संक्षेप में बताएँ?

.....
.....

.....

.....

(iii) एक निष्पक्ष और स्वतंत्र संस्था के रुप में सर्वोच्च न्यायालय के कार्य कर सकने के पीछे क्या प्रमुख आधार है?

.....
.....

.....

.....

8.6 न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति

संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को कानून की समीक्षा तथा संविधान की अन्तिम रुप से व्याख्या करने का महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया है। इसके साथ ही विधायिका द्वारा निर्मित किसी कानून की वैधानिकता को जाँचना तथा अवैध होने पर उसे असंवैधानिक घोषित करने का अधिकार भी सर्वोच्च न्यायालय के पास है। सर्वोच्च न्यायालय के इसी अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के नाम से जाना जाता है। अपने इसी अधिकार को प्रयोग करने के कारण सर्वोच्च

न्यायालय संविधान का रक्षक भी कहा जाता है। क्योंकि जब कभी भी संघीय अथवा राज्य विधान मण्डल विधियों के निर्माण के समय संविधान का अतिक्रमण करते हैं तथा अपनी सीमाओं का उल्लंघन करते हैं। तो न्यायालय (सर्वोच्च तथा उच्च) को यह अधिकार होता है कि वह ऐसी निर्मित विधि को असंवैधानिक घोषित कर दे। संविधान के अनुच्छेद 13, 251 तथा 254 आदि में न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का विस्तार से अध्ययन इकाई में किया जाएगा

8.7 न्यायिक सक्रियता

न्यायिक सक्रियता वस्तुतः न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही विस्तार है। 1970 के बाद से ही भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हुयीं जिनके आधार पर न्यायाधीशों तथा बौद्धिक वर्ग के उन लोगों ने जो किसी न किसी रुप से इस न्याय व्यवस्था से जुडे हुये थे, यह सोचने के लिये प्ररित होना पड़ा कि कानून और संविधान के शब्दों की तुलना में संविधान की भावना और आत्मा को अधिक महत्व देना चाहिए तथा संविधान की आत्मा की रक्षा के लिये आवश्यक होने पर तंग कानून प्रक्रियाओं के दायरे से बाहर निकलकर संविधान की रचनात्मक व्याख्या का मार्ग अपनाया जाना चाहिये। इसी विचार ने न्यायिक सक्रियता के मार्ग को प्रशस्त किया। जहाँ न्यायिक पुनर्विलोकन व्यवस्थापिका के मनमाने कानून निर्माण पर रोक लगाने का साधन है तो वहीं न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका को कर्तव्य पालन की दिशा में प्रवृत्त करने अथवा मनमाना आचरण करने से रोकने का एक साधन है। सन् 1985 में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी0एन0 भगवती ने न्याय पाने की आशा में एक सामान्य नागरिक द्वारा पोस्टकार्ड पर उन्हें लिखे एक पत्र को जनहित याचिका के रुप में स्वीकार किया। यहीं से न्यायिक सक्रियता का आरम्भ होता है। तब से आज तक अनेकों घटनाओं का संज्ञान न्यायालय द्वारा लिया जाता रहा है। मई, 2010 में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री एच0एच0 कपाड़िया ने भ्रष्टाचार के मुद्दे पर अधिक सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। फरवरी 2012 ई0 में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार द्वारा दूरसंचार के क्षेत्र में दिये गये 122 लाइसेन्स रद्द किये और सरकार को निर्देश दिया कि खुली नीलामी की प्रक्रिया को अपनाते हुये नये लाइसेन्स जारी किये जायें। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायिक सक्रियता ने सर्वोच्च न्यायालय की विकास यात्रा में उसे अधिक सक्रिय बनाकर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

8.8 जनहित याचिका

न्यायिक सक्रियता के जन्म में सबसे बड़ा योगदान जनहित याचिकाओं का है। जो किसी भी लोक कल्याणकारी राज्य के लिये अनिवार्य है। यह सार्वजनिक हित की रक्षा में अति महत्वपूर्ण है। जनहित याचिका से अभिप्राय उस याचिका से है जो सार्वजनिक या जनहित के

लिये दायर की गयी हो। यह आवश्यक नहीं कि इसे दायर करने वाला व्यक्ति इससे प्रभावित ही हो। कोई भी व्यक्ति जनहित में इसे दायर कर सकता है। पहले ऐसा नहीं होता था। व्यक्ति जिसके हित अथवा मौलिक अधिकार प्रभावित होते थे उसे प्रत्यक्षतः वाद दायर करना होता था किन्तु अब ऐसा नहीं है कोई भी व्यक्ति किसी मानव या मानव समूह की रक्षा के लिये इसे दायर कर सकता है। जैसे कि प्रदूषण मुक्ति, पर्यावरण क्षति को रोकने के लिये, गरीबों के हितों के सम्बन्ध में, बाल श्रम एवं बन्धुआ मजदूरी, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा या अपराध आदि के सम्बन्ध में इन्हें दायर किया जा सकता है। जनहित याचिकाओं को हमेशा राज्य अथवा केन्द्र सरकार या फिर म्यूनिसिपल अथॉरिटी के विरुद्ध दायर किया जाता है। इन्हें किसी निजी व्यक्ति या समूह के विरुद्ध नहीं दायर कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद 32 तथा उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में आये वादों का निपटरा करती है।

बोध प्रश्न–4

टिप्पणीः i) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिए?

ii) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये शीर्षकों से मिलाकर लिखिए।

(i) न्यायिक पुनर्विलोकन से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

(ii) न्यायिक सक्रियता से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

8.9 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में न्याय पालिका शासन के अन्य दो अंगों व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पृथक रहकर स्वतंत्र रुप से कार्य करती है। इसके शीर्ष पर स्थित सर्वोच्च न्यायालय न सिफ नागरिकों के

मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है बल्कि संघात्मक शासन व्यवस्था को भी बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। पिछले साठ वर्षों के न्यायिक इतिहास को देखने से यह स्पष्ट होता है कि संवैधानिक शासन व्यवस्था को स्थापित करने तथा इसको मजबूती प्रदान करने में सर्वोच्च न्यायालय का विशेष योगदान रहा है। सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हुये सर्वोच्च न्यायालय ने राजनीति और समाज के मध्य एक ऐसे सेतु का निर्माण किया है, जो हमें सुशासन की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बुस, दुर्गादास, 2011, भारत का संविधानः एक परिचय, प्रेंटिस हॉल आफ

इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

बाबेल डॉ0 बसन्ती लाल, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 2012.

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–(1)

(i) स (ii) ब (iii) अ

बोध प्रश्न–(2)

1) भाग 8.2.1, 8.2.2, 8.2.3, 8.2.4, देखिये।

2) भाग 8.2.5 देखिये।

3) भाग 8.2.10 देखिये।

बोध प्रश्न–(3)

1) भाग 8.3 देखिये।

2) भाग 8.4.1 तथा 8.4.2 देखिये।

3) भाग 8.5 देखिये।

बोध प्रश्न–(4)

1) भाग 8.6 देखिये।

2) भाग 8.7 देखिये।

इकाई–9

न्यायिक पुनर्विलोकन शक्तियाँ व भूमिका

इकाई की रुपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय

9.3 न्यायिक पुनर्विलोकन : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

9.4 भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन के संवैधानिक आधार

9.5 मौलिक अधिकार और न्यायिक पुनर्विलोकन

9.6 संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनर्विलोकन

9.6.1 शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ

9.6.2 गोलकनाथ मुकदमें का प्रभाव

9.6.3 संविधान का 24वां संशोधन, 1971

9.6.4 केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य

9.6.5 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम

9.6.6 मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ

9.7 न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का आधारभूत ढाँचा

9.7.1 सर्वोच्च न्यायालय अपने अन्तिम आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है।

9.7.2 नवीं अनुसूची न्यायिक पुनर्विलोकन के बाहर नहीं

9.7.3 आर्थिक नीतियों का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता।

9.7.4 राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की क्षमादान की शक्ति न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन

9.8 न्यायिक पुनर्विलोकन का आधारः मेनका गाँधी के विनिश्चिय से पूर्व की स्थिति

9.8.1 दैहिक स्वतंत्रता का अर्थः ए0के0 गोपालन बनाम मद्रास राज्य

9.8.2 मेनका गाँधी का मामला– नया आयाम : नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त

9.9 न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएँ

9.10 सारांश

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 प्रस्तावना

न्यायिक पुर्नविलोकन से तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय की उस शक्ति से है जो कि उसे संविधान की रक्षा का दायित्व सौंपती है। जब संघीय या राज्य विधानमण्डलों द्वारा ऐसे कानूनों का निमाण किया जाता है जो संविधान का उल्लंघन करते हो तो ऐसे निर्मित प्रत्येक कानून को सर्वोच्च न्यायालय असंवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इसी शक्ति को न्यायिक पुर्नविलोकन के नाम से जाना जाता है। यद्यपि भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाया गया है, किन्तु इसे सीमित अर्थों में ही प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि भारतीय संविधान ने संसदीय सर्वोच्चता तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य अद्‌भुत संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। जो इसे विश्व के श्रेष्ठ संविधानों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देता है।

इस इकाई के अर्न्तगत हम न्यायिक पुनर्विलोकन तथा उसकी विविध अवधारणाओं, प्रयोग की विधियाँ, इससे मिलने वाले लाभ आदि विषयों का अध्ययन करेंगे। साथ ही यह भी देखेंगे कि किस प्रकार इसने विधि के शासन को स्थापित करने में अपना योगदान दिया है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत न्यायिक पुनर्विलोकन के विविध पक्षों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों से अवगत हो सकेंगे।

- न्यायिक पुनर्विलोकन की अवधारणा
- न्यायिक पुनर्विलोकन के सैद्धान्तिक एवं संवैधानिक पक्ष
- न्यायिक पुनर्विलोकन की विधियाँ
- न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएँ

9.2 न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय

न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय उस संवैधानिक व्यवस्था से है जो कि सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों तथा उच्च न्यायालयों को किसी कानून की वैधानिकता का परीक्षण करने का अधिकार देती है। अर्थात् इस अधिकार के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय किन्हीं संघीय या राज्य विधियों को असंवैधानिक होने पर अवैध या शून्य घोषित कर सकता है। वस्तुतः सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है, इसके माध्यम से ही वह यह जाँचने का कार्य करता है

कि कोई कानून संविधान सम्मत है या संविधान विरुद्ध और प्रत्येक उस कार्य को जो संविधान विरुद्ध है, उसे असंवैधानिक घोषित करने का अधिकार संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को प्रदान किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को अपनी रक्षा का महत्वपूर्ण दायित्व सौंपा है। अतः न्यायिक पुनर्विलोकन वह विधि है, जिसके द्वारा कानून का वैधानिक परीक्षण कर संविधान की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है।

9.3 न्यायिक पुनर्विलोकनः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

संविधान दो में से किसी एक सिद्धान्त पर आधारित हो सकते हैं प्रथम, संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर तथा द्वितीय व्यवस्थापिका अर्थात् कानून निर्माण करने वाली संस्था की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर। इंग्लैण्ड में व्यवस्थापिका अर्थात संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है क्योंकि इंग्लैण्ड में आधुनिक लोकतंत्र का जन्म स्वेच्छाचारी कार्यपालिका की निरंकुशता के विरोध में हुआ था इसलिये वहाँ की जनता के मन में संसदीय शासन के प्रति एक विश्वास ने जन्म लिया जिसके फलस्वरुप एक ऐसी संसदीय शासन प्रणाली अस्तित्व में आयी जिसमें संसद के प्राधिकार पर कोई मर्यादा नहीं लगायी गयी।

किन्तु अमेरिका की जनता ने इस व्यवस्था को जिसमें कि संसद जनता के अधिकारों की संरक्षक मानी गयी, स्वीकार नहीं किया क्योंकि औपनिवेशक शासन के दौरान उन्होंने इस कटु सत्य का अनुभव किया था कि प्रतिनिधिक निकाय भी अत्याचारी हो सकता है। उन्हें यह भय था कि कहीं ब्रिटिश सम्राट और संसद का स्थान जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि न ले लें। इसलिये उन लोगों ने विधायिका के सीमित शक्ति के सिद्धान्त को मान्यता देते हुये संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया तथा सर्वोच्च न्यायालय को इसकी रक्षा का महत्वपूर्ण दायित्व सौंपा। अर्थात् न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता का परीक्षण कर उसे असंवैधानिक होने पर अवैध घोषित कर सकते थे। न्यायालय के इसी कार्य को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते हैं। अमेरिका में सर्वप्रथम सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1803 में मारबरी बनाम मेडिसन के विवाद में न्यायमूर्ति मार्शल द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का स्पष्ट रुप से प्रतिपादन किया था।

भारत ने अंग्रेजों के अधीन औपनिवेशिक शासन की यातना को भोगा था तथा साथ ही अमेरिका में स्थापित हुयी न्यायिक सर्वोच्चता की बारीकियों को भी समझा था। इसलिये हमारे संविधान मनीषियों ने संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य समन्वय स्थापित करते हुये एक मध्यम मार्ग खोजा। इसके लिये न्यायपालिका को यह संवैधानिक शक्ति दी गयी कि वह विधायिका द्वारा पारित कानूनों की वैधानिकता का परीक्षण तो कर सकती है। यदि वह उसकी कानून निर्मित करने की शक्ति के दायरे से बाहर हो अथवा यदि वह संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती हो, किन्तु उसे नीति के औचित्य का पुर्नविलोकन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। (मेनका गाँधी केस से पूर्व की स्थिति)। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि संसद कि प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा और न्यायपालिका के बीच समन्वय बना रहे।

अमेरिका और भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में मूल अन्तर इस बात में निहित है कि जहाँ अमेरिकी संविधान में इसका स्पष्ट प्राविधान नहीं किया गया था तथा इसे बाद के संशोधनों से प्राप्त किया गया था। वहीं भारतीय संविधान में इसका स्पष्ट प्राविधान संविधान के अन्तर्गत ही किया गया है। किन्तु दोनों देशों में इसकी मात्रा में गहरा अन्तर अवश्य पाया गया। अमेरिकी संविधान के पाँचवें और चौदहवें संशोधन ने न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र का असीमित विस्तार कर दिया क्योंकि पाँचवें संशोधन के द्वारा यह उपबन्धित किया कि "कोई भी व्यक्ति उचित प्रक्रिया के बिना अपनी दैहिक स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जायेगा।" अर्थात् सम्यक विधि प्रक्रिया (Due Process of Law) शब्दावली ने पुनर्विलोकन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया क्योंकि प्रक्रिया के अन्तर्गत उचित या अनुचित होने का निर्धारण न्यायालय द्वारा ही किया जाना था। जबकि भारत में अनुच्छेद 21 के अनुसार "किसी व्यक्ति को उसके प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Process Established by Law) के अनुसार ही वंचित किया जायेगा।" यहाँ पर 'उचित प्रक्रिया' और 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के मध्य अन्तर पाया गया है। अर्थात् भारत में प्रक्रिया का विधि द्वारा स्थापित होना उसके उचित होने से ज्यादा महत्वपूर्ण था जो कि भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन के विस्तार को सीमित करता था। मेनका गाँधी के मामले से अब भारत में भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का अर्थ प्रक्रिया का उचित, ऋजुपूर्ण और युक्तियुक्त होना है अर्थात् विधि की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त को सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 21 में स्वयमेव निहित माना है। इस प्रकार देखा जाये तो वर्तमान व्यवस्थाओं में भारत और अमेरिकी न्यायिक पुनर्विलोकन के मध्य बुनियादी अन्तर समाप्त हो चुका है।

9.4 भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन के संवैधानिक आधार

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्तियुक्त स्वतन्त्र न्यायपालिका हमारे संविधान का प्रमुख लक्षण है। हमने दो अतिवादी व्यवस्थाओं संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य अद्‌भुत समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इंग्लैण्ड में संविधान के अधीन संसद सर्वोच्च है और वह ऐसा कोई भी कार्य कर सकती है जो प्राकृतिक रुप से असम्भव न हो तथा न्यायालय संसद के किसी अधिनियम को किसी भी आधार पर शून्य घोषित नहीं कर सकती। जबकि अमेरिका में न्यायपालिका ने संविधान के निर्वचन की शक्ति के अधीन इतनी प्रभुता प्राप्त कर ली है कि उसे संविधान के रक्षक की भूमिका प्राप्त हो गयी है। वहाँ के एक मुख्य न्यायाधीश ह्यूजेज ने कहा था कि "संविधान वही है जो उच्चतम न्यायालय कहता है अर्थात् वह किसीभी कानून को असंवैधानिक होने पर, अधिकार विलेख में समाविष्ट प्रतिषेधों का अतिक्रमण करने पर, तथा "सम्यक प्रक्रिया" जैसी कुछ अस्पष्ट अभिव्यक्तियों में समाहित साधारण सिद्धान्तों के विरुद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकता है।" इस प्रकार अमेरिकी न्यायपालिका को विधायिका की नीति पर निर्णय देने की शक्ति प्राप्त है।

भारत में इन दो सिद्धान्तों के मध्य एक मध्यम मार्ग को अपनाया गया है। संघवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शक्तियों का विभाजन केन्द्र और राज्यों के मध्य किया गया है। इसके लिये संविधान में स्पष्ट और लिखित व्यवस्था की गयी है तथा न्यायपालिका को यह शक्ति दी गयी है कि वह यह निर्धारित करे कि संसद तथा राज्य विधान मण्डल कानून निर्माण करते समय अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण तो नहीं कर रहे हैं। भारत में न्यायपालिका यह कार्य दो प्रकार से करती है–

(i) कहीं कानून संविधान का उल्लंघन तो नहीं करता।

(ii) क्या यह सक्षम विधायिका द्वारा बनाया गया है?

भारत के संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का स्पष्ट उल्लेख मौलिक अधिकारों तथा संघवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हुये शक्ति विभाजन के माध्यम से किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 13 इस बात की घोषणा करता है कि कोई भी कानून जो संविधान के भाग–3 अर्थात नागरिकों को दिये गये मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है, अवैध समझा जायेगा। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस बात का परीक्षण कौन करेगा कि कोई कानून अथवा कार्य विशेष से किसी मूल अधिकार का उल्लंघन होता है अथवा नहीं? इसका जवाब अनुच्छेद 32 से प्राप्त होता है जिसमें नागरिकों को सांविधानिक उपचारों का मूल्यवान अधिकार प्रदान किया गया है तथा जिसमें कहा गया है कि यदि राज्य किसी समय कोई ऐसा कानून बनाए जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हो तो नागरिकों को उस कानून की संवैधानिकता को न्यायालय में चुनौती देने का अधिकार होगा। इसी प्रकार का अधिकार अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत राज्य उच्च न्यायालयों को प्राप्त है। जिसके द्वारा वह अपने राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों के हनन तथा किसी अन्य प्रयोजन के लिये रिटें जारी कर संविधान की रक्षा का कार्य कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि संविधान मूल अधिकारों के प्रवर्तन की जिम्मेदारी न्यायपालिका पर डालता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 251 और 254 जो कि केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति विभाजन से सम्बन्धित है तथा संसद और राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनायी गयी किन्हीं विधियों में असंगति होने पर संसद द्वारा बनायी विधि प्रभावी होने की बात करते हैं। ऐसे किसी भी विषय पर केन्द्र तथा राज्य के मध्य उत्पन्न होने वाले गतिरोध सर्वोच्च न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकारिता (अनुच्छेद 131) के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन निर्मित विधियों की संवैधानिकता के परीक्षण का अधिकार भी संविधान ने न्यायपालिका को दिया है। इसी प्रकार अनुच्छेद 132, 133 तथा 228 में संविधान की व्याख्या करने का अन्तिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया है, और उच्च न्यायालयों से ऐसे मुकदमों को जिनमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित हो, सर्वोच्च न्यायालय में भेजे जाने की व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार अनुच्छेद 136 भी अपील के लिये सर्वोच्च न्यायालय की विशेष इज़ाजत की व्यवस्था करता है।

अतः स्पष्ट है कि संविधान के उपरोक्त अनुच्छेदों के माध्यम से संविधान ने न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्रादान किया है। अपने इसी अधिकार का प्रयोग करते हुये सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने विधानमण्डल और संसद द्वारा पारित कानूनों की संवैधानिक वैधता का परीक्षण अनेकों बार किया है तथा विधि के शासन

को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। वास्तविकता तो यह है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति सांविधानिक विधि की प्रकृति में निहित है। ए0के0 गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मामले में मुख्य न्यायाधिपति श्री कानिया ने कहा है कि "संविधान निर्माताओं ने तो केवल चेतावनी के रुप में अनुच्छेद 13 में न्यायिक पुनर्विलोकन से सम्बन्धित उपबन्धों का समावेश किया है अन्यथा इसकी अनुपस्थिति में भी न्यायालयों को ऐसी शक्ति सहज रुप से प्राप्त है। भारत में संविधान सर्वोच्च विधि है और किसी अधिनियम को विधिमान्य होने के लिये यह आवश्यक है कि वह सभी प्रकार से संविधान के उपबन्धों के अनुरुप हो। कोई अधिनियम संवैधानिक है या नहीं, इस प्रश्न के निर्णय करने की शक्ति न्यायपालिका को ही है।"

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी:(1) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिये।

(2) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिये।

(1) न्यायिक पुनर्विलोकन का क्या अर्थ है?

.....
.....
.....

(2) भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन अमेरिका में न्यायिक पुनर्विलोकन से किस प्रकार भिन्न है?

.....
.....
.....

(3) न्यायिक पुनर्विलोकन को संवैधानिक आधार प्रदान करने वाले अनुच्छेद कौन से हैं?

.....
.....
.....

9.5 मौलिक अधिकार और न्यायिक पुनर्विलोकन

भारत के संविधान के भाग–III में व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। जिन्हें प्राकृतिक और अप्रतिदेय माना गया है। एम0 नागराज बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मौलिक अधिकारों के विषय में कहा कि "मौलिक अधिकार नागरिकों को राज्य द्वारा दान नहीं है। भाग–ण्ण् मौलिक अधिकार प्रदान नहीं करता वरन् इसकी पुष्टि करता है कि वह है उनका अस्तित्व है और यह उन्हें संरक्षण प्रदान करता है।" अतः इतना तो स्पष्ट है कि मौलिक अधिकारों को विशेष संवैधानिक महत्व प्राप्त है जो कि सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को मजबूत आधार प्रदान करता है।

क्योंकि अनुच्छेद 13 में स्पष्ट कहा गया है कि (1) इस संविधान के प्रारम्भ के ठीक पहले भारत के राज्य क्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत है। तथा (2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है और इस खण्ड के उल्लंघन में बनाई गयी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। अतः स्पष्ट है कि जब भी कोई कानून किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करेगा तो न्यायालय उसे अवैध घोषित करेगा। यह अधिकार न्यायालय को दिया गया है क्योंकि संविधान अपनी रक्षा का दायित्व न्यायालय को सौंपता है और यह दायित्व भी मौलिक अधिकारों के माध्यम से ही दिया गया है। अनुच्छेद 32 द्वारा न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि वह भाग–3 में वर्णित मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये आवश्यक निर्देश या आदेश या रिट जारी कर सकता है। जो कि स्वयं एक मौलिक अधिकार है तथा इस सम्बन्ध में न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, अधिकार पृच्छा, प्रतिषेध तथा उत्प्रेषण आदि लेख जारी कर सकता है। इतना ही नहीं यह वास्तविक रुप से लागू हो सके इसलिये अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत इस बात का भी प्राविधान है कि मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की दशा में वादी सीधे सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय में सुनवाई में के लिये जा सकता है। अतः उक्त प्राविधान के माध्यम से इतना तो स्पष्ट है कि कोई विधि मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है या नहीं इसका निर्णय न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा किया जायेगा। इस प्रकार अनुच्छेद 13 अतीत और वर्तमान की सभी विधियों को न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के अन्तर्गत लाता है। इतना ही नहीं मेनका गाँधी के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुये स्पष्ट किया कि कोई अधिकार मूल अधिकार है या नहीं, इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसका किसी विशिष्ट अनुच्छेद में उल्लेख किया गया हो। किसी अनुच्छेद में उल्लिखित किये बिना भी वह मूल अधिकार माना जायेगा यदि वह किसी विशिष्ट मूल अधिकार का अभिन्न अंग है अथवा उसकी मूल प्रकृति उसी अधिकार की तरह है जिसका उल्लेख संविधान में स्पष्ट रुप से किया गया है जैसे अनुच्छेद 21 में विदेश भ्रमण, निःशुल्क विधिक सहायता, मानव गरिमा, आदि को भी मूल अधिकार माना गया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मूल अधिकारों की व्यापकता ने न्यायिक पुनर्विलोकन के दायरे और क्षेत्र का भी विस्तार कर दिया है तथा इसे अत्यधिक शक्ति प्रदान की है।

9.6 संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनर्विलोकन

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या न्यायालय संवैधानिक संशोधनों की वैधता का न्यायिक पुनर्विलोकन कर सकते हैं। अनुच्छेद 368 के तहत संसद संवैधानिक संशोधन कर सकती है। कुछ मामलों में, संशोधन के लिये आधे से अधिक राज्य विधान मण्डलों की स्वीकृति मिलना आवश्यक होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस संवैधानिक प्रक्रिया के द्वारा किये गये संशोधन से निर्मित किसी विधि को क्या न्यायालय में चुनौती दी सकती है। क्योंकि संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 13 में स्पष्ट कहा गया है कि राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनाएगा जिससे

मौलिक अधिकारों का उल्लंघन हो और यदि ऐसा किया गया तो उक्त कानून को न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा। यह महत्वपूर्ण प्रश्न सर्वप्रथम उच्चतम न्यायालय के समक्ष शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ के मामले में आया था।

9.6.1 शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ

इस मामले में संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951; की विधिमान्यता को चुनौती दी गयी थी। अपीलार्थी का यह तक्र था कि अनुच्छेद 368 के अधीन बनायी गयी विधि भी अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अधीन आती है। इसलिये यदि वह मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है तो उसे अवैध घोषित किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में अपने निर्णय में उपरोक्त तक्र को अस्वीकार करते हुये कहा कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद द्वारा बनायी गयी विधि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती है। अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' का तात्पर्य ऐसी विधि से है, जो विधानमण्डल द्वारा अपनी साधारण विधायिनी शक्ति के प्रयोग द्वारा बनायी जाती है न कि सांविधानिक संशोधन के द्वारा जो कि अनुच्छेद 368 में वर्णित है। इसी प्रकार सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद के मामले में दिये गये अपने निर्णय का अनुसरण किया।

9.6.2 गोलकनाथ मुकदमें का प्रभाव

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्व में शंकरी प्रसाद तथा सज्जन सिंह मामले में दिये गये निर्णय के अन्तर्गत दी गयी 'विधि' की परिभाषा को स्वीकार नहीं किया। इस मामले में 17वें संशोधन 1964 की संवैधानिकता को चुनौती दी गयी थी। सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से निर्णय सुनाते हुये मुख्य न्यायाधीश श्री सुब्बाराव ने कहा कि "अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार की विधियाँ सम्मिलित हैं, चाहे वे, विधानमण्डल की साधारण विधायिनी शक्ति के प्रयोग द्वारा निर्मित की गयी हों अथवा अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन के प्रयोग में निर्मित की गयी हों।" न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 में केवल विधि बनाने की प्रक्रिया दी गयी है, संविधान संशोधन करने की शक्ति नहीं है। अतः यह संसद को ऐसी शक्ति प्रदान नहीं करता जिसके द्वारा वह नागरिकों के मूल अधिकारों में संशोधन करे।

9.6.3 संविधान का 24वाँ संशोधन, 1971

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गोलकनाथ के मामले में दिये गये निर्णय के प्रभाव को समाप्त करने के लिये संसद ने 24वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया। इसके द्वारा अनुच्छेद 13(2) में संशोधन का निम्नलिखित वाक्यांश जोड़ा गया है– "संसद द्वारा अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित कोई भी विधि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में सम्मिलित नहीं है।

9.6.4 केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य

इस मामले में 24वें संशोधन अधिनियम को चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ के मामले में दिये गये अपने निर्णय को पलटते हुये इस अधिनियम (24वाँ संशोधन अधिनियम) की वैधता को स्वीकार किया किन्तु संसद द्वारा संविधान संशोधन की शक्ति पर एक महत्वपूर्ण सीमा लगा दी। इसके अनुसार अनुच्छेद 368 के तहत संसद को संविधान संशोधन की अत्यधिक शक्ति प्राप्त है, किन्तु यह असीमित नहीं है। संसद संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती, जिससे संविधान का मूलभूत ढाँचा या आधारभूत तत्व ही ढह जाये। संविधान का आधारभूत तत्व (ढाँचा) क्या है, इसका निर्णय न्यायालयों द्वारा विभिन्न वादों में किया जायेगा।

9.6.5 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1976

केशवानन्द भारती के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिये 42वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में खण्ड–4 और 5 जोड़े गये तथा यह व्यवस्था की गयी कि इस प्रकार किये गये संशोधन को किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया सकता है। अर्थात् इसका उद्देश्य संसद की संविधान संशोधन की शक्ति की सर्वशक्तिमान बनाना था।

9.6.6 मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ

मिनर्वा मिल्स के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने खण्ड (4) और (5) को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर दिया कि वह संविधान संशोधन की शक्ति को असीमित करके संविधान के "बुनियादी ढाँचे" को नष्ट करता है। यद्यपि न्यायालय ने संसद द्वारा संविधान के किसी भाग में संशोधन की शक्ति को स्वीकार किया, पर यह भी व्यवस्था की कि, न्यायपालिका उसकी वैधानिकता का परीक्षण कर सकेगी। यदि कोई संशोधन संविधान के आधारभूत ढाँचे के प्रतिकूल है तो न्यायालय उसे शून्य घोषित कर सकता है। संविधान के आधारभूत लक्षणों की रक्षा करने का अधिकार न्यायालय को है और न्यायालय इस आधार पर किसी भी संशोधन का पुनर्विलोकन कर सकता है।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणीः (1) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिये।

(2) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाइये।

(1) मौलिक अधिकार और न्यायिक पुनर्विलोकन में क्या सम्बन्ध है?

.....

.....

.....

.....

(2) क्या संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है?

.....
.....
.....

(3) निम्न को सही मिलाइये–

(1	शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ	– (A)	17वें संशोधन 1964 को चुनौती
(2	गोलकनाथ मुकदमा	– (B)	किसी भी संशोधन के पुनर्विलोकन का अधिकार न्यायालय के पास है।
(3	केशवानन्द भारती का वाद	– (C)	प्रथम संशोधन 1951 को चुनौती
(4	मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ	– (D)	मूल ढाँचे का सिद्धान्त

9.6.7 न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का आधारभूत ढाँचा

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के बार में सर्वप्रथम सर्वोच्च न्यायालय ने "आधारभूत ढाँचे" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इसी मामले में न्यायिक पुनर्विलोकन के महत्व को उजागर करते हुये न्यायाधिपति खन्ना ने कहा कि "न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति केवल इस बात का विनिश्चय करने तक सीमित नहीं है कि क्या अपेक्षित विधियाँ बनाने में विधान मण्डलों ने अपनी निश्चित विधायी सूचियों की परिधि के भीतर काम किया है वरन् न्यायालय इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि क्या विधियाँ संविधान के अनुच्छेदों के अनुरुप बनायी गयी है और उनसे संविधान के अन्य उपबन्धों का उल्लंघन तो नहीं होता है। इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन हमारी सांविधानिक पद्धति का एक अभिन्न अंग बन गया है।" इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक अन्य महत्वपूर्ण निर्णय एल0 चन्द्र कुमार बनाम भारत संघ के मामले में इस बात को पुनः दोहराया है कि सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन प्रदत्त न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढाँचा है और इसे अनुच्छेद 368 के अधीन सांविधानिक संशोधन द्वारा भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल राज्य बनाम पश्चिम बंगाल प्रौटैक्शन ऑफ डिमोक्रेटिक राइट्स समिति के मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायिक पुनर्विलोकन संसद का आधारभूत ढाँचा है और उसे संसद द्वारा पारित किसी अधिनियम द्वारा समाप्त या कम नहीं किया जा सकता है। संविधान द्वारा संसद पर या कार्यपालिका पर अधिरोपित कोई भी निबन्धन न्यायिक पुनर्विलोकन पर नहीं लगाया जा सकता है।

9.7.1 सर्वोच्च न्यायालय अपने अन्तिम आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है : उपचारात्मक याचिका (Curative Petition)

रुपा अशोक हुर्रा बनाम अशोक हुर्रा के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ नेअपने एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथा दूरगामी महत्व के निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायालय अनुच्छेद 32 के अधीन अपने अन्तिम निर्णय को "जिसकी रिट याचिका द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती है' गम्भीर अन्याय के निवारण हेतु पुनर्विलोकन कर सकता है। इस नयी व्यवस्था को न्यायालय ने उपचारात्मक याचिका (Curative Petition) का नाम दिया है। इससे पहले अगर सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत अन्तिम निर्णय दे देता था और अनुच्छे 137 के अधीन उसकी समीक्षा याचिका भी खारिज कर देता था तो इसको चुनौती नहीं दी जा सकती थी। किन्तु अब ऐसे मामलों में उपचारात्मक याचिका द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में इसे चुनौती दी जा सकती है।

यद्यपि नैसर्गिक न्याय को स्थापित करने की दृष्टि से यह न्यायालय द्वारा उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। किन्तु न्यायालय ने ऐसी याचिका फाइल करने के मामले में कुछ दिशा–निर्देश विहित किये है जिसकी सीमा के अन्तर्गत ही ऐसी याचिका फाइल की जा सकती है जिससे इसका दुरुपयोग न किया जा सके।

9.7.2 नवीं अनुसूची न्यायिक पुनर्विलोकन के बाहर नहीं है

भारतीय संविधान में नवीं अनुसूची संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 के द्वारा अनुच्छेद 31 ख के रुप में समाविष्ट की गयी थी। नवीं अनुसूची का मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार अधिनियमों जिन्हें केन्द्र या राज्य सरकारों द्वारा पारित किया जाये, को न्यायालय में चुनौती देने से रोकना था। किन्तु कालान्तर में इसमें ऐसे अधिनियमों को भी जोड़ा जाने लगा जो कि भूमि सुधार से सम्बन्धित नहीं थे। अतः बाद में इसका प्रयोग मौलिक अधिकारों के हनन तथा सरकारों के स्वहित में मनमानी ढंग से किया जाने लगा, जिससे कि वे न्यायालय के हस्तक्षेप से बची रह सकें। क्योंकि कानून बनाकर जिन विषयों को नवीं अनुसूची में डाला जाता था वह न्यायालय के हस्तक्षेप से परे हो जाते थे। तमिलनाडु के 69 प्रतिशत आरक्षण के कानून को भी नवीं अनुसूची में डाल दिया गया था। तमिलनाडु सरकार ने ऐसा इसलिये किया था क्योंकि मण्डल आयोग के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता है। इस मामले में पिटीशनर ने नवीं अनुसूची में सम्मिलित अनेक अधिनियमों की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी कि उन्होंने न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्हें बाहर करके संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट किया है। इसमें तमिलनाडु का आरक्षण अधिनियम भी था। आई0आर0 सेलो बनाम तमिलनाडु के इस ऐतिहासिक महत्व के मामले में सर्वोच्च न्यायालय की नौ न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि अनुच्छेद 31ख की संवैधानिकता को अनेक मामलों में विधिमान्य घोषित किया है अतः उसे पुनः चुनौती नहीं दी जा सकती है, किन्तु यदि कोई अधिनियम, जो कि

केशवानन्द भारती के निर्णय 24 अप्रैल, 1973 के पश्चात् नवीं अनुसूची में शामिल किया गया है, यदि वह मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उसे इस आधार पर न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है कि वह संविधान के "आधारभूत ढाँचे" को नष्ट करता या क्षति पहुँचाता है।

9.7.3 आर्थिक नीतियों का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कई महत्वपूर्ण निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया कि सरकार की आर्थिक नीतियों का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता है जब तक कि संविधान या किसी अधिनियम का अभिव्यक्त उल्लंघन न किया गया हो। बाल्को कर्मचारी संघ बनाम भारत संघ के मामले में यह महत्वपूर्ण प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष पुनः आया। इस मामले में सार्वजनिक उपक्रम बाल्को के कर्मचारियों ने भारत सरकार द्वारा बाल्को के 51 प्रतिशत अंशों के विनिवेश करने और उसे एक निजी पक्षकार को बेचने के निर्णय की विधिमान्यता को चुनौती दी थी। जिसमें सर्वोच्च न्यायालय की पाँच सदस्यीय पीठ ने सर्वसम्मति से यह निर्णय दिया कि विनिवेश की प्रक्रिया एक नीतिगत निर्णय है जिसमें जटिल आर्थिक बातें हैं। न्यायालयों ने सदा से आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेपकरने से अपने को रोका है। जब तक कि वे संविधान या किसी अधिनियम का उल्लंघन न करती हों। इस प्रकार न्यायालय ने अपने न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर स्वयं आत्मनियंत्रण स्थापित किया है।

9.7.4 राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की क्षमादान की शक्ति न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन

सर्वोच्च न्यायालय ने इपुरु बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य के मामले में दिये अपने एक ऐतिहासिक निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया कि राष्ट्रपति और राज्यपाल के क्षमादान की शक्ति का पुनर्विलोकन किया जा सकता है। क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राजनीतिक, धर्म और जाति के कारणों से नहीं किया जा सकता है। इस मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के क्षमादान के आदेश को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित कर दिया कि इसका प्रयोग राजनीतिक आधार पर किया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस मामले में राज्य उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि करते हुये यह अभिनिर्धारित किया कि यदि इसका प्रयोग राजनीतिक, धर्म और जाति के आधार पर किया जाता है तो वह स्वेच्छाचारिता और संविधान की अवहेलना होगा और न्यायालय उसकी विधिमान्यता का न्यायिक परीक्षण कर सकती है।

9.8 न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार : मेनका गाँधी के विनिश्चय से पूर्व की स्थिति

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का तात्पर्य है कानूनों की वैधानिकता के परीक्षण की शक्ति। इसका स्वरुप राष्ट्रों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में निहित होता है। जैसे कि अमेरिका में न्यायिक पुनर्विलोकन

का आधार कानून की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) शब्दावली से प्राप्त होता है। जबकि भारतीय संविधान में इसके स्थान पर "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" (Procedure Established by Law) शब्दावली को अपनाया गया है। इन संवैधानिक व्यवस्थाओं के आधार पर अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जाँच दो बातों के आधार पर कर सकता हैः (1) संघ या राज्य जिस भी विधान मण्डल ने उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था या नहीं, (2) वह 'कानून की उचित प्रक्रिया' की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। अर्थात् यदि विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून पूर्णतः उसकी इस हेतु प्रदत्त शक्तियों के अन्तर्गत था किन्तु यदि वह 'कानून की उचित प्रक्रिया' के अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो तो उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है।

जबकि भारतीय संविधान में –'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की जापानी शब्दावली को अपनाया गया है। इसका अर्थ है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघीय या राज्य विधान मण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून को तभी अवैधानिक घोषित कर सकता है जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में संविधान द्वारा प्रदत्त अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। सर्वोच्च न्यायालय को विधायिका की नीति के औचित्य का पुनर्विलोकन करने की शक्ति नहीं है और न ही संवैधनिकता के परीक्षण में वह प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों या उचित–अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू कर सकता है। इस सम्बन्ध में दुर्गादास बसु कहते हैं कि "न्यायिक सर्वोच्चता के स्थान पर हमारे संविधान में संवैधानिक सीमाओं के साथ विधायी सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ऐसे कानून को रद्द कर देगा, जो संविधान की सीमाओं के प्रतिकूल है, लेकिन इसके द्वारा प्राकृतिक न्याय की धारणा या संविधान के आदर्शों के आधार पर व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों को रद्द या संशोधित नहीं किया जा सकता। भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच में ही है।"

9.8.1 दैहिक स्वतंत्रता का अर्थ : ए0के0 गोपालन बनाम मद्रास राज्य

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 यह उपबन्धित करता है कि 'किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वाधीनता से 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Process Established by Law) के अनुसार ही वंचित किया जायेगा अन्यथा नहीं।' अर्थात् भारत में दैहिक स्वतन्त्रता का अधिकार विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अधीन है। ए0के0 गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मामले में पिटिशनर को निवारक निरोध अधिनियम, 1950 के अधीन जेल में निरुद्ध कर बन्द कर दिया। पिटिशनर ने अपने निरोध की विधिमान्यता को न्यायालय में अनुच्छेद 19 और 21 का उल्लंघन मानते हुये चुनौती दी और कहा कि यह निरोध उसके अधिकार पर 'अयुक्तियुक्त' 'निर्बन्धन' लगाता है, अतएव अवैध है। साथ ही यह तक्र दिया कि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त भी आते हैं। अतः ऐसी विधि, जिसमें ऐसे सिद्धान्त नहीं है, अवैध है।

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने पिटिशनर के सभी तर्कों को अस्वीकार कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि 'स्वतंत्रता' एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है, किन्तु अनुच्छेद 21 में इसके क्षेत्र को 'दैहिक' विशेषण लगाकर सीमित कर दिया गया है और इस अर्थ में 'दैहिक स्वतन्त्रता' का अर्थ 'शारीरिक स्वतन्त्रता' मात्र से है। इसके साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत भी व्यक्त किया कि अनुच्देद 21 केवल कार्यपालिका के कृत्यों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है, विधान मण्डल के विरुद्ध नहीं। इस सम्बन्ध में केवल न्यायमूर्ति फजल अली ने विस्म्मत (dissenting opinion) व्यक्त किया और यह निर्णय दिया कि 'दैहिक स्वतन्त्रता' पदावली बहुत व्यापक अर्थ वाली है इसमें संचालन या गमनागमन की स्वतन्त्रता भी शामिल है।

9.8.2 मेनका गाँधी का मामला– नया आयाम : नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त

मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में पिटिशनर ने पासपोर्ट ऐक्ट के अधीन पारित आदेश की विधिमान्यता को चुनौती देते हुये कहा कि (1) इससे उसके अनुच्छेद 14 में वर्णित मूल अधिकार का उल्लंघन होता है। (2) पिटिशनर को अपना पक्ष रखने का अवसर नहीं दिया गया जो कि नैसर्गिक न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध है। (3) इससे अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण होता है क्योंकि यह मनमानी और अयुक्तियुक्त 'प्रक्रिया' द्वारा उसे उसके अधिकार से वंचित करती है तथा (4) यह अनुच्छेद 19(1) क और ज का अतिक्रमण करती है; इसलिये अवैध है।

मेनका गाँधी के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने ए0के0 गोपालन के मामले में दिये गये निर्णय को उत्तर दिया और 'दैहिक स्वतन्त्रता' के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया गया है। न्यायालय के अनुसार 'दैहिक स्वतन्त्रता' का अधिकार केवल 'शारीरिक स्वतन्त्रता' प्रदान करने तक सीमित नहीं है वरन् यह एक विस्तृत अर्थ वाली पदावली है, जिसके अन्तर्गत वे सभी प्रकार के अधिकार सम्मिलित हैं जो व्यक्ति की दैहिक स्वतन्त्रता को पूर्ण बनाते हैं। इसके साथ ही अनुच्छेद 21 अब कार्यपालिका और विधानमण्डल दोनों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है। न्यायाधीश श्री भगवती ने बहुमत का निर्णय सुनाते हुये कहा कि अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त "प्रक्रिया" का अर्थ कोई प्रक्रिया नहीं है बल्कि ऐसी प्रक्रिया है जो ऋजु, न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त (fair, just and reasonable) हो। युक्तियुक्तता का सिद्धान्त अनुच्छेद 14 का आवश्यक तत्व है। किसी व्यक्ति को उसके मूल अधिकारों से वंचित करने के लिये विहित प्रक्रिया युक्तियुक्त होनी चाहिए तथा प्रक्रिया युक्तियुक्त तभी होगी जबकि यह नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन करेगी। इतना ही नहीं सर्वोच्च न्यायालय ने गोपालन के मामले में दिये गये अपने निर्णय को पलटते हुये यह कहा कि अनुच्छेद 21 केवल कार्यपालिका के कृत्यों के विरुद्ध ही नहीं बल्कि विधायिका के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करता है।

इस प्रकार अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वतन्त्रता से वंचित करने के लिये निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

(1) विधि विधिमान्य होनी चाहिये।

(2) विधि को प्रक्रिया विहित करनी चाहिये।

(3) प्रक्रिया न्यायपूर्ण, ऋजुपूर्ण और युक्तियुक्त होनी चाहिये।

(4) विधि को अनुच्छेद 14 और 19 की अपेक्षाओं को भी पूरा करना चाहिए अर्थात् उसे 'युक्तियुक्त' होना चाहिये।

इतना ही नहीं सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 21 के अधीन बनायी गयी विधि की विधिमान्यता की जाँच अनु0 14 और अनु0 19 (5) के अधीन भी की जायेगी और यदि यह पाया गया कि उसके अधीन लगाये गये निर्बन्धन अयुक्तियुक्त और मनमाने हैं तो उस विधि को असंवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा। न्यायालय ने यह भी कहा कि यह आवश्यक नहीं कि किसी अधिकार का उल्लेख किसी अनुच्छेद में किया जाये तभी वह मूल अधिकार की श्रेणी में आयेगा। यदि कोई अधिकार किसी अधिकार के प्रयोग के लिये आवश्यक है, तो वह मूल अधिकार होगा भले ही उसका स्पष्ट उल्लेख संविधान के किसी अनुच्छेद में नहीं किया गया हो। इसी के तहत एकान्तता के अधिकार, गरिमामय जीवन जीने का अधिकार, आदि को सर्वोच्च न्यायालय में अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत मूल अधिकार ही माना है।

अतः हम स्पष्ट रुप से देख सकते हैं कि मेनका गाँधी के मामले में किस प्रकार भारतीय न्याय प्रणाली में परिवर्तन को एक नयी दिशा प्रदान की है। इससे न सिर्फ न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र का विस्तार हुआ है बल्कि पहले की तुलना में न्यायपालिका को कहीं ज्यादा सशक्त और जिम्मेदारी की भूमिक प्राप्त हुयी है। यद्यपि हमारे संविधान में अमेरिकी संविधान की भाँति कही भी 'सम्यक विधि प्रक्रिया' शब्दावली का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु मेनका गाँधी के निर्णय के उपरान्त निष्कर्ष यही निकलता है कि 'सम्यक विधि प्रक्रिया' (Due Process of Law) की धारणा हमारे संविधान की अनुच्छेद 21 में सन्निहित है और कहीं किसी हद तक यह संसदीय सर्वोच्चता से न्यायिक सर्वोच्चता की ओर सन्तुलित एवं नियंत्रित तरीके से बढ़ाया गया एक कदम भी है क्योंकि युक्तियुक्तता को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि अब सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून को अवैधानिक घोषित कर सकता है यदि–

- कानून निर्माण में विधानमण्डल ने इस कार्य हेतु प्रदत्त संवैधानिक शक्ति और क्षमता का उल्लंघन किया हो।
- कानून निर्माण में निर्धारित संवैधानिकप्रक्रिया विहित न की गयी हो।
- प्रक्रिया न्यायपूर्ण, ऋजुपूर्ण अथवा युक्तियुक्त न हो।
- तथा यदि यह नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध हो।

9.9 न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएँ

यद्यपि हम देखते हैं कि विगत वर्षों में न्यायिक पुनर्विलोकन तथा न्यायिक सक्रियता के उद्‌भव से भारत में न्यायपालिका ने एक सशक्त

भूमिका प्राप्त कर ली है, परन्तु व्यवहार में फिर भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं। भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन पर पहली सीमा हमारे संविधान के लिखित और विशाल स्वरुप में निहित है। संविधान सर्वोच्च है और यदि कानून निर्माण के समय ही संविधान की भावनाओं और तथ्यों को ध्यान में रखा जाये तो पुनर्विलोकन की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। दूसरा, हमारे मौलिक अधिकारों की सीमाएँ भी संविधान में निश्चित कर दी गयी हैं, यदि इनका पालन किया जाए तो मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। तीसरा, न्यायाधीशों पर भी जन अपेक्षाओं पर खरा उतरने तथा मीडिया का दबाव होता है क्योंकि उनके दिये गये निर्णय भी मीडिया में रचनात्मक बहस का हिस्सा होते हैं इसलिये न्यायाधीशों का भी यह प्रयास होता है कि वे अनावश्यक विवादों से बच कर अपने संवैधानिक दायरे में रहकर ही कार्य करें। चौथा, परन्तु सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि न्यायपालिका भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय इस बात का ध्यान रखा कि शासन की इकाइयों में स्वन्तत्रता के साथ–साथ नियंत्रण भी आवश्यक है। अतः इस प्रकार न्यायपालिका भी संसदीय नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त नहीं है। अपनी विधि निर्माण की क्षमता के द्वारा संसद भी न्यायपालिका के ऊपर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करती है।

बोध प्रश्न–3

टिप्पणीः (1) नीचे दी गयी जगह में अपना उत्तर लिखिये।

(2) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाइये।

(1) नवीं अनुसूची से क्या अभिप्राय है?

.....
.....
.....

(2) आधारभूत ढाँचे का सिद्धान्त क्या है? इसमें कौन–कौन से तत्व शामिल हैं। उदाहरण दीजिए।

.....
.....
.....

(3) सम्यक विधि प्रक्रिया और विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया से क्या अभिप्राय है?

.....
.....
.....

(4) न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाएँ क्या हैं?

.....
.....
.....

9.10 सारांश

न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायपालिका द्वारा किया जाने वाला एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके द्वारा न्यायालय किसी भी कानून की संवैधानिकता का परीक्षण करने का कार्य करते हैं। इस प्रकार संविधान की रक्षा का महत्वपूर्ण कार्य न्यायपालिका द्वारा सम्पन्न होता है। जब कभी भी संविधान के भाग–3 में वर्णित मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो न्यायिक पुनर्विलोकन के माध्यम से ही उनकी रक्षा की जाती है। इसलिये न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार के तहत ही न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षक का काम करते हैं इसके साथ ही भारतीय न्यायपालिका संविधान के संघीय ढाँचे के चलते केन्द्र और राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों को सुलझाकर संघवाद को मजबूती प्रदान करती है। अतः हम देख सकते हैं कि न्यायिक पुनर्विलोकन के महत्वपूर्ण कार्य द्वारा हमारी न्यायपालिका विधि के शासन को स्थापित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

– खन्ना, एच0आर0, 1977, जुडीशियल रिव्यू ऑन कन्फ्रन्टेशन, मैकमिलन : दिल्ली।

– दुर्गादास बसु, 2013, प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

– दास गुप्ता, सोभनलाल, 1977, जस्टिस एण्ड द पॉलिटिकल आर्डर इन इण्डिया, के0पी0 बागची, एण्ड कं0, कलकत्ता।

9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–(1)

(1) भाग 9.2 देखिये।

(2) भाग 9.3 देखिये।

(3) भाग 9.4 देखिये।

बोध प्रश्न–(2)

(1) भाग 9.5 देखिये।

(2) भाग 9.6 देखिये।

(3) (1) C, (2) A, (3) D, (4) B

बोध प्रश्न–(3)

(1) भाग 9.7.2 देखिये।

(2) भाग 9.7 देखिये।

(3) भाग 9.8, 9.8.1, 9.8.2, देखिये।

(4) भाग 9.9 देखिये।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-102
भारत में सरकार और राजनीति

खण्ड – 3

राजनीतिक संरचना

इकाई – 10 **131**
भारतीय संसद : गठन, विकास और उसकी कार्य प्रणाली

इकाई – 11 **155**
भारत के राष्ट्रपति : संस्था और गतिशीलता

इकाई – 12 **171**
प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

इकाई – 13 **193**
राज्य सरकारें राज्यपाल और मंत्रिपरिषद्

इकाई – 14 **211**
भारत में न्याय प्रणाली

इकाई – 15 **227**
भारत में नौकरशाही (अधिकारी तंत्र)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-102

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के.एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5, आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक / परिमापक

प्रो.एस.एम.सईद–सेवानिवृत, राजनीति विज्ञान विभाग 3 / 184 विश्वास खण्ड गोमती नगर, लखनऊ।

लेखक

1. **डॉ. अनुभा श्रीवास्तव,** असि. प्रोफेसर हेमवती नन्दन बहुगुणा पी.जी. कॉलेज, नैनी, प्रयागराज
2. **डॉ. स्वाति ठाकुर** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्विद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
3. **डॉ आशुतोष पाण्डेय,** असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग अमर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखावटी, बुलन्दशहर
4. **प्रो. अश्विनी दुबे** प्रोफेसर उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, मोहान रोड, लखनऊ
5. **डॉ. सारिका दुबे,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर
6. **डॉ. इम्तियाज अहमद**, असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
7. **डॉ. शशि सौरभ,** असि. प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उ.प्र. विकलांग उद्धार डॉ शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यलाय, मोहान रोड, लखनऊ
8. **डॉ. राम बहादुर सेवानिवृत्त** एसो. प्रोफेसर फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीतिक विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2021 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-978-93-83328-36-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई:10

भारतीय संसद : गठन, विकास और उसकी कार्य प्रणाली

इकाई की रुपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 भारत में विधायिका का विकास

10.3 संसद का गठन

10.3.1. राष्ट्रपति

10.3.2. लोक सभा

10.3.2.1 संगठनात्मक संरचना एवं सदस्यों का निर्वाचन

10.3.2.2 लोक सभा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष

10.3.2.3 शक्तियाँ एवं कार्य

10.3.3. राज्य सभा

10.3.3.1 संगठनात्मक संरचना एवं सदस्यों का निर्वाचन

10.3.3.2 सभापति एवं उपसभापति

10.3.3.3 शक्तियाँ एवं कार्य

10.4 लोक सभा एवं राज्य सभा का तुलनात्मक अध्ययन

10.5 संसद के कार्य एवं शक्तियाँ

10.6 संसद के विशेषाधिकार

10.7 संसद की कार्यप्रणाली

10.7.1 साधारण विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया

10.7.2 वित्तीय विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया

10.7.3 संविधान सं"गोधन विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया

10.8 समिति प्रणाली एवं संसदीय समितियाँ

10.9 संसद के सत्र एवं संसद की भाषा

10.10 संसद और न्यायपालिका

10.11 संसद और कार्यपालिका

10.12 सारांश

10.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय संसद के क्रमबद्ध विकास, संगठनात्मक संरचना और कार्य प्रणाली के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप भारत में केन्द्रीय विधायिका के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त करके उसकी व्याख्या कर सकेंगे और आप :

- संसद के गठन सत्र एवं भाषा कार्य एवं शक्तियां, विषेशाधिकार और कार्यप्रणाली के बारे में बता सकेंगे,
- पीठासीन अधिकारी के कार्यो का उल्लेख कर सकेंगे,
- लोक सभा एवं राज्य सभा की कार्य तथा शक्तियों की तुलनात्मक विश्लेषण कर सकेंगे,
- विभिन्न विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया की चर्चा कर सकेंगे,
- संसद और कार्यपालिका, संसद और न्यायपालिका के बीच सम्बन्धों को बता सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारतीय संघ की सर्वोच्च विधायिका का नाम संसद है। यह भारत में कानून बनाने की सर्वोच्च संस्था है। यह भारतीय जनमानस द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा है। यह जनता की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने का राष्ट्रीय मंच है। हमने प्रतिनिध्यात्मक संसदीय लोकतंत्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था होती है, जिसमें सर्वोच्च शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के निकाय में निहित होती है। राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा इन तीनों को मिलाकर संसद की संरचना होती है। भारतीय संविधान सन् 1950 को लागू हुआ, जिसके पश्चात् वर्तमान रुप में संसद का गठन हुआ। भारतीय संसद का वर्तमान स्वरुप एक लम्बी विकास यात्रा का परिणाम है।

10.2 भारत में विधायिका का विकास

भारत में आधुनिक विधायिका की शुरुआत 1833 के अधिनियम में अस्पष्ट रुप से देखने को मिलता है। भारत में ब्रिटिश राज्य क्षेत्र के लिए एक विधान परिषद की स्थापना की गई। बंगाल के गवर्नर जनरल को पूरे भारत का गर्वनर–जनरल बना दिया गया और उसकी परिषद को 'इंडियन कौंसिल' कहा जाने लगा। इंडियन कौंसिल में एक विधि–सदस्य का शामिल किया गया। 1853 के एक्ट द्वारा कौंसिल का विस्तार किया गया और विधायी प्रक्रिया को सुदृढ़ किया गया कार्यपालिका एवं विधायी शक्तियों को अलग करने का प्रयास किया गया। 1858 के एक्ट द्वारा भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी से हटकर ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में आ गया।

1861 के इंडियन कौंसिल एक्ट ने गर्वनर–जरनल की परिषद का विस्तार कर सदस्य संख्या– 6–12 कर दी गई, जिसमें गैर–सरकारी सदस्यों को भी जगह दी गई अर्थात् प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रारम्भ किया गया। इस एक्ट द्वारा प्रान्तीय विधान सभाओं को विधि बनाने की शक्ति प्रदान करके प्रान्तीय स्वायत्ता व विभागीय प्रणाली की नींव डाली गई। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन हुआ और इसने गर्वनर–जरनल की परिषद में सुधार व भारतीयों को अधिक प्रतिनिधत्व एवं अधिकार देने की मांग की।

भारतीय परिषद अधिनियम 1892 ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों का विस्तार करते हुए इसकी सदस्य संख्या बढ़ाकर 10–16 कर दी गई। परिषद के सदस्यों को प्रश्न पूछने एवं बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया। स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों को परिषदों में अतिरिक्त सदस्य के रुप में नियुक्त किया जाता था। हालांकि इस एक्ट में चुनाव शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को अपनाया गया जो प्रतिनिधि सरकार की ओर बढ़ता एक कदम था।

भारतीय परिषद अधिनियम 1909 को मॉरले–मिन्टो सुधार के नाम से भी जाना जाता है। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधानमण्डल के आकार को बढ़ाते हुए इसकी सदस्य संख्या 16–60 कर दी गई। कुछ कार्यात्मक शक्तियाँ भी बढ़ा दी गई। पूरक प्रश्न पूछने की अनुमति प्रदान कर दी गई। हालांकि बजट पर मतदान का अधिकार नहीं था किन्तु सदस्य जनहित के विषयों पर चर्चा कर सकते थे। इस अधिनियम द्वारा गठित विधानमण्डल (केन्द्रीय व प्रान्तीय) मनोनित तथा निर्वाचित सदस्यों से युक्त था।

भारतीय सरकार अधिनियम 1919 द्वारा भी भारतीयों की पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग पूरी न हो सकी फिर भी इस अधिनियम द्वारा अनेक सुधार किये गये जैसे केन्द्रीय विधानमण्डल को द्वि–सदनात्मक बना दिया गया, एक विधान सभा तथा दूसरा राज्य परिषद। दोनों सदनों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। प्रान्तों में द्वैध शासन के साथ आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई। गर्वनर–जनरल की कार्यकारिणी में तीन भारतीयों को शामिल किया गया। राज्य परिषद के सदस्यों को माननीय की उपाधि दी गई है।

कई दौर की वार्ताओं के बाद भारत सरकार अधिनियम 1935 पास किया गया। इस अधिनियम में संघात्मक सरकार की बात की गई, जिसका गठन ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों एवं कुछ रियासतों को मिलाकर किया जायेगा। प्रान्तों के द्वैध शासन को समाप्त करके इसे केन्द्र में लागू किया गया। केन्द्र एवं प्रान्तों की शक्तियों को तीन सूचियों में विभाजित किया गया – संघीय सूची, प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची। इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तों में द्वि–सदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना की गई। प्रान्तों में शासन की शक्ति निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में आ गई, किन्तु गर्वनर को पहले की तरह ही विषे"ाधिकार प्राप्त था।

इस तरह हम देख चुके हैं कि प्रत्येक अधिनियम के साथ थोड़े–थोड़े सुधार किये गये किन्तु केन्द्रीय कार्यपालिका विधायिका के प्रति जवाबदेह नहीं थी। गर्वनर जनरल को विषेशाधिकार प्राप्त था। भारतीय इन सुधारों से संतुष्ट नहीं हुए और पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग एवं स्वतंत्रता आन्दोलन को जारी रखा। फलस्वरुप कई दौर की बैठकों एवं ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के प्रतिनिधियों के भारत दौरे एवं उनके सुझाव के बाद अन्ततः स्वतंत्रता प्रदान करने के साथ ही देश को दो

भागों – भारत एवं पाकिस्तान, में बांटकर अलग– अलग दो देश बना दिए गए। संविधान सभा ने अपना संविधान तैयार किया और यह स्वीकार किया कि संसदीय कार्यपालिका सामूहिक रुप से संसद के निर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी हो। संविधान सभा भारत की अस्थाई संसद बन गई, जो वयस्क मताधिकार के आधार पर एवं संविधान के उपबन्धों के अनुसार निर्वाचित संसद के गठन होने तक कार्य करती रही। नये संविधान के अनुसार प्रथम आम चुनाव 1951–52 में हुआ और प्रथम निर्वाचित संसद का गठन 1952 में किया गया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी :–1) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

1) किस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान मण्डल को द्वि–सदनात्मक बना दिया गया?

.....

2) किस एक्ट द्वारा तीन सूचियों के माध्यम से केन्द्र व प्रान्तों की विधायी शक्तियों का विभाजन किया गया?

.....

3) स्वतंत्र भारत में प्रथम निर्वाचित संसद का गठन किस वर्ष किया गया?

.....

10.3 संसद का गठन

भारत की विधि–निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था ही संसद कहलाती है। हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत संघ के लिए प्रतिनिधिक संसदीय लोकतंत्र को अपनाया है। संविधान के अनुच्छेद 79 में कहा गया है कि भारत संघ लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों (लोक सभा एवं राज्य सभा) से मिलकर बनेगी।

10.3.1 राष्ट्रपति

राष्ट्रपति भारतीय संसद का अभिन्न अंग होता है। इसका चुनाव लोक सभा, राज्य सभा एवं राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। संसद का अभिन्न अंग होने के बावजूद वह न तो किसी सदन में बैठता और न ही उसकी चर्चाओं में भाग लेता है। फिर भी संविधान ने उसे कुछ विधायी शक्तियाँ प्रदान की हैं जिसका वह प्रयोग करता है जैसे संसद का अधिवेशन बुलाना, स्थगित करना एवं लोक सभा को भंग करना आदि। जब संसद सत्र में न हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये जिस पर कार्यवाही करना आवश्यक हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश का वही महत्व एवं प्रभाव होता है जो संसद द्वारा बनायी गई किसी कानून का होता है। प्रत्येक आम चुनाव के बाद प्रथम बैठक एवं प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरम्भ में दोनों सदनों में, संयुक्त रुप से या अलग–अलग अभिभाषण देता है। आवश्यकता पड़ने पर वह संसद को संदेश भी भेज सकता है,

जिस पर संसद द्वारा विचार किया जाना आवश्यक हो जाता है। सदनों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके कानून का रुप धारण करते हैं अर्थात सदनों द्वारा पारित कोई विधेयक तभी कानून बन सकता है जब राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति प्रदान कर दे। वह राज्य सभा में 12 तथा लोक सभा में जब एंग्लो–इण्डियन (आँग्ल–भारतीय) समुदाय का प्रतिनिधित्व न हो तो इस समुदाय के 2 सदस्यों को मनोनीत करता है। वह भारत के नियंत्रक–महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, अन्य पिछड़ा आयोग, अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग की वार्षिक रिपोर्ट को और प्रत्येक वर्ष का बजट (जिसे संविधान में वार्षिक वित्तीय विवरण कहा गया है) संसद के समक्ष रखावाता है। संसद सदस्यों के अनार्हता के मुद्दे पर उसका निर्णय अंतिम होता है।

10.3.2 लोक सभा

यह संसद का प्रथम सदन है, जिसे निम्न सदन या लोकप्रिय सदन या प्रतिनिधि सभा भी कहा जाता है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि इसके सदस्य होते हैं और इन सदस्यों के माध्यम से जनता देश के शासन व्यवस्था में भाग लेती है। यह जनता की अपेक्षाओं व अकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने का सर्वोच्च मंच है।

10.3.2.1 संगठनात्मक संरचना एवं सदस्यों का निर्वाचन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 81 में लोक सभा की संगठनात्मक संरचना का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि राज्यों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या अधिक से अधिक 530 हो सकती है और संघराज्य क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्यों की संख्या 20 से अधिक नहीं हो सकती। इन सबके साथ ही संविधान के अनुच्छेद 331 में व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति की राय में लोक सभा में आग्ल–भारतीय समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उस समुदाय के ज्यादा से ज्यादा 2 सदस्यों को नामित कर सकता है। इस तरह हम देखते है कि संविधान द्वारा लोक सभा के लिए अधिकतम संख्या 552 निर्धारित की गई है किन्तु वर्तमान में लोक सभा सदस्यों की संख्या 545 है।

लोक सभा की कुल सीटों को राज्यों में, राज्यों की जनसंख्या के आधार पर बाँटा गया है। प्रत्येक राज्य की लोक सभी सीटों को निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा गया है और निर्वाचन क्षेत्रों को इस तरीके से बांटा जाता है कि प्रत्येक संसद सदस्य को लगभग समान जनसंख्या का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। राज्य को लोक सभा में सीटों का निर्धारण एवं प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र में विभाजित किया जाता है। यह कार्य संसद द्वारा गठित परिसीमन आयोग के द्वारा समपन्न किया जाता है अर्थात् परिसीमन आयोग की सिफारिश पर ही प्रत्येक राज्य में संसदीय चुनाव क्षेत्रों की संख्या, उनका विस्तार क्षेत्र तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति हेतु सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या का निर्धारण किया जाता है। संसद ने संविधान संषोधन करके यह उपबन्ध किया है कि स्थानों का आवंटन और निवार्चन क्षेत्रों का विभाजन 2026 तक यथावत बना रहेगा, परन्तु राज्य में जो निर्वाचन क्षेत्र हैं उन्हें 2001 की जनगणना के बाद समायोजित किया जाएगा।

लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष मतदान प्रणाली द्वारा किया जाता है अर्थात् सीधे जनता द्वारा चुना जाता है एवं केन्द्रशासित प्रदेशों से लोक सभा सदस्यों का निर्वाचन संसद द्वारा बनाई गई विधि के अनुसार होता है। लोक सभा के सदस्यों का चुनाव अनुच्छेद 324 के अधीन

गठित निर्वाचन आयोग द्वारा करवाया जाता है। लोक सभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय हैं अर्थात प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है।

किसी व्यक्ति को लोक सभा का सदस्य बनने या चुनाव लड़ने के लिए कुछ आवश्यक अर्हतायें अथवा योग्यतायें प्राप्त होनी चाहिए जो निम्नलिखित हैं – वह भारत का नागरिक हो, कम से कम 25 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो, मतदाता सूची में मतदाता के रुप में पंजीकृत हो, किसी लाभ के पद पर न हो, न्यायालय द्वारा पागल या दिवालिया घोषित न किया गया हो और संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन निरर्हित न किया गया हो।

कोई भी व्यक्ति एक साथ एक से अधिक सदनों का सदस्य नहीं बन सकता। यदि कोई व्यक्ति विधान सभा का सदस्य है और वह लोक सभा के निर्वाचन में निर्वाचित हो जाता है तो, उसे संसद द्वारा निर्धारित निश्चित अवधि के पहले विधान सभा की सदस्यता छोड़नी होगी अन्यथा, निर्धारित अवधि की समाप्ति पर लोक सभा में उसकी सीट रिक्त मानी जाएगी।

संविधान के अनुच्छेद 83 के अनुसार सामान्य तौर पर लोक सभा का कार्यकाल प्रथम अधिवेशन से 5 वर्ष तक का होता है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति उक्त अवधि से पहले लोक सभा को भंग कर सकता है। आपातकाल लागू होने की स्थिति में संसद कानून बनाकर लोक सभा की अवधि को बढ़ा सकती है। ऐसी स्थिति में संसद एक बार में एक वर्ष की अवधि ही बढ़ा सकती है। आपातकाल की समाप्ति के पश्चात् ऐसी लोक सभा 6 माह से अधिक समय तक कार्य नहीं कर सकती।

10.3.2.2 लोक सभा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष

संविधान के अनुच्छेद 93 में लोक सभा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। इसके अनुसार लोक सभा अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष का चुनाव करता है। लोक सभा अध्यक्ष सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है। लोक सभा अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसके कार्यों का निर्वाह करता है। यदि दोनों न हों तो जिसे सदन निर्धारित करे, अध्यक्ष के रुप में कार्य करेगा। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष तब तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक वह लोक सभा सदस्य रहते हैं या लोक सभा के विघटन के पश्चात् नव–निर्वाचित लोक सभा के अध्ययक्ष एवं उपाध्यक्ष के चुने जाने तक। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष, अध्यक्ष को सम्बोधित कर अपने पद से त्याग–पत्र दे सकता है या, तत्कालीन लोक सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा हटाया जा सकता है। जब अध्यक्ष व उपाध्यक्ष को हटाने से सम्बन्धित प्रस्ताव सदन में विचाराधीन हो तो वह सदन की अध्यक्षता नहीं करता। इनके वेतन–भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होता है।

अध्यक्ष का पद बड़े उत्तरदायित्व का पद होता है जिसे अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। वह लोक सभा का मुख्य अधिकारी होता है। लोक सभा अध्यक्ष ही दोनो सदनो की संयुक्त बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह सदन की गरिमा एवं विषेशाधिकारों का संरक्षण करने के साथ ही सदन में अनुशासन बनाये रखता है। वह बैठकों को स्थगित करता है, प्रस्तावों को सदन में प्रस्तुत करने की अनुमति देता है, एवं प्रस्तावों पर मतदान करवाता है। किसी प्रस्ताव पर समान मत प्राप्त होने की दशा में अपना निर्णायक मत देता है। कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इसका निर्धारण करता है। राष्ट्रपति एवं लोक सभा के बीच कड़ी के रुप में कार्य करता है। सदन के सदस्यों का इस्तीफा भी स्वीकार करता है। लोक सभा

की समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। वह सदन के कार्य संचालन हेतु नियम बनाता है एवं उसकी व्याख्या करता है। सदन से सम्बन्धित किसी मामले पर उसका निर्णय अन्तिम होता है और इन सब कार्यो के साथ ही वह लोक सभा सचिवालय के कर्मचारियों पर नियंत्रण भी रखता है।

10.3.2.3 लोक सभा की शक्तियाँ एवं कार्य

लोक सभा को संघ सूची एवं समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। विशेष परिस्थितियों में यह राज्य–सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है। किसी विधेयक को कानून का रुप धारण करने के लिए लोक सभा द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है। सभी प्रकार के विधेयक (साधारण, वित्तीय, संविधान संशोधन) लोक सभा में प्रारम्भ किये जा सकते हैं अर्थात् लोक सभा उक्त विधेयकों पर पहल कर सकती है। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में संयुक्त बैठक होती है तो लोक सभा के पक्ष में निर्णय होने की सम्भावना ज्यादा होती है, क्योंकि इसकी सदस्य संख्या राज्य सभा से अधिक होती है। राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादे"ा को लोक सभा स्वीकार कर लेती है तो वह कानून का रुप धारण कर लेता है और अस्वीकार कर देती है तो अध्यादेश निरस्त हो जाता है। लोक सभा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु बने निर्वाचक मण्डल का महत्वपूर्ण अंग होता है। आपातकालीन घोषणा को जारी रखने के लिए लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है।

भारत में संसदीय शासन व्यवस्था को लागू किया गया है। संघ की कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) लोक सभा के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिषद संसद का विश्वास प्राप्त रहने तक सत्ता में बनी रहती है। लोक सभा का महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। लोक सभा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने हेतु निम्नलिखित तरीके अपनाती है – प्रश्न एवं पूरक प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव लाकर और अविश्वास प्रस्ताव लाकर (अविश्वास प्रस्ताव केवल लोकसभा में ही लाया जा सकता है), कार्यपालिका की नीतियों की आलोचना करके आदि। इन सबके साथ ही लोक सभा, संघ लोक सेवा आयोग, भारत के नियंत्रक एंव महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, अन्य पिछड़ा आयोग, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार–विमर्श करती है। इस तरह हम देखते हैं कि लोक सभा जन अकांक्षाओं को पूरा करने एवं समस्याओं का समाधान करने वाले सदन के रुप में कार्य करती है।

यदि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का प्रस्ताव राज्य सभा द्वारा लाया जाता है, तो ऐसे में लोक सभा उसकी जांच करती है। महाभियोग प्रस्ताव को पारित होने के लिए लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए भी लोक सभा का अनुमोदन आवश्यक है। इन सबके बावजूद उच्चतम् न्यायालय के न्यायधीशों की संख्या बढ़ाने एवं उच्च न्यायलयों के क्षेत्राधिकार को बढ़ाने या घटाने सम्बन्धित प्रस्ताव लोक सभा द्वारा भी पारित होना चाहिए, तभी ऐसा हो सकता है। उच्चतम व उच्च न्यायालयों के न्याधीशों को पद्च्युत करने के लिए भी लोक सभा एवं राज्य सभा द्वारा अलग–अलग विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित किये जाने के बाद ही राष्ट्रपति उन्हें पद्च्युत कर सकता है।

वित्तीय कार्यो के सम्बन्ध में लोक सभा को राज्य सभा की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। वित्त विधेयक और धन विधेयक लोक सभा में ही प्रस्तुत किये जाते हैं, राज्य सभा में नहीं। इन विधेयकों को लोक सभा द्वारा पारित किये

जाने के पश्चात् राज्य सभा में भेजा जाता है, जिसे 14 दिन में पास करना होता है। यदि राज्य सभा इतने दिनों में विधेयक को पारित नहीं करती तो भी उसे पारित मान लिया जाता है। राज्य सभा इन विधेयकों में सं"ोधन सुझाव दे सकती है किन्तु लोक सभा इन सुझावों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि वित्त विधेयक एवं धन विधेयक को स्वीकृति देने का एकाधिकार लोक सभा को प्राप्त है।

10.3.3 राज्य सभा

यह संसद का दूसरा सदन है, जिसे उच्च सदन भी कहा जाता है। संघात्मक व्यवस्था के अनुसार यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है जो राज्य के हितों को संरक्षित करने का कार्य करता है। इस सदन के गठन करने का उद्देश्य था कि प्रथम सदन द्वारा पारित विधेयकों की समीक्षा कर सके और आवश्यकता पड़ने पर उसमें संशोधन करे। दूसरा, यह कि इसके सदस्य राज्यों के प्रतिनीधि के तौर पर चुनकर आयेंगे और इससे देश की संघीय ढ़ांचे को बल मिलेगा। वास्तविकता यह है कि राज्य सभा राज्यों के हितों के साथ– साथ राष्ट्रहित को भी ध्यान में रखकर कार्य करती है।

10.3.3.1 संगठनात्मक संरचना एवं सदस्यों का निर्वाचन

राज्य सभा की संगठनात्मक संरचना का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 80 में किया गया है, जिसके अनुसार इसकी अधिकतम सदस्य संख्या 250 हो सकती है। इनमें से 238 सदस्य राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के निवाचित प्रतिनिधि होते हैं शेष 12 सदस्यों को राष्ट्रपति मनोनीत करता है, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान व अनुभव प्राप्त हो। इन सदस्यों को मनोनीत करने का उद्देश्य यह था कि प्रतिष्ठित एवं विशिष्ट ज्ञान रखने वाले योग्य लोगों को, जो निर्वाचन का सामना नहीं करना चाहते, राज्य सभा में स्थान मिले जिससे देश को उनके बौद्धिक ज्ञान का लाभ प्राप्त हो सके।

राज्य सभा सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रुप से किया जाता है अर्थात् राज्य सभा सदस्यों का चुनाव राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय अनुपातिक मत प्रणाली के माध्यम से किया जाता है। इस प्रणाली के जनक **टॉमस हेयर** थे और इन्हीं के नाम पर निर्वाचन की इस प्रणाली को **हेयर योजना** कहते है। राज्य सभा में सीटों का आवंटन राज्यों की जनसंख्या के अनुपात में किया जाता है और कुछ छोटे राज्यों जैसे– मेघालय, मणिपुर तथा गोवा आदि को एक–एक सीट आवंटित किया गया है।

राज्य सभा का सदस्य बनने के लिए लोक सभा के समान ही आव"यक अर्हतायें है केवल अन्तर यह है कि इसकी सदस्यता के लिए कम से कम 30 वर्ष की आयु होनी चाहिए जबकि लोक सभा लिए आयु 25 वर्ष है। अनुच्छेद 101 में उपबन्ध है कि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य नहीं बन सकता यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों के लिए चुन लिया जाता है तो ऐसे में उसे किसी एक सदन की सदस्यता छोड़नी पड़ेगी।

राज्य सभा कभी भंग न होने वाला सदन है अर्थात् यह संसद का स्थाई सदन है। इसका कार्यकाल 6 वर्ष का होता है। इसके 1/3 सदस्य प्रति दो वर्ष बाद सेवानिवृत्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्यों का चुनाव किया जाता है। राज्य सभा सदस्य स्वेच्छा से अपनी सदस्यता छोड़ सकता है।

10.3.3.2 सभापति एंव उपसभापति

लोक सभा की भांति ही राज्य सभा की कार्यवाहियों के संचालन हेतु संविधान के अनुच्छेद 89 में दो पदाधिकारियों की व्यवस्था की गई है, जिसमें से एक सभापति एवं एक उप–सभापति होगा। इस अनुच्छेद के अनुसार भारत का उप–राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है जिसका कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। उप–राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन या किसी भी राज्य विधान सभा का सदस्य नहीं होता है। उप–राष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों द्वारा एकल संक्रमणीय अनुपातिक मत प्रणाली द्वारा होता है। राज्य सभा के सदस्य अपने सदस्यों में से किसी एक को अपना उप–सभापति 6 वर्ष चुनते हैं। सभापति की अनुपस्थिति में या जब सभापति (उप–राष्ट्रपति) राष्ट्रपति के रुप में कार्य कर रहा है, तब वह सभापति के रुप में कार्य करेगा। यदि उप–सभापति भी अनुपस्थित हो तो राज्य सभा का ऐसा सदस्य जिसको राष्ट्रपति नियुक्त करे, सभापति के रुप में कार्य करेगा (अनु0 91)।

सभापति एवं उप–सभापति स्वेच्छा से अपने पद से इस्तीफा दे सकता है। सभापति को हटाने संबंधी प्रस्ताव को यदि राज्य सभा बहुमत से पारित कर देती है और लोक सभा उस पर अपनी सहमति प्रदान कर देती है तो सभापति को पद छोड़ना पड़ता है। किन्तु ऐसा प्रस्ताव लाने से 14 दिन पहले सभापति को नोटिस देना जरुरी है। उप–सभापति को हटाने के लिए मात्र राज्य सभा बहुमत से प्रस्ताव पास कर देती है तो उप–सभापति को पद छोड़ना पड़ेगा। ध्यान देने की बात है कि उप–सभापति को हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव पर लोकसभा की सहमति लेना आवश्यक नहीं है। यद्यपि जब सभापति या उप–सभापति (दोनो में से जिस को) को पद से हटाने सम्बन्धी कोई प्रस्ताव सदन में विचाराधीन है तो ऐसे में सदन में उपस्थित रहकर भी वह सदन की अध्यक्षता नहीं करेगा (अनु0 92)।

राज्य सभा के सभापति को राज्य सभा के कार्य संचालन के सन्दर्भ में वे सभी शक्तियाँ प्राप्त हैं जो लोकसभा अध्यक्ष को प्राप्त हैं जैसे– बैठकों की अध्यक्षता करना, बैठकों को स्थगित करना, प्रस्ताव लाने की अनुमति देना, प्रस्ताव पर मतदान करवाना, विशेषाधिकारों की रक्षा करना तथा सदन में अनुशासन बनाये रखना आदि।

10.3.3.3 शक्तियाँ एवं कार्य

राज्य सभा की शक्तियाँ वित्तीय मामलों को छोड़कर अन्य सभी मामलों में लोक सभा के समान ही होती हैं। राज्य सभा को कानून बनाने की शक्ति लोक सभा के समतुल्य ही है अर्थात् राज्य सभा गैर –वित्त विधेयक के सम्बन्ध में पहल कर सकती है। कोई विधेयक कानून का रुप तभी धारण कर सकता है जब लोक सभा के समान राज्य सभा द्वारा भी पारित कर दिया गया हो।

राज्य सभा को संविधान संशोधन करने सम्बन्धी प्रस्ताव पर लोक सभा की तरह ही अधिकार प्राप्त है। संविधान संशोधन प्रस्ताव की शुरुआत राज्य सभा के द्वारा भी की जा सकती है अर्थात् ऐसे प्रस्ताव किसी भी सदन में लाये जा सकते हैं। संविधान संशोधन तभी माना जायेगा जब राज्य सभा भी ऐसे प्रस्ताव को बहुमत द्वारा पारित करे, अन्यथा संविधान संशोधन प्रस्ताव गिर जायेगा अथवा संशोधन नहीं हो पायेगा। लोक सभा द्वारा पारित इन प्रस्तावों में राज्य सभा संशोधन कर सकती है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन एवं उन पर महाभियोग लगाकर पद से हटाने, उप–राष्ट्रपति के चुनाव, उच्चतम् न्यायालय में एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पद से हटाने के साथ ही उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार बढ़ाने–घटाने तथा उच्चतम् न्यायालय के न्यायधीशों की संख्या बढ़ाने, मुख्य चुनाव आयुक्त, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को पद से हटाने आदि के सम्बन्ध में राज्य सभा को लोक सभा के समान ही अधिकार प्राप्त है अर्थात् उक्त मामलों में राज्य सभा की सहमति आवश्यक है।

राज्य सभा को कार्यपालिका सम्बन्धी शाक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यह ठीक है मंत्रिपरिषद लोकप्रिय सदन अथवा निम्न सदन के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है। किन्तु मंत्री परिषद के गठन में राज्य सभा के सदस्यों को भी शामिल किया जा सकता है। राज्य सभा के सदस्य भी मंत्री या प्रधानमंत्री बन सकते हैं। हमारे पूर्व प्रधानमंत्री डा0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा के ही सदस्य थे। राज्य सभा कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने हेतु निम्न तरीके अपनाती है– काम रोको प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, प्रश्न एवं पूकर प्रश्न पूछकर तथा कार्यपालिका की नीतियों की आलोचना करके आदि। इन सब माध्यमों के अलावा राज्य सभा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग, केन्द्रीय वित्त आयोग आदि के वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार विमर्श करती है और मंत्रियों पर अंकुश लगाती है। राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल (अनु0 352, 356 एवं 360) की घोषणा किये जाने की स्थिति में उसके अनुमोदन की शक्ति भी राज्य सभा को प्राप्त है। लोक सभा भंग होने पर राज्य सभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक है अन्यथा एक निश्चित समय के बाद वह लागू नहीं रह सकती है।

वित्त विधेयक के सम्बन्ध में राज्य सभा को अत्यन्त सीमित शक्तियां प्राप्त हैं। वित्त विधेयक सर्वप्रथम लोक सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है और इसके द्वारा पारित होने के पश्चात् राज्य सभा को भेजा जाता है। राज्य सभा को अधिक से अधिक 14 दिन के अन्दर इस विधेयक को पारित करना होता है। यदि राज्य सभा इस अवधि में वित्तय विधेयक को पारित नहीं भी करती है तो उक्त अवधि के पश्चात् विधेयक राज्य सभा द्वारा पारित मान लिया जाता है। राज्य सभा अपने सुझाव के साथ इस विधेयक को लोक सभा को वापस भेज सकती है, किन्तु यह लोक सभा के ऊपर निर्भर है कि वह राज्य सभा की सिफारिश या सुझावों को माने या न माने। इस सम्बन्ध में लोक सभा राज्य सभा के सुझावों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। अतः हम कह सकते है कि राज्य सभा को वित्त विधेयक के मामले में न के बराबर शक्ति प्राप्त है अर्थात् मात्र औपचारिकता पूर्ण करने की शक्ति प्राप्त है।

उक्त शक्तियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी विषेश शक्तियाँ हैं जो केवल राज्य सभा को ही प्राप्त हैं। संविधान के अनुच्छेद 249 में कहा गया है कि राज्य सभा विशेष बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित करके राज्य सूची के विषयों पर राष्ट्रहित में कानून बनाने के लिए संसद को अधिकृत कर सकती है। इसके अलावा अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्य सभा अपने विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित करे कि राष्ट्रहित में एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवाओं का गठन किया जाना आवश्यक है, तो संसद विधि बनाकर इनका सृजन कर सकती है।

10.4 लोक सभा एवं राज्य सभा का तुलनात्मक अध्ययन

हम लोक सभा एवं राज्य सभा की शक्तियाँ एवं कार्यों का अलग–अलग अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ पर हम दोनों सदनों के कार्यों एवं शक्तियों को ध्यान में रखते हुए संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

भारतीय संविधान ने संसद के दोनों सदनों को कानून बनाने की शक्ति प्रदान की है। कोई भी विधेयक जब तक दोनों सदनों द्वारा पारित नहीं किया जाता तब तक वह कानून का रुप नहीं ले सकता। साधारण एवं संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। दोनों सदनों को विधेयक में संशोधन एवं पारित करने की शक्ति प्राप्त है। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में गतिरोध या मतभेद है तो ऐसी स्थिति में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलायी जाती है और बहुमत से निर्णय लिया जाता है। वित्त विधेयक राज्य सभा में पहले प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। हम बता चुके हैं कि राज्य सभा वित्त विधेयक पर अत्यन्त सीमित अधिकार रखता है। राष्ट्रपति एंव उप–राष्ट्रपति के चुनाव में दोनों सदन भाग लेते हैं। राष्ट्रपति को हटाने के लिए यदि लोक सभा द्वारा महाभियोग का प्रस्ताव लाया जाता है तो राज्य सभा उसकी जांच करती है। उच्चतम् एवं उच्च न्यायालय के न्यायधीशों व मुख्य निर्वाचन आयुक्त को पद से हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव दोनों सदनो द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है।

कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के सम्बन्ध में हम देखते है कि दोनों सदनों को लगभग समान रुप से अधिकार प्राप्त हैं और नियंत्रण का तरीका भी लगभग समान है। किन्तु कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लोक सभा में ही लाया जा सकता है, राज्य सभा में नहीं। क्योंकि मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, राज्य सभा के प्रति नहीं। लोक सभा एवं राज्य सभा दोनों के सदस्य मंत्री या प्रधानमंत्री हो सकते है। ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि राज्य सभा सदस्य उक्त पद धारण नहीं कर सकता। राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत किये जाने पर ही निश्चित अवधि से अधिक समय तक लागू रह सकता हैं। भारत के संवैधानिक संस्थाओं की वार्षिक प्रतिवेदन दोनों सदनों में प्रस्तुत एवं उसपर विचार–विर्मश किया जाता है।

राज्य सूची के विषयों पर संसद तभी कानून बना सकती है जब राज्य सभा विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित कर राष्ट्रहित में ऐसा करने को कहे। नई अखिल भारतीय सेवा के गठन के सम्बन्ध में पहल करने की शक्ति राज्य सभा को ही प्राप्त है। जब राज्य सभा इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित करें कि राष्ट्रहित में एक या अधिक अखिल भारतीय सेवा का गठन किया जाये, तब संसद विधि बनाकर अखिल भारतीय सेवा का सृजन कर सकती है।

इस तरह हम देखते है कि राज्य सभा को कुछ क्षेत्रों में लोक सभा के समान ही, तो कुछ क्षेत्रों में अत्यन्त सीमित या न के बराबर तथा कुछ क्षेत्रों में विशेष शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। ऐसे में यह नहीं समझना चाहिए कि राज्य सभा महत्वहीन एवं लोक सभा महत्वपूर्ण है, बल्कि दोनों का अपना–अपना महत्व है और संघात्मक व्यवस्था के लिए दोनों सदनों का होना आवश्यक भी है।

10.5 संसद के कार्य एवं शक्तियाँ

हमारे यहाँ संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता विधायिका और कार्यपालिका का अर्न्तसम्बन्धित होना है। कार्यपालिका का गठन विधायिका के सदस्यों में से किया जाता है। भारतीय संसद, ब्रिटिश संसद की तरह सर्वोच्च तो नहीं है, फिर भी, विश्व के सशक्त संसदों में से एक है। भारतीय संविधान एवं संसदीय नियमों द्वारा संसद को अग्रलिखित कार्य एवं शक्तियाँ प्राप्त हैं–

(1) संसद देश के लिए कानून बनाती है। इसके द्वारा बनाया गया कानून पूरे देश में लागू होता है। संसद को संघ सूची के 97 विषयों पर विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। समवर्ती सूची के 52 विषयों पर संसद एवं राज्य व्यवस्थापिका दोनों को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है लेकिन जब दोनों के कानून में विरोधाभास हो तो ऐसे में संसद द्वारा बनाया गया कानून मान्य एवं प्रभावी होगा। विशेष परिस्थितियों एवं संकटकालीन स्थिति में संसद राज्य सूची के 61 विषयों पर भी कानून बना सकती है। अवशिष्ट विषयों पर कानून बनाने की शक्ति संसद को ही प्राप्त है।

(2) प्रशासन पर नज़र रखना एवं नियंत्रण रखना संसद का कार्य है। संसद बजट चर्चा, सम्बन्धित विभाग के मंत्री से प्रश्न पूछकर तथा संसदीय समितियों के जरिये प्रशासन पर नज़र व नियंत्रण रखती है। मंत्रीपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करके उसे पदच्युत कर सकती है।

(3) देश के वित्त पर नियंत्रण रखना भी संसद का कार्य है। संसद की अनुमति के बिना सरकार न तो कोई कर लगा सकती है और न ही संग्रहित कर सकती है। संसद को बजट को स्वीकारया अस्वीकार करने व अनुदान मांगों में काटौती करने की शक्ति प्राप्त है, लेकिन संसद को अनुदान मांगों में बढ़ोतरी करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। संसद वित्त पर अपना नियंत्रण संसदीय समीतियों एंव सी0ए0जी0 की वार्षिक रिपोर्ट के माध्यम से करती है।

(4) संसद को संविधान में संशोधन की शक्ति प्राप्त है, किन्तु संविधान के मूल ढ़ाँचे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। संसद संविधान में समय –समय पर आवश्यकतानुसार संशोधन करके संविधान को समयानुकूल एवं प्रासंगिक बनाये रखने का कार्य करती है।

(5) यह राष्ट्रपति एवं उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय निर्वाचन मण्डल के अभिन्न अंग के रुप में कार्य करती है। संसद राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा कर उसे पद से हटा सकती है। संसद उच्चतम व उच्च न्यायालयों के न्यायधीशो एवं अन्य उच्चधिकारियों को हटाने हेतु लगाये गये आरोपों की जांच करता है और प्रस्ताव पारित कर उन्हें पदच्युत कर सकती है। इसको संसदीय विषेशाधिकारों के उलंघन के मामले में दण्डित करने की शक्ति प्राप्त है।

(6) राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की उद्घोषणा को संसद का अनुमोदन जरुरी है, अन्यथा इसके अभाव में इस घोषणा को एक निश्चित समय से अधिक अवधि तक जारी नहीं रखा जा सकता है।

(7) संसद को ही राज्यों की सीमाओं एवं नामों में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी :1) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

1) राज्य सभा सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष का होता है?

_____
_____

2) राज्य सभा का पदेन सभापति कौन होता है?

_____
_____

3) लोक सभा सदस्यों की आवश्यक अर्हताओं का उल्लेख कीजिए।

_____
_____

4) लोक सभा अध्यक्ष के कार्यों को बताइये।

_____
_____

10.6 संसद के विशेषाधिकार

संसद को सामूहिक रुप से तथा उसके सदस्यों को व्यक्तिगत रुप से कुछ ऐसे अधिकार दिए गए हैं जो साधारण नागरिकों को प्राप्त नहीं हैं। इसी लिए इन्हे विशेषधिकार कहा जाता है। इसके अंतगर्त संसद के दोनों सदनों के सदस्य एवं उसकी समीतियों को शामिल किया जाता है। इन लोगों को विशेषाधिकार उसी समय एवं उसी सीमा तक प्राप्त होते हैं जब तक वे अपने संसदीय दायित्वों या कर्तव्यों का निर्वहन कर रहे होते हैं। संसद की सदस्यता ग्रहण करने या शपत लेने के बाद ही उन्हे यह विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं। संसद के विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में संविधान के अनु0–105 में उपबन्ध किया गया है और संसद को इस सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है। संसद को विशेषाधिकार इस वजह से प्रदान किये गये है कि वे अपनी गरिमा बनाये रखने के साथ ही संविधान द्वारा सौंपे गये दायित्वों को सुचारु रुप से पूरा कर सकें। संसद एवं उसकी समितियों को प्राप्त विशेषाधिकारों के बारे में सुभष कश्यप ने बड़े अच्छे ढ़ंग से विस्तारपूर्वक बताया है। जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जा रहा है जो निम्नलिखित है–

1– संसद में वाक्–स्वातन्त्र ख्अनु0–105(1),, इसके तहत यदि कोई सांसद सदन में या समितियों में बोलता है तो उसके विरुद्ध कार्यवाही इस आधार पर नहीं की जा सकती कि उसका अभिभाषण मानहानिकारक एवं अपमानजनक था।

2– न्यायालयों द्वारा संसद की कार्यवाहियों की जांच किये जाने पर रोक लगायी गयी है (अनु0–122)।

3– संसद की चार दिवारी के भीतर अध्यक्ष की अनुमति के बिना किसीको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न ही इस तरह के किसी आदेश का पालन होगा। यहाँ केवल अध्यक्ष/सभापति के आदेशों का अनुपालन होता है।

4– संसद सत्र के समय या उसके आरम्भ होने के 40 दिन पहले एवं सत्र समाप्ति के 40 दिन बाद तक दीवानी मामलों में सदस्यों को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यह रोक केवल दीवानी मामलों में ही है, अपराधिक मामलों में नहीं।

5– संसद की कार्यवाहियों को इसकी अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

6– संसदीय समितियों को जांच करते समय सम्बन्धित व्यक्ति को बुलाने, उसे शपत दिलाने तथा संबंधित अभिलेखों को मांगने की शक्ति प्राप्त है। समिति की जांच की रिपोर्ट को सदन के पटल पर रख दिये जाने के बाद ही उसे प्रकाशित किया जा सकता है।

संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि संसदीय विशेषाधिकारों का उलंघन या सदन की अवमानना करने वाले किसी भी व्यक्ति को दण्ड दे सकती है, चाहे वह व्यक्ति संसद सदस्य ही क्यों न हो।

10.7 संसद की कार्य प्रणाली

जैसा कि हम जानते है कि संसद का प्रमुख कार्य विधि का निर्माण करना है। विधि निर्माण के अधिकांश मामलों में सरकार द्वारा पहल की जाती है। व्यवस्थापन के सभी प्रस्ताव विधेयक के रुप में संसद के समक्ष पेश किये जाते हैं। विधेयक दो प्रकार के होते हैं– सरकारी विधेयक एवं गैर–सरकारी या निजी विधेयक। मंत्रिपरिषद के सदस्यों द्वारा पेश किये जाने वाले विधेयक को सरकारी विधेयक तथा मंत्रिपरिषद के इतर अन्य सदस्यों द्वारा पेश किये जाने वाले विधेयक को गैर–सरकारी या निजी विधेयक कहते हैं। इन विधेयकों को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन वर्गो मे वर्गीकृत किया जा सकता है (1) साधरण विधेयक (2) वित्त विधेयक (3) संविधान संशोधन विधेयक। ये विधेयक संसद में प्रस्तुत होने से लेकर अनुमोदन प्राप्त करने तक कई चरणों से होकर गुजरते हैं, जिसके बारे में हम एक–एक करके सभी विधेयकों पर अपनायी जाने वाली विधायी प्रक्रियाओं का अध्ययन करेंगे।

10.7.1 साधारण विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया

वित्त विधेयकों को छोड़कर सभी विधेयक साधारण विधेयक होते हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी लाया जा सकता है। सदन में जब कोई प्रस्ताव लाया जाता है तो सम्बन्धित मंत्रालय उस प्रस्ताव के सभी पहलुओं पर विचार करता है। इस प्रक्रिया में विधि मंत्रालय, महान्यावादी तथा जरुरत पड़ने पर हित समूहों से भी परामर्श लिया जाता है। प्रस्ताव के सभी पहलूओं पर विचार करने के बाद मंत्रिमण्डल के समक्ष अनुमोदन हेतु रखा जाता है। मंत्रिमण्डल का अनुमोदन प्राप्त होने के बाद प्रस्ताव को विधेयक का रुप दिया

जाता है। विधेयक को कानून का रुप लेने से पूर्व संसद में कई चरणों से गुजरना पड़ता है। इन चरणों को वाचन कहा जाता है। सभी विधेयक दोनों सदनों में तीन वाचन से होकर गुजरते हैं जिसे प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन एवं तृतीय वाचन कहते हैं।

प्रथम वाचन– किसी भी विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने से पहले सदन से अनुमति लेना पड़ता है। सामान्यतः विधेयक को प्रस्तुत करने की अनुमति मिल जाती है, विरोध नहीं किया जाता। यदि विधेयक प्रस्तुत करने का विरोध होता है तो अध्यक्ष/ सभापति चर्चा की अनुमति दे सकता है और तत्पश्चात् मतदान करवाता है। सदन की अनुमति प्राप्त करके सम्बन्धित मंत्री विधेयक को सदन में प्रस्तुत करता है। इस अवसर पर वह केवल विधेयक का शीर्षक मात्र ही पढ़ देता है। विधेयक का सदन में प्रस्तुत किया जाना ही प्रथम वाचन है। विधेयक पेश हो जाने के बाद इसको भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है। विधेयक सदन में प्रस्तुत किये जाने से पहले भी अध्यक्ष/सभापति की अनुमति लेकर राजपत्र (गजट) में प्रकाशित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विधेयक को सदन में प्रस्तुति की अनुमति लेना जरुरी नहीं होता अर्थात् विधेयक को सीधे सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। विधेयक का प्रथम वाचन औपचारिक मात्र होता है।

द्वितीय वाचन– किसी विधेयक का द्वितीय वाचन बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इस वाचन में ही विधेयक के सभी बिन्दुओं पर एक–एक करके विस्तृत रुप से विचार किया जाता है। इस वाचन के दो चरण होते हैं– प्रथम चरण में विधेयक पर सामान्य चर्चा की जाती है, यह चर्चा केवल विधेयक के सिद्धान्तों पर होती है। दूसरे चरण में विधेयक के खण्डों–उपखण्डों पर विचार विमर्श किया जाता है। सदन के पास यह विकल्प होता है कि प्रस्तुत विधेयक पर वह स्वयं विचार कर सकता है या प्रवर समिति/संयुक्त समिति को निर्दिष्ट कर सकता है या उस पर जनता की राय जानने के लिए प्रसारित कर सकता है।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि प्रायः विवादास्पद विधेयक समिति को सौंप दिए जाते हैं। यदि विधेयक को प्रवर/संयुक्त समिति को सौंपा जाता है तो समिति विधेयक पर खण्डवार गहराई से विचार–विमर्श तथा जांच करती है। यह विधेयक में संशोधन भी कर सकती है। समिति सौंपे गए विधेयक के संबंध में अपनी रिपोर्ट सदन के समक्ष रखती है। उसके पश्चात् सदन विधेयक एवं समिति की रिपोर्ट (संशोधन सहित) पर विचार करती है और तत्पश्चात् मतदान होता है। यदि सदन बहुमत द्वारा संशोधन पारित या स्वीकृत कर देती है तो वे विधेयक के अंग हो जाते हैं।

तृतीय वाचन– इस वाचन में स्वीकृत विधेयक को पारित करने की औपचारिकता पूर्ण की जाती है। इस वाचन में विधेयक में कोई महत्वपूर्ण व बड़ा संशोधन नहीं किया जाता है। सामान्य चर्चा के बाद विधेयक को सदन द्वारा बहुमत से पारित कर दिया जाता है।

एक सदन द्वारा विधेयक पारित हो जाने के बाद दूसरे सदन को भेजा जाता है। दूसरे सदन में भी विधेयक उपरोक्त तीन वाचनों से गुजरता है। यह सदन विधेयक में सशोधन, स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है। यदि दूसरा सदन विधेयक में कोई संशोधन करता है तो विधेयक को पुनः पहले वाले सदन में रखा जाता है। यदि पहला सदन दूसरे सदन द्वारा विधेयक में किए गए संशोधन को स्वीकार कर लेता है तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि संशोधन को पहला सदन स्वीकार नहीं करता और दूसरा सदन संशोधन पर

जोर देता है तो गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे में राष्ट्रपति संयुक्त बैठक बुलाता है और मतदन द्वारा बहुमत से विधेक पारित किया जाता है। जब संयुक्त बैठक में विधेयक बहुमत से पारित हो जाता है तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है।

दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है। यदि राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति प्रदान कर देता है तो वह विधेयक कानून बन जाता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह विधेयक पर अपनी सहमति प्रदान करे या रोके रखे, या सिफारिश के साथ पुनर्विचार हेतु सदन को वापस कर दे। यदि राष्ट्रपति विधेयक को अपनी सिफारिश के साथ पुनर्विचार हेतु वापस कर सकता है तो सदन उस सुझाव पर विचार करती है। यदि सदन उस सुझाव को स्वीकारते हुए संशोधन के साथ या बिना संशोधन किये उसी रुप में पारित करके राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजती है, तो ऐसे स्थिति में राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है और विधेयक कानून बन जाता है।

10.7.2 वित्तीय विधेयक पर विधायी प्रक्रिया

वित्त से सम्बन्धित विधेयक वित्तीय विधेयक कहलाता है। वित्तीय विधेयकों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है–(क) धन विधेयक (अनु0110) (ख) वित्त विधेयक ख्अनु0 117 (1), (ग) वित्तीय विधेयक ख्अनु0 117 (3),। धन विधेयक को संविधान के अनुच्छेद 110 में परिभाषित किया गया है। सभी धन विधेयक वित्त विधेयक होते है किन्तु सभी वित्त विधेयक धन विधेयक नहीं होते। कोई विधेयक धन विधेयक है या नही इसका निर्णय लोक सभा अध्यक्ष करता है। धन विधेयक (अनु0110) एवं वित्त विधेयक ख्अनु0 117 (1), राष्ट्रपति की पूर्वानूमति से केवल लोक सभा में ही पहले प्रस्तुत किया जा सकता है, राज्य सभा में नहीं। धन विधेयक पर राज्य सभा को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है। लोक सभा द्वारा पारित धन विधेयक को राज्य सभा को 14 दिन में पारित करना होता है। यदि इस अवधि में राज्य सभा इसे पारित नहीं करती है तो भी इसके द्वारा पारित मान लिया जाता है। राज्य सभा धन विधेयक में संशोधन नहीं कर सकती बल्कि संशोधन की सिफारिश कर सकती है जिसे मानना या न मानना लोकसभा पर निर्भर करता है।

धन विधेयक के साथ जब कोई कानूनी प्रावधान संलग्न कर दिया जाता है तो ऐसे विधेयक को वित्त विधेयक कहते हैं। वित्त विधेयक भी धन विधेयक की भांति राष्ट्रपति की अनुमति से लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है, राज्य सभा में नहीं, किन्तु इसके बाद उसके साथ साधारण विधेयक जैसा ही व्यवहार किया जाता है। राज्य सभा को वित्त विधेयक में संशोधन करने एवं उसे अस्वीकार करने की शक्ति है।

अनुच्छेद 117 (3) के अन्तर्गत आने वाले वित्तीय विधेयक को साधारण विधेयक की भांति संसद के किसी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन विधेयक सदन द्वारा तब तक पारित नहीं किया जाएगा जब तक राष्ट्रपति सम्बन्धित सदन से विधेयक पर विचार करने की सिफारिश नहीं करता। ऐसे विधेयकों को सदन में प्रस्तुत करने हेतु राष्ट्रपति की पूर्वानुमति की आव"यकता नहीं होती।

संविधान के अनुच्छेद 112–117 के बीच वित्तीय विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया एवं अनु0 109 में धन विधेयक के सम्बन्ध में विशेष प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। उक्त विधेयकों को दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने के पश्चात्

राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है, ऐसे में राष्ट्रपति धन विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयकों पर साधारण विधेयक की तरह अपनी स्वीकृति दे सकता, रोक सकता है एवं पुनर्विचार हेतु नहीं लौटा नहीं सकता। राष्ट्रपति धन विधेयक को पुर्नविचार के लिये नहीं लौटा सकता ज्यादा से ज्यादा रोके रख सकता है। सामान्यतः धन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति प्रदान कर ही देता है।

राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिए संसद के समक्ष बजट रखवाता है। बजट में सरकार के आय–व्यय का व्यौरा होता है। **एक्वर्थ कमेटी** के सुझाव पर सन् 1921 में सामान्य बजट से रेल बजट को अलग कर दिया गया था। रेल बजट में केवल रेल विभाग से सम्बन्धित आय–व्यय शामिल होते हैं जबकि सामान्य बजट में शेष सभी विभागों के आय–व्यय का विवरण होता है। सामान्य बजट में दो प्रकार के व्यय शामिल होते है– 1) संचित निधि पर भारित व्यय, जिस पर संसद चर्चा तो कर सकती है किन्तु मतदन नहीं होता। 2) सरकार के अन्य खरचे जिसपर संसद पर चर्चा एवं मतदान होता है। सरकार अनुदान मांग के रुप में सदन के समक्ष रखती है और स्वीकृत होने के पश्चात् खर्च कर सकती है।

बजट पारित होने से पहले निम्नलिखित चरणों से गुजरता है– 1) प्रस्तुतीकरण (प्रथम वाचन) 2) सामान्य चर्चा (द्वितीय वाचन) 3) विनियोग विधेयक एवं वित्त विधेयक (तृतीय वाचन)।

बजट लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य बजट वित्त मंत्री द्वारा तथा रेल बजट रेल मंत्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वित्त मंत्री विगत बजट का आर्थिक समीक्षा भी प्रस्तुत करता है। इस चरण में मंत्री बजट के सम्बन्ध मे एवं आर्थिक नीतियों पर प्रकाश डालता है। बजट की प्रतियाँ दोनों सदनों में एक साथ पेश की जाती हैं और दोनों सदनों द्वारा विचार भी एक साथ किया जाता है।

बजट प्रस्तुत हो जाने के बाद अनुमान समिति इस पर विचार करती है और मितव्ययिता के सम्बन्ध में अपना सुझाव देती है। इसके बाद सदन में संचित निधि पर भारित व्यय के अलावा अन्य मांगों पर विभागवार चर्चा एवं मतदान होता है। इसी चरण में विपक्ष द्वारा अनुदान मांगों में कटौती प्रस्ताव भी लाये जाते हैं। सामान्यतः यह प्रस्ताव पास नहीं होता क्योंकि बहुमत की सरकार होती है और इन मांगों को सरकार का समर्थन होता है। सदन सभी विभागों की अनुदान मांगों पर विचार करने के पश्चात् इन मांगों को बहुमत से स्वीकृत करती है। कुछ ऐसी मांगें रह जाती हैं जिन पर समयाभाव के कारण सदन चर्चा नहीं कर पाता उसे सीधे मतदान द्वारा पास कर दिया जाता है अर्थात् बिना चर्चा किये पास कर दिया जाता है, इस व्यवस्था को **गिलोटीन** कहते हैं।

लोक सभा द्वारा स्वीकृत मांगों को एवं संचित निधि पर भारित व्यय को मिला कर एक विधेयक बना दिया जाता है जिसे **विनियोग विधेयक** कहते हैं। इस विधेयक पर विशेष चर्चा नहीं होती क्योंकि इन मांगो को सदन द्वारा पहले ही स्वीकार कर लिया गया होता है। इस विधेयक के पास हो जाने पर सरकार को व्यय करने की अनुमति प्राप्त हो जाती है। इस विधेयक को लोक सभा पास करके राज्य सभा को भेजती है जिसे राज्य सभा को 14 दिन में पारित करके वापस करना होता है। राज्य सभा पारित न भी न करे तो पास माना जाता है। दोनों सदनों से पास होने के बाद इसे राष्ट्रपति की अनुमति हेतु भेजा जाता है। राष्ट्रपति अनुमति प्रदान कर देता है तो सरकार को व्यय करने का अधिकार मिल जाता है।

वित्त विधेयक में आय के साधनों अथवा कर लगाने आदि का विवरण होता है। संसद की अनुमति के बिना न कोई कर लगाया जा सकता है, न ही संग्रहित किया जा सकता है। यह विधेयक भी समिति की रिपोर्ट के साथ सदन में चर्चा के बाद बहुमत से पारित किया जाता है। लोक सभा पारित करके राज्य सभा को भेजती है, जिस पर राज्य सभा धन विधेयक की तरह शक्ति रखती है अर्थात् इस विधेयक को 14 दिन में पास करना होता है। तत्पश्चात् राष्ट्रपति के अनुमोदन हेतु भेजा जाता है और राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर सरकार को कर लगाने एवं वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

बजट पारित करने के बाद भी संसद लोक लेखा समिति एवं नियंत्रक – महालेखा परीक्षण के माध्यम से वित्त पर नियंत्रण रखती है।

10.7.3 संविधान–संशोधन विधेयकों पर विधायी प्रक्रिया

संविधान संशोधन विधेयक साधारण विधेयकों की भांति संसद के दोनों में से किसी भी सदन में सरकारी या गैर–सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। आमतौर पर सरकार द्वारा लाया जाने वाला संविधान संशोधन विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। इन विधेयकों को पारित होने के लिए भी तीन वाचन से होकर गुजरना पड़ता है एवं राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर संविधान संशोधन हो जाता है या मान लिया जाता है।

संविधान में संशोधन करने की शक्ति संसद को प्राप्त है और संविधान संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के अनु0 368 में किया गया है। संविधान में संशोधन तीन तरह से किया जा सकता है– 1) संविधान के कुछ भागों में संसद अपने साधारण बहुमत द्वारा संशोधन कर सकती है। 2) संविधान के कुछ भाग ऐसे हैं, जिनमें संशोधन दोनों सदनों द्वारा अलग–अलग अपने विशेष बहुमत अर्थात् उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत एवं उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम 2/3 बहुमत द्वारा विधेयक पारित करके किये जा सकते हैं। 3) संविधान के कुछ भाग जो केन्द्र एंव राज्य दोनों से सम्बन्ध रखते हैं, उनमें संशोधन करने के लिए संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग–अलग विशेष बहुमत द्वारा पारित एंव कम से कम आधे राज्यों की विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त करके संशोधन कर सकती है। विधेयक पारित होने के बाद इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। साधारण विधेयकों की तरह ही संविधान संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है या रोके रख सकता है या पुर्नविचार के लिए वापस कर सकता है। संसद द्वारा दुबारा भेजे जाने पर राष्ट्रपति को विधेयक पर अनुमति प्रदान करना ही पड़ता है। संविधान संशोधन विधेयक दोनों सदनो द्वारा पारित किये जाने एवं उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के पश्चात् ही संविधान संशोधन माना जायेगा।

10.8 समिति प्रणाली एवं संसदीय समितियां

संसद को कार्यपालिका व वित्त पर नियंत्रण रखना होता है इसके साथ ही कानून का निर्माण भी करना होता है। विधि का निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है। आधुनिक समय में कार्यों की जटिलता, प्रशासनिक कार्यो का विस्तृत क्षेत्र एवं समयाभाव के कारण इन कार्यो को प्रभावी ढंग से अंजाम देना संसद के लिए असम्भव हो जाता है। ऐसे में संसद समितियों के माध्यम से सार्थक एवं प्रभावशाली ढंग से अपने कार्यो को पूरा करती है।

भारत में दो प्रकार की संसदीय समितियां हैं– 1) स्थायी समितियां, 2) तदर्थ समितियां। जैसा कि नाम से पता चलता है कि स्थाई समितियां निरन्तर कार्य करती हैं। प्रत्येक वर्ष इनका गठन किया जाता है और सदस्य बदलते रहते हैं। तदर्थ समितियों का गठन किसी विशेष मामले पर विचार करने हेतु किया जाता है और कार्य पूरा होते ही समाप्त हो जाती हैं। भारत में नई समिति व्यवस्था की शुरुआत 1989 में की गयी और इसके तहत संसद की पुरानी समितियों के अलावा 17 नई विभागीय स्थाई समितियों का गठन किया गया, जो निम्नलिखित हैं– कृषि समिति, उद्योग समिति, मानव संसाधन विकास समिति, संचार समिति, वित्त समिति, रक्षा समिति, ऊर्जा समिति, परिवहन तथा पर्यटन समिति, गृह कार्य समिति, रेल समिति, वाणिज्य समिति, श्रम तथा कल्याण समिति, खाद्य नागरिक आपूर्ति व सार्वजनिक वितरण समिति, विदेष कार्य समिति, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, पर्यावरण तथा वन समिति, पेट्रोलियम तथा रसायन समिति, शहरी तथा ग्रामीण विकास समिति। ये समितियां सम्बन्धित मंत्रालयों/विभागों की मांगो पर विचार करती है और मितव्ययिता, संगठनात्मक सुधार व प्रशासनिक कुशलता के साथ ही नीति सम्बन्धी सुझाव भी दे सकती है इन समितियों का कार्य बजट प्रस्तुत होने के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। इनमें से 11 लोक सभा तथा 6 राज्य सभा के अध्यक्ष/सभापति द्वारा अनुपातिक पद्धति से गठित की जाती हैं। यदि समिति में लोक सभा या राज्य सभा के उपाध्यक्ष/उप–सभापति सदस्य के रुप में है तो वही समिति की अध्यक्षता करता है, अन्यथा किस सदस्य को अध्यक्ष बनाया जा सकता है। मंत्री इन समितियों के सदस्य नहीं हो सकते। संसद की तीन वित्तीय समितियां भी है– 1) लोक लेखा समिति 2) लोक उपक्रम समिति, 3) प्राक्कल या अनुमान समिति। प्रथम दोनों का गठन लोक सभा एवं राज्य सभा के सदस्यों में से किया जाता है, किन्तु अनुमान समिति में केवल लोक सभा सदस्य ही होते हैं। ये समितियां वित्त प्रशासन पर नियंत्रण रखती है।

ये समितियां दलगत राजनीति से ऊपर उठ कर निष्पक्ष रुप से किसी मामले की विधिवत जाँच करती हैं। ये समिति संसद को अपने दायित्वों को पूरा करने में यथासम्भव सहयोग प्रादन करती है।

10.9 संसद के सत्र एवं संसद की भाषा

राष्ट्रपति को संसद के सत्र आहूत करने या अधिवेशन बुलाने का अधिकार है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के परामर्श से संसद का अधिवेशन बुलाता है। संविधान में कहा गया है कि दो सत्रों के बीच 6 माह से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिए। इस तरह एक वर्ष में कम से कम संसद के दो सत्र आवश्यक हो जाते हैं, किन्तु सामान्य तौर पर संसद के तीन सत्र होते हैं– 1) बजट सत्र 2) मानसून सत्र, 3) शीतकालीन सत्र। सदनों की बैठके शुरु होने के लिए एक निश्चित संख्या में सदस्य होने चाहिए, जिसे कोरम या गणपूर्ति कहते हैं। सदनों के लिए कोरम या गणपूर्ति उस सदन की कुल सदस्य संख्या का 1/10 भाग निश्चित किया गया है। संयुक्त बैठकों के मामले में दोनो सदनों की कुल सदस्य संख्या का 1/10 भाग कोरम होता है। कोरम के अभाव में बैठक शुरु नहीं की जा सकती। संसद अपने कार्यों का सम्पादन हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में करती है, किन्तु यदि

कोई सदस्य अपनी बात को इन भाषाओं में अभिव्यक्त नहीं कर सकता तो अध्यक्ष/सभापति उसे अपनी मातृ भाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है।

10.10 संसद और न्यायपालिका

भारत में एक स्वतंत्र न्यापालिका की व्यवस्था की गई है। उच्चतम् न्यायालय और उच्च न्यायालयों को संयुक्त रुप से न्यायपालिका कहा जाता है। उच्चतम् न्यायालय न्यायिक क्षेत्र की सर्वोच्च संस्था है।

संसद को न्यायपालिका की संगठनात्मक संरचना, अधिकार क्षेत्र एंव शक्तियों के सम्बन्ध में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संविधान में कहा गया है कि संसद विधि बनाकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकती है। संसद विधि बनाकर न्यायधीशों की सेवा–शर्ते, आयु का निर्धारण, वेतन–भत्ते निधारित कर सकती है अथवा इनमें संशोधन कर सकती है। संसद संविधान के अधीन विधि बनाकर दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक उच्च न्यालय की स्थापना कर सकती है, किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार कर सकती है अथवा किसी राज्य क्षेत्र पर अधिकारिकता रखने वाले उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से निकाल सकती है। संसद नए उच्च न्यायालयों की स्थापना भी कर सकती है। उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, किन्तु न्यायधीशों को पदच्युत करने का अधिकार संसद को है। राष्ट्रपति न्यायधीशों को तब तक नहीं हटा सकता जब तक संसद के दोनों सदन अलग–अलग अपने विशेष बहुमत से, इससे सम्बन्धित प्रस्ताव पास करके राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत न करें। संसद उस स्थिति में ही न्यायपालिका के निणर्यों व न्यायधीशों के आचरण के सम्बन्ध में चर्चा कर सकती है जब किसी न्यायाधीश को पद से हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव सदन में विचाराधीन हो अन्यथा नहीं।

भारतीय न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है। न्यायालय इस शक्ति का प्रयोग करके संसद द्वारा बनाये गये किसी कानून को या उसके भाग को असंवैधानिक घोषित कर सकती है जो संविधान के या संविधान के किसी धारा के विरुद्ध हो। न्यायपालिका व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का और सामान्य तौर पर संविधान का संरक्षक होती है। संसद संविधान में संशोधन कर सकती है, किन्तु मनमाने तरीके से नहीं। यदि ऐसा होता है तो न्यायपालिका इस संशोधन को भी असंवैधानिक या शून्य घोषित कर देती है। कार्यपालिका जब अपने दायित्वों का निर्वहन नहीं करती तो न्यायपालिका हस्तक्षेप कर उसे अपने दायित्वों को पूरा करने के सम्बन्धत में निर्देश जारी कर सकती है और इसी को न्यायिक सक्रियता कहते हैं। इस वजह से कभी–कभी ससंद और न्यायपालिका के बीच विवाद उत्पन्न हो जाता है। इस तरह न्यायपालिका संसद पर नियंत्रण रखती है। संविधान में अवरोध एवं संतुलन सिद्धान्त को अपनाया गया है। अतः संसद और न्यायपालिका अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रह कर समन्वय के साथ अपने दायित्वों का निर्वाहन करते हैं।

10.11 संसद और कार्यपालिका

जैसा की आप जानते हैं कि भारत में शासन की संसदीय प्रणाली लागू है। संसदीय प्रणाली में दो तरह की कार्यपाली देखने को मिलती है– एक नाम मात्र की तो दूसरी वास्तविक। हमारे यहां राष्ट्रपति नाम मात्र का कार्यपालक तथा प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालक होते हैं। वास्तविक कार्यपालिका

(मंत्रिपरिषद) और संसद अर्न्तसम्बन्धित होते हैं। इन्हें पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि कार्यपालिका का जन्म संसद से ही होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कार्यपालिका संसद का अभिन्न अंग होती है। कार्यपालिका सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। संसद का विश्वास प्राप्त रहने तक कार्यपालिका सत्ता में बनी रहती है। यदि कार्यपालिका, संसद का विश्वास खो देती है तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। कार्यपालिका का कार्य है शासन करना, विधायी एवं वित्तीय प्रस्तावों को तैयार करके संसद के समक्ष प्रस्तुत करना है। संसद का कार्य इन प्रस्तावों की जांच करना, चर्चा करना एवं प्रस्तावों को बहुमत से पास करना है। अतः हम कह सकते हैं कि संसद कार्यपालिका शासन, प्रशासन एवं वित्त पर निगरानी एवं नियंत्रण रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तरों के लिए दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर से मिलाइये।

1) किसी विधेयक पर दोनों सदनों के बीच उत्पन्न हुए गतिरोध को कैसे दूर किया जा सकता है?

———————————————————————————————
———————————————————————————————
———————————————————————————————

2) संसद के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

———————————————————————————————
———————————————————————————————
———————————————————————————————

3) संसद और न्यायपालिका के सम्बन्धों की चर्चा कीजिए।

———————————————————————————————
———————————————————————————————
———————————————————————————————

10.12 सारांश

भारतीय संसद एंव संसदीय प्रक्रियों का विकास भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से प्रारम्भ हुआ। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा धीर–धीरे किये गये संवैधानिक सुधारों एवं विधायिका के अधिकारों में वृद्धि के माध्यम से यह लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित हो सकी। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर होता है। राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होता है लेकिन वह न तो सदनों में बैठता है और न ही उसकी चर्चाओं में भाग लेता है। दोनों सदन अपने लिए एक–एक पीठासीन अधिकारी का चुनाव करते हैं। सदन की बैठकें सुचारु रुप से सम्पन्न करना, सदन की गरिमा बनाये रखना एवं सदन के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने का दायित्व पीठासीन अधिकारी पर होता

है। सांसदों एवं संसदीय समितियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, ताकि वे अपने कार्यो को सही ढ़ंग से एवं निर्भयता के साथ सम्पादित कर सकें।

संसद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कानून का निर्माण करना है। संसद इस कार्य के अलावा अन्य कार्य भी करती है, जैसे– कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना, वित्त प्रशासन पर नियंत्रण रखना, संविधान में संशोधन करना, बजट पारित करना आदि। संसद के कार्य के बोझ को कम करने एवं संसद के कार्यो को पूरा करने में सहायता प्रदान करने हेतु समितियों की व्यवस्था की गई है। ये समितियां सरकार की अनुदान मांगों पर गहराई से विचार करती है और उपयुक्त सुझाव देती हैं। संसद वित्तीय समितियों के माध्यम से वित्त पर अपना नियंत्रण रखती है। संसद प्रश्न पूछकर, स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव कटौती प्रस्ताव इत्यादि तरीकों के माध्यम से कार्यपालिका पर अपना नियंत्रण बनाये रखती है।

संसदीय प्रणाली के नियमानुसार, भारत में भी संसद और कार्यपालिका अर्न्तसम्बन्धित होते हैं। कार्यपालिका संसद के निम्न सदन के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है। भारत में संविधान द्वारा एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। संसद उच्चत्म न्यायालय के न्याधीशों की संख्या बढ़ाने, नये उच्च न्यायालयों की स्थापना करने एवं उनके क्षेत्राधिकार बढ़ाने आदि के सम्बन्ध में कानून बना सकती है। न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होती है। न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग करके संसद पर नियंत्रण रखती है। इस तरह संसद और न्यायपालिका समन्वय के साथ अपने–अपने कार्यो का निर्वहन करते हुए राष्ट्रीय विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

10.13 कुछ उपयोगी पुस्तके

कश्यप, सुभाष, ''हमारी संसद'', नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली, 2003

शर्मा, ब्रजकिशोर, ''भारत का संविधान एक परिचय'', पी0एच0आई0 लर्निंग प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011

पिल्लेई, एम0वी0, ''भारत में संवैधानिक सरकार'', एस0 चाँद एण्ड को0, नई दिल्ली, 2004

पिल्लेई, एम0वी0, ''एन इनट्रोडक्सन टू द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया'', विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007

मल्लया, एन0एन0, ''इंडियन पार्लियामेंट'', नेस्नल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1970

जोहरी, जे0सी0, '' इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स'', विशाल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1988

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्ययवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भारत शासन अधिनियम 1919

2) भारत शासन अधिनियम 1935

3) सन् 1952 में

बोध प्रश्न 2

1) 6 वर्ष

2) उपराष्ट्रपति

3) वह भारत का नागरिक हो, कम से कम 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, पागल व दिवालिया न हो, सरकार के किसी लाभ के पद पर न हो। और संसद द्वारा उसे निरर्हित (अयोग्य) न किया गया हो आदि।

4) लोक सभा अध्यक्ष सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है, सदन के कार्य संचालन हेतु नियम बना सकता है, सदन में अनुशासन बनाये रखता है। सदन के विशेषाधिकार को बनाये रखता है, सदस्यों को प्रश्न पूछने की अनुमति प्रदान करता है। कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इसका निर्धारण करता है। लोक सभा सदस्यों का इस्तीफा स्वीकार करता है। विधेयकों पर मतदान करवाता है, समान मत की स्थिति में अपना निर्णायक मत देता है यह लोक सभा सचिवालय पर नियंत्रण रखता है।

बोध प्रश्न 3

1) किसी विधेयक को लेकर संसद के दोनों सदनों के बीच गतिरोध या मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त अधिवेशन बुलाकर गतिरोध को दूर करता है।

2) संसद का सबसे प्रमुख कार्य कानून का निर्माण करना है। इसके अतिरिक्त संसद अन्य कार्य भी करती है जैसे– कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना, संविधान में आवश्यकता व समय के अनुसार संशोधन करना, प्रशासन व वित्त पर नियंत्रण रखना, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निवार्चक मण्डल के अंग के रुप में कार्य करना। संसद राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाकर पद्च्युत कर सकती है। संसद विधि बनाकर न्यायपालिका के संगठनात्मक संरचना एवं क्षेत्राधिकार में संशोधन कर सकती है।

3) संसद को कानून बनाने एवं संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। संसद को यह भी अधिकार है कि वह कानून बनाकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकती है, उनके वेतन–भत्ते का निर्धारण कर सकती है। नये उच्च न्यायालयों की स्थापना कर सकती है। उच्च न्यायालयों न्यायपालिका संविधान एवं नागरिकों के अधिकारों का संरक्षक होती है। न्यायपालिका को पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है जिसका प्रयोग करके संसद द्वारा बनाये गये संविधान विरुद्ध कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इस शक्ति के माध्यम से न्यायपालिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

इकाई 11

भारत के राष्ट्रपति : संस्था और गतिशीलता

इकाई की रुप रेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 राष्ट्रपति

11.2.1 योग्यताएं

11.2.2 निर्वाचन की पद्धति

11.2.3 कार्यकाल

11.2.4 महाभियोग की प्रक्रिया

11.2.5 परिलब्धियाँ

11.2.6 उन्मुक्तियाँ

11.3 राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

11.3.1 कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ

11.3.2 विधायी शक्तियाँ

11.3.3 वित्तीय शक्तियाँ

11.3.4 न्यायिक शक्तियाँ

11.3.5 संकटकालीन शक्तियाँ

11.4 राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् का सम्बन्ध

11.5 राष्ट्रपति की स्थिति

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत के राष्ट्रपति पद के निर्वाचन और उसके संवैधानिक एवं व्यवहारिक पहलुओं पर विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए आवश्यक योग्यता, निर्वाचन पद्धति, कार्यकाल एवं उसे प्राप्त उन्मुक्तियाँ आदि के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- भारत के राष्ट्रपति को पद से हटाने की प्रक्रिया के बारे में बता सकेंगे,
- भारत के राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्यों का वर्णन कर सकेंगे,
- भारत के राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के सम्बन्धों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, और
- भारत के राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

भारत में राष्ट्रपति का पद शासन सत्ता का सर्वोच्च एवं प्रतिष्ठा का पद है। जैसा कि हम सब जानते हैं कि संविधान निर्माताओं ने शासन के ब्रिटिश संसदीय मॉडल को अपनाया है। किन्तु वहाँ की राजतंत्रात्मक व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वहाँ शासनाध्यक्ष (राजा) वंशानुगत होता है जबकि हमारे यहाँ गणतंत्रात्मक व्यवस्था के अनुसार शासनाध्यक्ष (राष्ट्रपति) अप्रत्यक्ष रुप से निर्वाचित किया जाता है। इस तरह हम देखते है कि हमारी शासन व्यवस्था में ब्रिटिश संसदीय प्रणाली एवं अध्यक्षीय प्रणाली दोनों के लक्षण देखने को मिलते हैं। हमारे राष्ट्रपति को अध्यक्षीय शासन व्यवस्था के समान शक्तियां प्राप्त नहीं है। संसदीय प्रणाली के अनुसार हमारे यहाँ भी दोहरी कार्यपालिका देखने को मिलती है– पहला, राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका तथा दूसरा प्रधानमंत्री सहित मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका होती है। संविधान द्वारा सभी कार्यपालिका शक्तियों को राष्ट्रपति में निहित किया गया है जिसका प्रयोग मंत्रिपरिषद् करती हैं। हमारे यहाँ एक उपराष्ट्रपति की भी व्यवस्था जो राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उसकी शाक्तियों का प्रयोग एवं दायित्वों का निर्वहन करता है। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के सम्बन्ध में कई प्रावधान किए गए हैं, जिसमें उसके निर्वाचन योग्यता से लेकर पद से हटाने एवं शक्तियों का स्पष्ट रुप से उल्लेख किया गया है।

11.2 राष्ट्रपति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 52 में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। हमारे संविधान में दी गयी व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति शासन का संवैधानिक प्रधान और नाम मात्र की कार्यपालिका है। वास्तविक कार्यपलिका मंत्रिपरिषद् होती है। संविधान के अनुच्छेद 53 में उपबन्ध है कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी जिसका प्रयोग वह स्वंय या अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा।

11.2.1 योग्यताएं

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 58 तथा 59 में राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए आवश्यक योग्यताएं बताई गई हैं। किसी भी व्यक्ति को राष्ट्रपति पद के चुनाव लड़ने के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं होनी चाहिए। वह भारत का नागरिक

हो, कम से कम 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर कार्यरत न हो, वह न्यायालय द्वारा पागल या दिवालिया घोषित न किया गया हो और वह संसद के किसी सदन का या किसी राज्य विधान मण्डल का सदस्य न हो। यदि वह संसद या किसी राज्य विधान मण्डल का सदस्य है तो राष्ट्रपति निर्वाचित होने एवं शपथ लेने की तारीख से उस सदन में उसका स्थान रिक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के नामांकन पत्र पर संसद या राज्य विधान मण्डल के निर्वाचित सदस्यों में से 50 प्रस्तावकों एवं इतनी ही संख्या में अनुमोदक भी होने चाहिए। प्रत्याशी को 15000 रुपये प्रतिभूति या जमानतराशि जमा करनी होती है, यदि प्रत्याशी को निर्धारित कोटे के $1/6$ भाग से कम मत प्राप्त होते हैं तो उक्त धनराशि जब्त कर ली जाती है।

11.2.2 निर्वाचन की पद्धति

राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा सीधे न होकर उसके प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है, अर्थात् उसे अप्रत्यक्ष रुप से निर्वाचित किया जाता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति के बारे में संविधान के अनुच्छेद 54 और 55 में स्पष्ट रुप से बताया गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। निर्वाचक मण्डल में संसद के दानों सदनों, राज्य विधान सभाओं एवं केन्द्र शासित प्रदेश दिल्ली व पांडेचेरी की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं। सभी राज्यों के बीच तथा राज्यों और संघों में समतुल्यता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मतदाता के मत का मूल्य निर्धारित करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 55 (2) में एक फार्मूला बताया गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एकल संक्रमणीय अनुपातिक मत प्रणाली द्वारा किया जाता है। प्रत्याशी को राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए निर्धारित न्यूनतम कोटा के बराबर मत प्राप्त करना आवश्यक है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में कुल पड़े मतों की संख्या को दो से विभाजित करके प्राप्त भागफल में एक जोड़कर कोटा निर्धारित किया जाता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन मतपत्र पर वरीयता क्रम दिया जाता है। यदि प्रथम वरीयता के मतों की गिनती में किसी प्रत्याशी को निर्धारित कोटे के बराबर मत प्राप्त हो जाता है, तो वह जीत जाता है। यदि किसी प्रत्याशी को न्यूनतम निर्धारित कोटा प्राप्त नहीं होता है, तो सबसे कम मत पाने वाले प्रत्याशी को मतगणना से अलग कर दिया जाता है और उसको प्राप्त मतों को सभी में बांटकर द्वितीय वरीयता के मतों की गिनती की जाती है। यही क्रम तब तक चलता रहता है जब तक किसी प्रत्याशी को 50 प्रतिशत से अधिक या निर्धारित कोटा के बराबर मत प्राप्त न हो जायें। भारत के चौदहवें राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी हैं। भारत के इतिहास में अब तक एक राष्ट्रपति श्री वी0वी0 गिरी को द्वितीय वरीयता के मतों की गणना में विजयी घोषित किया गया, शेष सभी राष्ट्रपतियों ने प्रथम वरीयता में ही जीत प्राप्त कर ली। राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी को निर्विरोध राष्ट्रपति चुना गया था। भारत में अब तक एक मात्र महिला श्रीमती प्रतिभा पाटिल, राष्ट्रपति के रुप में निर्वाचित हुई हैं। अनुच्छेद 71 के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित सभी विवादों की सुनवाई उच्चतम् न्यायालय द्वारा की जायेगी और उसका निर्णय अंतिम होगा।

11.2.3 कार्यकाल

संविधान के अनुच्छेद 56 के अनुसार राष्ट्रपति, पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष तक पद पर बना रहेगा। राष्ट्रपति इस अवधि के दौरान स्वेच्छा से उपराष्ट्रपति को सम्बोधित करके अपने पद से त्याग–पत्र दे सकता है या महाभियोग लगा कर पद से हटाया जा सकता है। अनुच्छेद 57 के अनुसार

राष्ट्रपति पुनः निर्वाचित हो सकता है, संविधान इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता, किन्तु ऐसी परम्परा विकसित की गई है कि कोई दो बार से ज्यादा राष्ट्रपति नहीं रह सकता। इस परम्परा की शुरुआत दो बार राष्ट्रपति रह चुके डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने तीसरी बार राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ने से इन्कार करके किया। राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित व्यक्ति को भारत का मुख्य न्यायधीा उस व्यक्ति को राष्ट्रपति पद की शपथ दिलाता है। यदि भारत का मुख्य न्यायधीश अनुपस्थित हो तो ऐसी स्थिति में उच्चतम् न्यायालय का वरिष्ठतम न्यायाधीश शपथ दिलायेगा।

यदि राष्ट्रपति का पद उसकी मृत्यु हो जाने, स्वेच्छा से त्याग पत्र देने अथवा महाभियोग द्वारा हटाने के कारण रिक्त हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति उसके स्थान पर कार्य करेगा। यदि राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति दोनों अनुपस्थित हों तो भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति के रुप में कार्य करेगा। यदि वह भी अनुपस्थिति हो तो उच्चतम न्यायालय का वरिष्ठतम् न्यायाधीश राष्ट्रपति के रुप में कार्य करेगा। ऐसा मौका भारत में अब तक एक बार आया है जब राष्ट्रपति डॉ0 जाकिर हुसैन की मृत्यु के कारण उपराष्ट्रपति वी0वी0 गिरी राष्ट्रपति के रुप में कार्य कर रहे थे किन्तु राष्ट्रपति का चुनाव लडने के लिए उन्होंने अपने पद से त्याग–पत्र दे दिया था, तब भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश एम0 हिदायत्तुल्लाह ने राष्ट्रपति के रुप में कार्य किया था। राष्ट्रपति पद रिक्त होने के अधिक से अधिक 6 माह के अन्दर राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिए। नव–निर्वाचित राष्ट्रपति का कार्य काल 5 वर्ष का होगा न कि शेष अवधि के लिए।

11.2.4 महाभियोग की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 में राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की प्रक्रिया के बारे में बताया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'संविधान के उल्लंघन' के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा कर पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग का प्रस्ताव लोक सभा या राज्य सभा दोनों में से किसी भी सदन में लाया जा सकता है। किसी सदन में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव लाने से चौदह दिन पूर्व उसे लिखित सूचना दिया जाना आवश्यक है और प्रस्ताव पर प्रस्तावित करने वाले सदन की कुल सदस्य संख्या का कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होना चाहिए। यदि महाभियोग का प्रस्ताव लाने वाला सदन अपने कुल सदस्य संख्या के कम से कम दो–तिहाई बहुमत से पारित कर देता है तो यह प्रस्ताव दूसरे सदन में भेजा जाता है जो लगाये गये आरोपों की स्वयं जांच करता है या अपनी समिति द्वारा जांच करवाता है। जांच के समय राष्ट्रपति स्वयं उपस्थित हो कर या किसी प्रतिनिधि के माध्यम से अपना स्पष्टीकरण दे सकता है। यदि जांच में राष्ट्रपति पर लगाया गया आरोप सिद्ध हो जाता है और दूसरा सदन भी महाभियोग के प्रस्ताव को अपनी कुल सदस्य संख्या के दो–तिहाई बहुमत से पारित कर देता है, तो राष्ट्रपति को तत्काल अपना पद छोड़ना पड़ता है।

11.2.5 परिलब्धियाँ

अनुच्छेद 56 के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रपति के वेतन–भत्ते एवं अन्य सुविधाओं के सम्बन्ध में विधि बना निर्धारित कर सकती है। इस अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि राष्ट्रपति के वेतन–भत्ते आदि में उसके सेवा काल में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति का वेतन 1.50 लाख रुपये प्रतिमाह दिया जाता है। राष्ट्रपति को पद छोड़ने के पश्चात्

पेंशन दी जाती है। राष्ट्रपति को बिना किराया दिये आवास तथा चिकित्सकीय सुविधा प्राप्त होती हैं।

11.2.6 उन्मुक्तियाँ

हमारे राष्ट्रपति को संविधान द्वारा कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिसकी चर्चा अनुच्छेद 361 में की गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान से मिली शक्तियों का प्रयोग करने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकाता और न ही उसे शक्तियों के प्रयोग करने से रोका जा सकता है। राष्ट्रपति पद पर रहते हुए उसके द्वारा किये गये किसी शासकीय कार्य के लिए न्यायालय में उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। राष्ट्रपति के कार्यकाल के दौरान उसके विरुद्ध किसी न्यायालय द्वारा कोई भी मुकदमा (दिवानी या फौजदारी) चालू नहीं रखा जायेगा और न ही उसकी गिरफ्तारी या कारावास की आदेशिका निकाली जायेगी।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी :– 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

1) भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए आव"यक योग्यताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

2) राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के अनुपस्थित होने की स्थिति में भारत के राष्ट्रपति के रुप में कौन कार्य करता है?

.....

.....

3) भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार होता है?

.....

.....

4) राष्ट्रपति को पद से हटाने की प्रक्रिया को बताइये।

.....

.....

11.3 राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को अत्यधिक विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इस भाग में हम राष्ट्रपति को प्राप्त विभिन्न प्रकार की शक्तियों पर विचार करेंगे।

11.3.1 कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद 53 में कहा गया है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा। अनुच्छेद 74 में उपबंध है कि राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा। इस तरह हम देखते हैं कि व्यवहार में राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् करती है। सरकार के सभी निर्णय राष्ट्रपति के निर्णय माने जाते हैं तथा सरकार समस्त कार्यों को राष्ट्रपति के नाम से करती है। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है और प्रधानमंत्री के परामर्श पर वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। वह संघ के उच्च पदाधिकारियों जैसे भारत का महान्यायवादी, नियंत्रक–महालेखा परीक्षक, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, राज्यों के राज्यपालों, विदेशों में भारत के राजदूतों आदि के साथ कुछ आयोगों जैसे वित्त आयोग, निर्वाचन आयोग, राजभाषा आयोग, अन्य पिछड़ा आयोग तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग आदि के अध्यक्षों एवं सदस्यों की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह समय–समय पर शासन सम्बन्धी सूचना सरकार से मांग सकता है। सरकार द्वारा किये गये सभी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा संन्धियाँ आदि राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं। राष्ट्रपति भारत की तीनों सेनाओं का सर्वोच्च कमांडर होता है और तीनों सेनाओं के अध्यक्ष की नियुक्ति करता है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि संविधान द्वारा प्रदान की गई कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ एवं दायित्वों का निर्वहन वह मंत्रिपरिषद् की सहायता एवं सलाह से ही करता है। वह मंत्रिपरिषद द्वारा दिये गये परामर्श को मानने के लिए बाध्य है।

11.3.2 विधायी शक्तियाँ

भारत का राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होता है। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिल कर होता है। राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होते हुए भी न तो वह संसद के किसी सदन का सदस्य होता है और न ही वह किसी सदन की बैठकों में भाग लेता है। राष्ट्रपति को संसद का सत्र आहूत करने या अधिवे"ान बुलाने एवं स्थगित करने की शक्ति प्राप्त है। वह विशेष बैठक बुला सकता है तथा वह लोक सभा को भंग भी कर सकता है। नव–गठित संसद के प्रथम सत्र एवं प्रत्येक वर्ष के सत्र का आरम्भ राष्ट्रपति के अभिभाषण से होता है। राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों को अलग–अलग या संयुक्त रुप से भी संबोधित कर सकता है। राष्ट्रपति लोक सभा में आंग्ल–भारतीय समुदाय के लोगों का उचित प्रतिनिधित्व न होने की स्थिति में इस समुदाय के दो सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। वह राज्य सभा में ऐसे 12 सदस्यों को नामित कर सकता है जिसे कला, साहित्य, विज्ञान एवं समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त हो। संसद को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति पा कर कानून का रुप लेता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि संसद द्वारा पारित विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे सकता है या उसे पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है या रोके रख सकता है। राष्ट्रपति किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति कितने दिन में देगा इसकी संविधान में कोई निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की गई है। इस प्रकार राष्ट्रपति उस विधेयक को अपने पास रोके रख सकता है, इसे **पॉकेट वीटो** कहा जाता है। कुछ ऐसे विधेयक होते हैं जिन्हें राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना संसद में नहीं प्रस्तुत किया

जा सकता जैसे नए राज्यों का गठन, राज्यों के नामों में परिवर्तन, राज्यों की सीमा में परिवर्तन तथा धन विधेयक आदि राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद ही सदन में प्रस्तुत किया जाता है। यदि राज्यपाल राज्य के विधान मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति को अनुमोदन हेतु भेजता है, तो राष्ट्रपति ऐसे विधेयकों पर विचार करने के पश्चात् उस पर अपनी स्वीकृति दे सकता है या रोके रख सकता है या पुर्नविचार के लिए वापस कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। जब संसद का सत्र नहीं चल रहा हो अर्थात् संसद सत्र में न हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये जिसके समाधान हेतु तुरन्त कानून बनाने की आवश्यकता हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा बनाये गये कानून के समान होता है। संसद के सत्र में आने के छः सप्ताह के अन्दर अध्यादेश को संसद का अनुमोदन प्राप्त करना होता है। यदि संसद अध्यादेश को स्वीकृति प्रदान कर देती है तो वह अध्यादेश कानून बन जाता है, अन्यथा उक्त तिथि की समाप्ति पर अध्यादेश स्वतः समाप्त हो जाता है। राष्ट्रपति इस अवधि से पहले स्वयं अध्यादेश को वापस ले सकता है।

11.3.3 वित्तीय शक्तियाँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112(1) में कहा गया है कि राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिए अनुमानित आय–व्यय का विवरण (बजट) संसद में रखवायेगा। बजट को संविधान में 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहा गया है। संविधान में कहा गया है कि कोई धन विधेयक राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा पारित धन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति प्रादन कर देता है क्योंकि यह विधेयक उसकी पूर्व स्वीकृति से ही सदन में लाया जाता है। भारत की आकास्मिक निधि राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र में होती है अर्थात् राष्ट्रपति की अनुमति से आकास्मिक निधि से व्यय किया जा सकता है, जिस पर बाद में संसद की स्वीकृति ले ली जाती है। राष्ट्रपति प्रत्येक पाँच वर्ष पर केन्द्रीय वित्त आयोग का गठन करता है। केन्द्रीय वित्त आयोग वित्तीय मामलों पर अपनी रिर्पोट या सिफारिशें राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है और राष्ट्रपति इसे संसद के समक्ष प्रस्तुत करता है। वित्त आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के द्वारा ही की जाती है।

11.3.4 न्यायिक शक्तियाँ

राष्ट्रपति को संविधान द्वारा कुछ न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वह उच्चतम् न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 72 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को क्षमादान, प्रतिलंबन, विराम या परिहार या लघुकरण या दण्डादेश के निलंबन की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति को प्राप्त क्षमादान की शक्ति केवल उन विषयों तक सीमित है जो संघ के क्षेत्राधिकार में आते हैं या जिस पर संघ सरकार कानून बना सकती है। ऐसे कानून का उल्लंघन करने के दोष में मिले दण्ड को एवं सैन्य न्यायालयों द्वारा दिये गये दण्ड को राष्ट्रपति माफ कर सकता है या उस पर रोक लगा सकता है या कम कर सकता है। किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए मिले मृत्यु दण्ड को माफ करने की शक्ति राष्ट्रपति को ही प्राप्त है। वह मृत्यु दण्ड को आजीवन कारावास में बदल सकता है। अनुच्छेद 143 के अनुसार राष्ट्रपति को सार्वजनिक महत्व के

कानून या सांविधिक विषयों पर उच्चतम् न्यायालय से परामर्श या राय माँगने की शक्ति प्राप्त है। सम्बन्धित मामले में उच्चतम् न्यायालय द्वारा दिये परामर्श को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं है।

11.3.5 संकटकालीन शक्तियाँ

भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को कुछ संकटकालीन शक्तियाँ भी प्रदान की गई है। संविधान में अनुच्छेद 352 से अनुच्छेद 360 तक राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की चर्चा की गई है। संविधान में तीन प्रकार के संकटकाल का उल्लेख किया गया है जो निम्नलिखित है–

1) युद्ध, वाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 352)

2) राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 356)

3) वित्तीय संकट या वित्तीय आपात (अनुच्छेद 360)

1) अनुच्छेद 352

इस अनुच्छेद के तहत घोषित संकटकाल को राष्ट्रीय आपात कहते हैं। संविधान के अनुच्छेद 352 में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह समाधान या वि"वास हो जाता है कि देश में युद्ध, वाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की वजह से भारत में या भारत के किसी राज्य क्षेत्र की सुरक्षा संकट में है तो ऐसी स्थिति में वह आपातकाल की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार के आपातकाल को राष्ट्रपति सम्पूर्ण भारत या किसी राज्य क्षेत्र में उद्घोषण कर सकता है। इस प्रकार के आपात की घोषणा उक्त स्थिति के उत्पन्न हो जाने से पहले या होने की स्थिति में कर सकता है। 44वाँ संविधान संशोधन द्वारा इस अनुच्छेद में 'आन्तरिक अशान्ति' के स्थान पर 'सशत्र विद्रोह' शब्द जोड़ा गया और इस संशोधन में यह भी व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति इस अनुच्छेद के अधीन आपातकाल की घोषणा तभी कर सकता है जब मंत्रिमण्डल लिखित रुप से ऐसा करने का अनुरोध करे। इस प्रकार की आपातकाल की घोषणा को एक माह के अन्दर संसद के दोनों सदनों के द्वारा बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से स्वीकृत होना चाहिए। यदि संसद इसे स्वीकार कर लेती है तो यह घोषण छः माह तक लागू रहेगी, इस अवधि की समाप्ति से पूर्व संसद इसे दोबारा स्वीकृत कर लेती है तो फिर छः माह तक लागू रहेगी। यदि इसे इसी तरह और अधिक अवधि तक बढ़ाया जा सकता है। राष्ट्रपति आपातकाल की उद्घोषणा को एक माह के अन्दर स्वयं वापस ले सकता है या संसद साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा को समाप्त कर सकती है। यदि आपातकाल की उद्घोषणा को संसद का एक सदन स्वीकृति प्रदान कर देता है तथा दूसरा सदन अस्वीकार कर देता है तो आपातकाल की उद्घोषणा एक माह की समाप्ति पर समाप्त हो जायेगी।

इस प्रकार के आपातकाल की घोषणा का प्रभाव यह होता है कि राष्ट्रपति संविधान के भाग 3 में दिए गए मौलिक अधिकारों, अनुच्छेद 20 और 21 को छोड़कर, शेष को निलंबित कर सकता है। आपातकाल की उद्घोषणा के दौरान लोक सभा प्रस्ताव पास करके अपना कार्यकाल छः–छः माह करके एक वर्ष तक

बढ़ा सकती है। राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने की शक्ति संसद को प्राप्त हो जाती है और उद्घोषणा की समाप्ति के बाद भी संसद द्वारा बनाया गया कानून लागू रहता है। संसद के सत्र में न होने पर राष्ट्रपति राज्य सूची के विषयों पर अध्यादेश जारी कर सकता है तथा केन्द्र–राज्यों के बीच किया गया वित्तीय विभाजन राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार संशोधित किया जा सकता है किन्तु यह आवश्यक है कि ऐसा आदेश यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाना चाहिए। भारत में अब तक अनुच्छेद 352 का तीन बार प्रयोग किया गया है– 1962 में चीन के आक्रमण के समय, दूसरी बार 1971 में बांग्लादेश युद्ध के समय तथा तीसरी बार 1975 में आन्तरिक अशांति के कारण राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की गई थी।

2) अनुच्छेद 356

संविधान के अनुच्छेद 355 के अनुसार संघ का यह कर्त्तव्य है कि वह वाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य की सुरक्षा करे और प्रत्येक राज्य की सरकार का संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे। अनुच्छेद 356 में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा कर सकता है। राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने की स्थिति में राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाया जा सकता है। यदि संघ सरकार द्वारा दिये गये निर्देशों को राज्य सरकार अस्वीकार कर देती है या उनका पालन करने में विफल रहती है, तो यह राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाने का आधार बन सकता है। यदि संसद इस अवधि की समाप्ति से पूर्व अनुमोदन नहीं करती तो राज्य में घोषित राष्ट्रपति शासन दो माह की समाप्ति पर खत्म हो जाता है। इस प्रकार की उद्घोषणा को संसद प्रस्ताव पारित करके एक बार में छः माह के लिए लागू कर सकती है। 44वें संविधान सं"ाोधन के अनुसार राज्य में राष्ट्रपति शासन साधारणतया एक वर्ष तक लागू रह सकता है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में इसे छः–छः माह करके अधिकतम तीन वर्ष तक लागू रह सकता है, किन्तु इसके लिए शर्त यह है कि देश में या उस राज्य में अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रीय आपात घोषित हो और निर्वाचन आयोग यह कह दे कि राज्य में ऐसी परिस्थिति नहीं है जिसमें चुनाव कराया जा सके। भारत में इस अनुच्छेद का राजनीतिक कारणों से अत्यधिक दुरुपयोग किया गया है। अब तक इस अनुच्छेद के तहत विभिन्न राज्यों में 100 से अधिक बार राष्ट्रपति शासन लगाया जा चुका है।

राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा का प्रभाव यह होता है कि केवल उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति अपने हाथ में ले सकता है। सामान्यतः विधान मण्डल को स्थगित या भंग कर दिया जाता है। राष्ट्रपति राज्य विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद को दे सकता है और संसद उसे यह अधिकार दे सकती है कि यदि वह उचित समझता है तो किसी अन्य प्राधिकारी को शक्तियाँ हस्तान्तरित कर सकता है। यदि लोक सभा सत्र में न हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि से आवश्यक खर्च करने की

अनुमति दे सकता है, किन्तु बाद में उस पर संसद की स्वीकृति अनिवार्य रुप से लेनी पड़ती है। राज्य में राष्ट्रपति शासन के दौरान बनाया गया कोई कानून राष्ट्रपति शासन की समाप्ति के पश्चात् भी लागू रहता है जब तक विधान मण्डल उसे रद्द न कर दे।

3) अनुच्छेद 360

संविधान के अनुच्छेद 360 में वित्तीय आपात की चर्चा की गई है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति का यह समाधान या विश्वास हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग में वित्तीय स्थायित्व या भारत की आर्थिक साख खतरे में है, तो राष्ट्रपति वित्तीय संकट या वित्तीय आपात की उद्घोषणा कर सकता है। इस घोषणा को दो मास के अंदर संसद का अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए। वित्तीय आपात की अधिकतम् अवधि निश्चित नहीं की गई है। भारत में अब तक इस अनुच्छेद का एक बार भी प्रयोग नहीं किया गया है।

वित्तीय आपातकाल की उद्घोषणा का प्रभाव यह होता है कि राष्ट्रपति राज्य सरकारों को निर्देश दे सकता है कि वह वित्तीय औचित्य के सिद्धान्त का पालन करे। संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के समस्त पदाधिकारियों के (उच्चतम् तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों सहित) वेतन–भत्ते घटाए जा सकते हैं। राष्ट्रपति यह निर्देश जारी कर सकता है कि राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित धन विधेयक उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये जाएं।

संकटकालीन शक्तियों का मूल्यांकन

संविधान सभा में राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों के सम्बन्ध में अत्यधिक विवाद रहा और इन शक्तियों को लेकर तरह–तरह की आशंकाओं के कारण सदस्यों द्वारा इस आलोचना की गई थी। संविधान ने संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की है और वही तीनों सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी होता है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों का मानना था कि राष्ट्रपति को इतनी शक्तियाँ प्रदान करना उचित नहीं है क्योंकि वह इन शक्तियों का दुरुपयोग करके तानाशाह बन सकता है तथा अपने विरोधियों का दमन कर सकता है। कुछ सदस्यों का यह भी मानना था कि संविधान में इस प्रकार के उपबन्ध रखकर हम निरंकुश एवं पुलिस राज्य की आधारशीला रख रहे हैं, तो कुछ ने कहा कि इन उपबन्धों से लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं स्वतंत्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है और ऐसा न हो कि संविधान में लोकतंत्र और स्वतंत्रता का केवल नाम ही बचा रहे। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि राष्ट्रपति को इतनी शक्तियाँ प्रदान करना संसदीय शाासन व्यवस्था के विपरीत है।

इन तमाम आरोपों के बावजूद यदि हम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उत्पन्न परिस्थितियों पर ग़ौर करें तो ऐसा किया जाना उचित प्रतीत होता है क्योंकि उस वक्त साम्प्रदायिक हिंसा, रजवाड़ों की समस्या, कश्मीर को लेकर विवाद एवं पाकिस्तान की गिद्ध–दृष्टि आदि के कारण राष्ट्र की संप्रभुता, एकता एवं अखण्डता के लिए खतरा था। संविधान सभा ने उस समय की परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भविष्य में उत्पन्न होने वाली ऐसी परिस्थितियों का उचित सामना करने के लिए इन उपबन्धों को संविधान में रखा था। यह ठीक है कि इन शक्तियों का कुछ दुरुपयोग किया गया है किन्तु 42वां एवं 44वां संविधान संशोधन करके इसके

दुरुपयोग पर विराम लगाया गया है। इसमें व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा मंत्रिमण्डल के लिखित परामर्श पर कर सकता है अन्यथा नहीं। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के सलाह पर ही कार्य करेगा। अतः हम कह सकते हैं कि संविधान में इस प्रकार के उपबन्धों को रखना राष्ट्र की सुरक्षा, सम्प्रभुता, एकता व अखण्डता के लिए आवश्यक भी था।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणी– 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इकाई के अंत में दिये गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

1) राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....

2) राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियों की चर्चा कीजिए।

.....
.....
.....

3) राष्ट्रपति की न्यायिक शक्तियों का वर्णन कीजिए।

.....
.....
.....
.....

4) संकटकाल के विभिन्न प्रकारों को बताइये।

.....
.....
.....

11.4 राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् का सम्बन्ध

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, संविधान के अनुच्छेद 74 में कहा गया है कि राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा। प्रधनमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और राष्ट्रपति ही प्रधानमंत्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग तथा दायित्वों का निवर्हन मंत्रिपरिषद् की सलाह से करता है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह को पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। लेकिन पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह को मानना अनिवार्य होगा । प्रधानमंत्री का यह कर्त्तव्य है कि समय–समय पर संघ की शासन एवं प्रशासन सम्बन्धी सूचना राष्ट्रपति को दे, और मंत्रिपरिषद् द्वारा लिए गए निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराये। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि सरकार से कोई भी

सूचना मांग सकता है। राष्ट्रपति किसी विभाग के एक मंत्री द्वारा लिए गये निर्यण को मंत्रिपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए कह सकता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सिफारिश पर किसी मंत्री को वर्खास्त कर सकता है। मंत्रिपरिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है और वह संसद में विश्वास प्राप्त रहने तक सत्ता में बनी रहती है। यदि मंत्रिपरिषद् संसद का विश्वास खो देने के बाद भी सत्ता नहीं छोड़ती तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति लोक सभा को भंग कर सकता है या मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है। राष्ट्रपति उस स्थिति में स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है जब संसद में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है। राष्ट्रपति अपने विवेक से उस दल को सरकार बनाने को कह सकता है जो उसकी दृष्टि में स्थाई सरकार का गठन कर सकता हो।

11.5 राष्ट्रपति की स्थिति

भारतीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति की स्थिति प्रारम्भ से ही एक विवादस्पद विषय रहा है। भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार राष्ट्रपति की स्थिति इंग्लैण्ड के सम्राट के समान अर्थात नाम–मात्र की कार्यपालिका है। किन्तु भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दी गई व्यापक शक्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति नाम–मात्र की कार्यपालिका से कहीं अधिक है। राष्ट्रपति की स्थिति को लेकर संविधान विशेषज्ञों में मतभेद है जिसके सम्बन्ध में मोटे रुप से दो दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं– प्रथम दृष्टिकोण यह है कि संविधान द्वारा प्रदान की गई शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति स्वतंत्र रुप से कर सकता है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग हेतु सदैव मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है क्योंकि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की कठपुतली नहीं है। इस दृष्टिकोण के समर्थक अपने तक्र का आधार अनुच्छेद 53 (1) को बनाते हैं, जिसमें कहा गया है कि "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।'' भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने 28 नवम्बर 1960 में भारतीय विधि संस्थान में दिये गये अपने भाषण में कहा था कि "संविधान में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है, जिससे यह पता चलता हो कि राष्ट्रपति अपने मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है।" 44वें संशोधन के बाद यह स्थिति बदल गई है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि, भारतीय संविधान में शासन की संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार राष्ट्रपति को नाम–मात्र के कार्यपालिका प्रधान के रुप में कार्य करना चाहिए। इस दृष्टिकोण के समर्थक अपने तक्र का आधार अनुच्छेद 74(1) को बनाते हैं, जिसमें कहा गया है कि राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कार्यों को मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार करेगा। हालांकि राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद् द्वारा दिये गये परामर्श पर पुनः विचार करने की अपेक्षा कर सकता है और पुनर्विचार के पश्चात् दिये गये परामर्श के अनुसार कार्य करेगा। संविधान निर्मात्री सभा का भी यही विचार था कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करे। यहाँ पर भारतीय संविधान के प्रारुप समिति के अध्यक्ष डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के वक्तव्यों को उद्धृत करना उचित होगा। डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि "राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान में सम्राट की। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं, वह राष्ट्र का

प्रतिनिधित्व करता, उसका निर्माण नहीं। वह साधारणतया मंत्रियों के परामर्श को मानने के लिए विवश रहेगा। वह न तो उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनके परामर्श के बिना ही।" संविधान सभा के अन्य सदस्य भी कुछ ऐसा ही विचार रखते थे और न्यायपालिका का भी यही दृष्टिकोण था। उच्चतम् न्यायालय ने एक मुकद्दमें में निर्णय देते हुए कहा कि ' राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की सहायता तथा परामर्श के बिना अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता। यह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है और वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिमंडल में निहित हैं।' संविधान निर्माताओं के मन्तव्यों, अनुच्छेद 74 (1) तथा न्यायापालिका के दृष्टिकोण को देखकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करते हुए संसदीय परम्पराओं का निर्वहन करना चाहिए और संवैधानिक प्रधान या नाम–मात्र की कार्यपालिका के रुप में कार्य करना होगा। यह हो सकता है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के विचारों से सहमत न हो, फिर भी उसे मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर कार्य करना चाहिए। 42वें संविधान–संशोधन ने राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट कर ही दिया है और यह प्रावधान कर दिया है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगा। 44वें संविधान संशोधन में यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के परामर्श को पुनर्विचार हेतु वापस कर सकता है किन्तु पुनर्विचार के बाद दिए गए परामर्श को मानना उसके लिए बाध्यकारी होगा। इन संशोधनों ने सभी विवादों पर विराम लगा कर राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया।

कुछ परिस्थितियों जैसे संसद में किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं होने की स्थिति में राष्ट्रपति स्वविवेक से यह निर्णय ले सकता है कि वह किसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करेगा। जब मंत्रिपरिषद् संसद में अपना बहुमत खो दे और लोक सभा को भंग करने का परामर्श दे तो ऐसी मंत्रिपरिषद् के परामर्श को मानना राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति स्वविवेक से निर्णय लेगा कि वह लोक सभा भंग करके दोबारा निर्वाचन कराये या इसके विकल्प के रुप में किसी दूसरे दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है।

उपरोक्त तथ्यों तथा अब तक राष्ट्रपति पद को सुशोभित करने वाले व्यक्तियों की कार्य प्रणालियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति की स्थिति उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। सामान्य परिस्थितियों में भारत के राष्ट्रपति की स्थिति नाम–मात्र की कार्यपालिका या संवैधानिक प्रधान की ही है।

बोध प्रश्न–3

टिप्पणी 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

1) प्रधानमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?

.....

.....

.....

2) राष्ट्रपति अपने विवेक का प्रयोग किन परिस्थितियों में कर सकता है?

.....

.....

.....

3) राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के संबन्धों की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

4) भारतीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।

.....

.....

.....

11.6 सारांश

राष्ट्रपति भारतीय शासन व्यवस्था में सर्वोच्च संवैधानिक पद है। इस इकाई के अन्तर्गत हमने भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन, उसे हटाने की प्रक्रिया तथा उसको प्राप्त उन्मुक्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त की। संविधान के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। वास्तव में मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोग करके शासन व्यवस्था का संचालन करती है। संघ के समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से किया हैं अर्थात मंत्रिपरिषद् द्वारा किया गया कार्य राष्ट्रपति द्वारा किया गया समझा जाता है। संविधान में राष्ट्रपति को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिनका प्रयोग वह मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर करता है। राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होता है। उसे क्षमादान की शक्ति प्राप्त है। वह भारत की तीनों सेनाओं (जल, थल एवं वायु) का मुख्य सेनापति होता है। वह संघ के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। वह केन्द्र शासित प्रदेशों के शासन संचालन के दायित्वों का निर्वहन करता है। भारत के राष्ट्रपति को संकटकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग वह मंत्रिपरिषद् के लिखित परामर्श पर करता है। भारत में राष्ट्रपति की स्थिति सामान्य परिस्थितियों में इंग्लैण्ड के सम्राट के समतुल्य है। राष्ट्रपति की स्थिति बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है।

11.7 शब्दावली

अध्यादेश – संसद के सत्र में न होने पर राष्ट्रपति द्वारा दिया गया आदेश

सत्रावसान – सत्र का अंत

विघटन – भंग करना,

वीटो – निषेध करना या अस्वीकार करना,

क्षमादान – माफ कर देना,

लघुकरण – सजा कम करना या एक प्रकार के स्थान पर दूसरे प्रकार का हल्का दण्ड दिया जाना जैसे मृत्यु दण्ड का लघुकरण करके आजीवन करावास, कठोर कारावास का लघुकरण करके केवल कारावास, कारावास का लघुकरण करके केवल जुर्माना किया जा सकता है।

परिहार – दण्ड की प्रकृति बदले बिना दण्ड की अवधि घटाना।

प्रविलंबन – मृत्युदण्ड का अस्थाई निलंबन, (प्रायः मृत्यु दण्ड को क्षमा करने या लघुकरण की कार्यवाही लंबित होने पर किया जाता है।

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बक्सी, पी0एम0, ''द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया'', यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग को0, नई दिल्ली, 2011

पिल्लेई, एम0वी0, ''भारत में संवैधानिक सरकार'', एस0 चाँद एण्ड को0, नई दिल्ली, 2004

पिल्लेई, एम0वी0, ''एन इनट्रोडक्सन टू द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया'', विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007

सईद, एस0एम0, ''भारतीय राजनीतिक व्ययवस्था'', भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011

मुनशी, के0एम0, ''द प्रेसीडेन्ट अण्डर द इंडियन कांस्टिट्यूशन'', भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1963

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1) भाग 11.2.1 देखिए।

2) राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति की अनुपस्थिति में भारत का मुख्य न्यायाधी"ा राष्ट्रपति के रुप में कार्य करता है। यदि वह भी न हो तो उच्चतम् न्यायालय का वरिष्ठतम् न्यायाधी"ा राष्ट्रपति के रुप में कार्य करेगा।

3) भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन, लोक सभा, राज्य सभा तथा राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचक मण्डल द्वारा एकल संक्रमणीय एवं अनुपातिक मत पद्धति से की जाती है।

4) भाग 11.2.4 देखिए।

बोध प्रश्न–2

1) भाग 11.3.2 देखिए।

2) भाग 11.3.3 देखिए।

3) भाग 11.3.4 देखिए।

4) राष्ट्रीय आपात (अनु0 352), राज्यों में राष्ट्रपति शासन (अनु0 356), वित्तीय आपात (अनु0 360)

बोध प्रश्न–3

1) प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

2) प्रधानमंत्री के चयन में, जब किसी राजनीतिक दल को लोक सभा में बहुमत प्राप्त न हो।

3) भाग 11.4 देखिए।

4) भाग 11.5 देखिए।

इकाई 12

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

इकाई की रुपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रधानमंत्री

12.2.1 प्रधानमंत्री पद की योग्यतायें

12.2.2 प्रधानमंत्री के कर्त्तव्य

12.2.3 प्रधानमंत्री का चयन एवं नियुक्ति

12.3 विविध रुपों में प्रधानमंत्री की भूमिका और कार्य

12.3.1 प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल

12.3.2 प्रधानमंत्री और संसद

12.3.3 प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

12.3.4 प्रधानमंत्री और दल व्यवस्था

12.3.5 प्रधानमंत्री और नीति निर्माण

12.3.6 प्रधानमंत्री और योजना आयोग

12.3.7 प्रधानमंत्री और आपातकाल

12.3.8 प्रधानमंत्री और सुरक्षा नीति

12.3.9 प्रधानमंत्री की अनुग्रह की शक्ति

12.3.10 प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता और शासक

12.4. प्रधानमंत्री की स्थितिः एक मूल्यांकन

12.5 मंत्रिपरिषद

12.5.1 मंत्रिपरिषद का गठन

12.5.2 मंत्रिपरिषद की विशेषतायें

12.5.3 मंत्रिपरिषद में मंत्रियों के प्रकार

12.5.4 मंत्रिपरिषद का कार्यकाल एवं पदमुक्ति

12.5.5 मंत्रिमण्डल और मंत्रिपरिषद में अन्तर

12.5.6 मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य

12.5.6.1 राष्ट्रीय नीति निर्धारण में राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श देना।

12.5.6.2 राष्ट्रीय नीति को कार्यान्वित करना

12.5.6.3 मंत्रिपरिषद की समन्वयकारी भूमिका

12.5.6.4 वित्तीय कार्य

12.5.6.5 विधायी कार्य

12.5.6.6 विकास सम्बन्धी कार्य

12.5.6.7 वैदेशिक सम्बन्धों पर नियंत्रण

12.5.6.8 नियुक्ति सम्बन्धी कार्य

12.6 सारांश

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 प्रस्तावना

प्रधानमंत्री का पद भारतीय शासन प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह शासन की वह धुरी है जिसके चारों तरफ कार्यरत शासन के विभिन्न अंग परस्पर अन्तर्सम्बन्धित और घनिष्ठ रुप से जुड़े रहते हैं। प्रधानमंत्री को उसके कार्यों में सहयोग देने के लिये मंत्रिपरिषद होती है जो कि सामूहिक रुप से संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। तथा अपने महत्वपूर्ण कार्यों के द्वारा राष्ट्र को विकास के पथ पर ले जाने का प्रयास करती है।

इस इकाई के अन्तर्गत हम प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के कार्यों, उनके अन्य संस्थाओं से सम्बन्धों तथा इनकी संवैधानिक स्थितियों आदि विविध तथ्यों का परीक्षण करेंगे। इसके साथ ही यह भी देखेंगे कि वर्तमान समय में यह अपनी भूमिका का निर्वाह किस प्रकार से कर पा रही है।

12.1उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हमारा उद्देश्य होगा कि हम निम्नलिखित तत्वों को भली–भाँति समझ सकें।

- प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध।
- प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति।
- प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल के कार्य।
- राष्ट्रपति तथा संसद के साथ इनके परस्पर सम्बन्ध।
- प्रधानमंत्री की सीमाएं।

12.2 प्रधानमंत्री

भारत की संसदीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह शासन व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका की भूमिका निभाता है। जहाँ राष्ट्रपति राज्य का प्रमुख होता है, वहीं प्रधानमंत्री सरकार का प्रमुख होता है। ब्रिटिश संविधान में प्रधानमंत्री का पद परम्परा पर आधारित है, लेकिन भारत में यह संवैधानिक पद है। किन्तु विडम्बना यह है कि शासन की धुरी होने के बावजूद भी भारतीय संविधान में इसका उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 74(1), 75(1) तथा 78 में सिर्फ तीन बार ही इस पद का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 74(1) के अनुसार "राष्ट्रपति को उसके कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिये एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा।" अनुच्छेद 75(1) के अनुसार "प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की मंत्रणा से करेगा" तथा अनुच्छेद 78 में राष्ट्रपति को जानकारी देने के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री के कर्त्तव्य बताये गये हैं। संविधान में वर्णित यह प्रावधान काफी संक्षिप्त है, इनसे न तो प्रधानमंत्री की नियुक्ति की पद्धति स्पष्ट होती है और न ही यह उसकी महत्वपूर्ण स्थिति को ही प्रकट कर पाते हैं जो कि देश की राजनीति में उसे प्राप्त है। अतः कहा जा सकता है कि प्रधानमंत्री की पदस्थिति सैद्धान्तिक की बजाय व्यावहारिक आदर्शों तथा संसदीय परमपराओं पर अधिक आधारित होती है।

12.2.1 प्रधानमंत्री पद की योग्यतायें

प्रधानमंत्री का पद धारण करने हेतु निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक होता है।

- वह लोक सभा या राज्य सभा का सदस्य हो और यदि पद ग्रहण करते समय संसद के किसी भी सदन का सदस्य न हो तो पदग्रहण से 6 माह के भीतर किसी भी सदन की सदस्यता ग्रहण करे।
- उसे लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का समर्थन प्राप्त हो अर्थात् लोकसभा में उसको विश्वास मत प्राप्त हो क्योंकि यह सरकार चलाने की स्वाभाविक आवश्यकता है।

12.2.2 प्रधानमंत्री का चयन एवं नियुक्तिः

संसदीय परम्पराओं के अनुसार सदन में बहुमत प्राप्त दल अपने नेता का चुनाव करता है और उसी व्यक्ति को राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल बनाने के लिये आमंत्रित करता है। इस प्रकार प्रधानमंत्री का दल द्वारा चयन पहले होता है फिर उसकी नियुक्ति बाद में होती है। अनुच्छेद 75(1) यह उपबन्धित करता है कि 'प्रधानमंत्री' की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मंत्रणा से करेगा। किन्तु इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का प्रयोग नहीं कर सकता है और न ही कोई मनमानी कर सकता है क्योंकि उसे ऐसे व्यक्ति को ही

प्रधानमंत्री नियुक्त करना होता है जो लोक सभा के बहुमत दल का नेता हो अथवा जिसे सदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। सन् 1946 में प्रधानमंत्री पद के लिये दो प्रबल दावेदार थे। पहले पण्डित नेहरु और दूसरे सरदार पटेल, तब महात्मा गाँधी द्वारा पण्डित नेहरु को प्रधानमंत्री पद के लिये चुना गया। 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के पश्चात् कोई भी ऐसा नहीं था जो पण्डित नेहरु की सत्ता को चुनौती देता। अतः प्रथम, द्वितीय और तीसरे आम चुनावों के पश्चात् पण्डित नेहरु का सर्वसम्मति से दल के नेता के रुप में चयन किया गया और वह लगभग 18 वर्षों तक प्रधानमंत्री पद पर बने रहे। प्रधानमंत्री के चयन के सम्बन्ध में मुख्य रुप से चार सिद्धान्त देखे जा सकते हैं।

(i) चुनाव से पूर्व राजनीतिक दल द्वारा प्रधानमंत्री का चयन

यह वह स्थिति होती है जब किसी करिश्माई व्यक्तित्व के नेतृत्व में राजनीतिक दल या दलीय गठबन्धन द्वारा चुनाव लड़ा जाता है और ऐसे दल या गठबन्धन को लोकसभा में बहुमत प्राप्त होता है या वह चुनाव जीतता है, तब ऐसा समझा जाता है कि स्वयं जनता ने प्रत्यक्ष समर्थन प्रधानमंत्री के पक्ष में दिया है। जैसे कि 1952, 1957 और 1962 में नेहरु के पक्ष में तथा 1971 और 1980 में श्रीमती गाँधी और 2014 में नरेन्द्र मोदी के पक्ष में जनता ने मतदान कर उन्हें बहुमत प्रदान किया

(ii) आम सहमति के आधार पर

जब दल या गठबन्धन में बहुमत प्राप्त होने के बाद या पहले किसी के नाम पर सहमति बनानी पड़े तब प्रधानमंत्री का चयन सहमति के आधार पर माना जायेगा। जैसे 1964 में शास्त्री जी, 1967 में श्रीमती गाँधी, 1977 में मोरारजी देसाई दिसम्बर 1989 में वी0पी0 सिंह, जून 1991 में पी0वी0 नरसिम्हा राव, मई '96 और अप्रैल '97 में क्रमशः देवगौड़ा और गुजराल के नाम आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री पद के लिये चुने गये। आम सहमति की स्थिति प्रायः गठबन्धन सरकारों में देखने को मिलती है।

(iii) लोकसभा में बहुमत दल या बहुमत वाले गठबन्धन में नेता पद के लिये चुनाव संघर्ष और प्रधानमंत्री का चयन

कभी–कभी बहुमत प्राप्त दल या गठबन्धन में भी प्रधानमंत्री पद के लिये उम्मीदवारों में संघर्ष देखने को मिलता है ऐसा तब होता है जब दोनों दावेदारों के पक्ष में बराबर का समर्थन हो या बहुत कम अन्तर हो। 1966 में शास्त्री जी के निधन के बाद कांग्रेस संसदीय दल ने श्रीमती गाँधी और मोरारजी देसाई दो उम्मीदवारों में से श्रीमती गाँधी को नेता चुना था।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक से चयन

ऐसा प्रायः तब होता है जब सदन में किसी भी राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तथा एक से अधिक पक्ष सरकार बनाने के लिये अपना दावा प्रस्तुत करते हैं तब यह राष्ट्रपति के हाथ में होता है कि वे अपने विवेक से किसे सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करें, किन्तु राष्ट्रपति जिसे भी सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करेंगे उसे सदन में

अपना बहुमत साबित करना पड़ेगा। 1979 में चरण सिंह तथा नवम्बर 90 में चन्द्रशेखर का प्रधानमंत्री पद पर चयन राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आधार पर ही किया गया। यदि राष्ट्रपति द्वारा चयनित व्यक्ति सदन में अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर पाया तो वह अपने नेतृत्व में सरकार का गठन नहीं कर सकेगा।

लोकसभा चुनावों में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने की दशा में राष्ट्रपति को सरकार बनाने के लिये किसे सबसे पहले आमंत्रित करना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण तथा विवादित प्रश्न रहा है।

(i) चुनाव के पूर्व बने गठबन्धन के नेता को सर्वप्रथम आमन्त्रित किया जाना चाहिये।

(ii) सदन में सबसे बड़े दल के नेता को।

(iii) चुनाव के पश्चात् बने गठबन्धन के नेता को।

(iv) मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास होने पर विपक्ष के नेता को।

अलग–अलग परिस्थियों में राष्ट्रपति ने निम्न तरीके अपनाएं है फिर भी इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं बन सका हैं।

12.2.3 प्रधानमंत्री के कर्त्तव्य

संविधान के अनुच्छेद 78 में प्रधानमंत्री के लिये निम्न तीन प्रमुख कर्त्तव्य बताये गये हैं–

(i) संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मंत्रि–परिषद के समस्त निर्णयों तथा प्रस्तावों से राष्ट्रपति को अवगत कराना।

(ii) राष्ट्रपति द्वारा संघ कार्यों के प्रशासन से सम्बन्धित तथा विधि निर्माण विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी माँगी गयी किसी भी जानकारी को उसे, उपलब्ध कराना।

(iii) किसी विषय को, जिस पर किसी मंत्री ने निश्चय ले लिया हो किन्तु मंत्रि परिषद ने विचार न किया हो, राष्ट्रपति के चाहने पर मंत्रिपरिषद के सम्मुख विचारार्थ रखना।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणीः (1) कृपया नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिये।

(1) प्रधानमंत्री का चयन किस प्रकार किया जाता है?

.....

.....

.....

(2) प्रधानमंत्री पद के लिये किन योग्यताओं का होना अनिवार्य है।

.....

.....

.....

(3) प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति की क्या भूमिका होती है?

.....

.....

.....

12.3 विविध रुपों में प्रधानमंत्री की भूमिका और कार्य

पिछले 66 वर्षो के इतिहास में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री के पद के विविध रंगों को देखा है। प्रधानमंत्री मुख्य प्रशासक, मुख्य नीति निर्माता, मुख्य विधायक तथा मुख्य राजनयिक के रुप में राष्ट्र की सेवा करता रहा। वास्तविकता तो यह है कि प्रधानमंत्री के कार्य इतने अधिक हैं कि उन्हें एक स्थान पर सूचिबद्ध करना कठिन है। प्रधानमंत्री की स्थिति शक्तियों और कार्यों को समझने के लिये यह अपेक्षित है कि हम विविध सन्दर्भों में उसके कार्यों और भूमिका को समझने का प्रयत्न करें।

12.3.1 प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल

प्रधानमंत्री का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिमण्डल का निर्माण करना है। संविधान के अनुच्छेद 75(1) के अनुसार मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमंत्री के परामर्श पर ही की जायेगी। अतः अपने मंत्रिमण्डल का चयन करते समय सैद्धान्तिक रुप से प्रधानमंत्री स्वतंत्र होता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति औपचारिक मात्र होती है क्योंकि मंत्रिमण्डल के साथ उसी को कार्य करना होता है। मंत्रियों के चयन के पश्चात् वह उनके मध्य विभागों का वितरण करता है। वह कभी भी किसी मंत्री के कार्य या आचरण से असंतुष्ट होने पर उससे त्याग पत्र माँग सकता है। जैसे श्रीमती गाँधी ने उपप्रधानमंत्री एवं तत्कालीन वित्त मंत्री श्री मोरारजी देसाई को 1969 में मंत्रिपरिषद से इस कारण हटा दिया था क्योंकि वह उनकी वित्त सम्बन्धी नीतियों से सन्तुष्ट नहीं थीं। यदि कोई मंत्री प्रधानमंत्री से मतभेद होने पर भी त्याग पत्र नहीं देता तो प्रधानमंत्री उस मंत्री को पदच्युत करने के लिये राष्ट्रपति को परामर्श दे सकता है। पण्डित नेहरु के कार्यकाल में डा0 श्यामा प्रसाद मुकर्जी, श्री सी0डी0 देशमुख तथा श्री टी0टी0 कृष्णामाचारी ने तथा श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में श्री छागला आदि मंत्रियों ने त्यागपत्र दिये थे।

प्रधानमंत्री किसी भी मंत्री की पदोन्नति या पदावनति में निर्णायक भूमिका निभाता है। वह मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता करता है तथा उसके द्वारा ही मंत्रिपरिषद की कार्यसूची निर्धारित की जाती है। मंत्रिपरिषद की सारी गतिविधियों एवं कार्यवाहियों का संचालन प्रधानमंत्री ही करता है। यद्यपि मंत्रिमण्डल में निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत के आधार पर लिये जाते हैं किन्तु अन्तिम रुप से उसमें प्रधानमंत्री की सलाह व प्रभाव ही निर्णायक भूमिका निभाती है।

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

शासन का प्रधान होने के नाते वह विभिन्न मंत्रियों और उनके विभागों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का कार्य भी करता है। वह शासन को एक इकाई के रुप में देखता है, इसलिये वह मंत्रिपरिषद की आपसी एकता और सुदृढ़ता को बनाये रखने का प्रयास करता है। मंत्री अपने कार्यों के लिये व्यक्तिगत रुप से प्रधानमंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रधानमंत्री उन्हें शासन कार्य में परामर्श देता है, प्रोत्साहित करता है तथा चेतावनी भी देता है। किन्हीं दो मंत्रियों अथवा विभागों में मतभेद की स्थिति में वह मध्यस्थता के मामले को सुलझाता है तथा अन्तिम निर्णय लेकर निर्णायक भूमिका का निर्वाह करता है। वह किसी भी मंत्री से किसी भी समय उसके विभाग से सम्बन्धित कोई सूचना माँग सकता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रधानमंत्री समस्त मंत्रिपरिषद एवं प्रशासन का निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण करता है। वह उस कड़ी के समान है जिसके द्वारा प्रशासन को एक सूत्र में बाँधा जा सकता है।

12.3.2 प्रधानमंत्री और संसद

सदन में बहुमत दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री लोक सभा का भी नेता होता है। साधारणतया प्रधानमंत्री का चुनाव संसद के निम्न सदन में से होता है। लेकिन उच्च सदन से प्रधानमंत्री निर्वाचित करने पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। 1966 में श्रीमती गाँधी राज्यसभा (उच्च सदन) की सदस्य रहते हुये प्रधानमंत्री निर्वाचित हुयी थीं। लोकसभा में बहुमत दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री को अनेक महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। प्रथम, वह संसद में सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण घोषणायें करता है। संसदीय वाद–विवादों में भाग लेता है। द्वितीय, लोकसभा सदस्यों द्वारा पूछे गये गम्भीर प्रश्नों (सरकार की नीति से सम्बन्धित) के उत्तर देता है तथा सरकार की नीतियों के सम्बन्ध में सदन में प्रतिनिधित्व करता है। तृतीय, प्रधानमंत्री सरकार की तरफ से नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण वक्तव्य देता है तथा जब मंत्रियों के उत्तर से सदन सन्तुष्ट न हो तो प्रधानमंत्री अन्तिम प्रवक्ता तथा नीति स्त्रोत के रुप में देखा जाता है। चतुर्थ, शासकीय विधेयकों को प्रधानमंत्री की सलाहनुसार तैयार किया जाता है। पंचम, देश की वित्त व्यवस्था और वार्षिक बजट को निर्धारित करने में भी उसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। षष्ठम्, दलीय (अपने) नीतियों को क्रियान्वित कराने और दल में अनुशासन एवं एकता बनाये रखने हेतु समय–समय पर आवश्यक आदेश–निर्देश भी प्रसारित करने का कार्य करता है। सप्तम्, तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोकसभा का कार्यक्रम निश्चित करने और उसे स्थगित करने और उसे भंग करने की सिफारिश करना प्रधानमंत्री का महत्वपूर्ण

विशेषाधिकार है। प्रधानमंत्री को इस बात का अधिकार है कि वह राष्ट्रपति से कहकर लोकसभा को विघटित करा दें। इस प्रकार वह लोक सभा को भी अनुशासित और नियंत्रित रखने का कार्य करता है। पिछले 66 वर्षों में कई बार लोकसभा का कार्यकाल पूरा होने से पूर्व उसका विघटन किया गया और मध्यावधि चुनाव कराये गये।

12.3.3 प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

संसदीय सरकार का प्रधान होने के नाते राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मंत्रिमण्डल के परामर्श अनुसार कार्य करेगा। इस प्रकार की संवैधानिक व्यवस्थाओं में राष्ट्रपति नाममात्र का औपचारिक प्रधान होता है और वास्तविक कार्यप्रमुख प्रधानमंत्री होता है। इस सम्बन्ध में डा0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि "हमारे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत सम्राट की है। वह राज्य का प्रधान है किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु शासन नहीं।" संविधान के 42वें संशोधन के पूर्व सांविधानिक दृष्टि से राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के अधीन नहीं था और उसके लिये मंत्रिमण्डल के परामर्श को मानना बाध्यकारी नहीं था किन्तु संविधान के 42वें संशोधन ने राष्ट्रपति पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि वह मंत्रिमण्डल के परामर्शानुसार कार्य करेगा। इस प्रतिबंध के बाद प्रधानमंत्री की स्थिति मजबूत हो गई है। इन सम्बन्धों को निर्धारित करने में अनुच्छेद 78 का महत्व है। जो कि प्रधानमंत्री के कर्त्तव्यों को स्पष्ट करता है। जिसके अनुसार शासन की प्रत्येक जानकारी से राष्ट्रपति को अवगत कराना, माँगे जाने पर जानकारी उपलब्ध कराना तथा मंत्रियों के विनिश्चय के सम्बन्ध में सूचित करना प्रधानमंत्री के कर्त्तव्य होंगे। अतः प्रधानमंत्री वह कड़ी बन जाता है जो राष्ट्रपति और संसद को जोड़ती है, यूँ तो प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्ध अनेक तत्वों, राजनीतिक परिस्थितियों, व्यक्तित्वीय समीकरण, सत्तारुढ़ दलों में दोनों की स्थिति, संसद का दलीय संगठन, जनता में लोकप्रियता इत्यादि तत्वों से निर्धारित होते हैं। किन्तु इनके वास्तविक सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करते हैं। प्रथम, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री का दलीय सम्बन्ध और द्वितीय, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व तथा उनका राजनीतिक प्रभाव। 1977 तक यह दोनों पद एक दल से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा ही धारण किये गये अतः उनके मध्य ऐसे में कोई गम्भीर मतभेद नहीं देखे गये किन्तु विभिन्न दलों से सम्बन्धित होने पर कुछ मतभेद अवश्य दिखायी पड़ते हैं। संसदीय सरकार का प्रधान होने के नाते राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री के परामर्शदाता के रुप में ही कार्य करना चाहिये। पिछले कई वर्षों में यह सम्बन्ध इस अर्थ में मैत्रीपूर्ण रहे कि उनके बीच उत्पन्न होने वाले मतभेदों ने किसी संवैधानिक संकट का रुप नहीं लिया। अप्रैल 1977 में कार्यवाहक राष्ट्रपति जत्ती और मंत्रिपरिषद के मध्य सम्बन्धों में विवाद–उत्पन्न हुआ, लेकिन अन्ततः श्री जत्ती ने संवैधानिक मार्ग का अनुसरण कर इसे समाप्त किया। जुलाई–अगस्त 1979 में पहली बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हुयी जिसमें राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमंत्री के चयन में अपने विवेक का प्रयोग किया गया और इस प्रकार राष्ट्रपति ने अपने प्रभाव का परिचय दिया। अब तक के घटनाक्रमों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि प्रधानमंत्री की दलीय स्थिति कमजोर हो या वह

कमजोर व्यक्तित्व का हो अथवा उसे लोकसभा में समुचित बहुमत प्राप्त न हुआ हो अथवा शासक दल में अनुशासन और एकता का अभाव हो तो राष्ट्रपति राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो सकते हैं। राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच सांविधानिक अधिकारों को लेकर गम्भीर विवाद 1987 में उत्पन्न हुआ और वो भी तब जबकि दोनों ही पदधारक एक दल के सदस्य थे। राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को राष्ट्रपति बनवाने में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की बड़ी भूमिका थी इसलिये उनके और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध मधुर होना स्वाभाविक था, किन्तु श्रीमती इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के उपरान्त जब श्री राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने तो 1987 के आते–आते दोनों के सम्बन्धों में गम्भीर रुप से मतभेद उत्पन्न हो चुके थे। वर्तमान में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी तथा प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह दोनों ही एक ही दल के सदस्य हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध भी मधुर हैं। इससे पहले इसी प्रकार के सम्बन्ध श्रीमती प्रतिभा देवी पाटिल (राष्ट्रपति) तथा मनमोहन सिंह (प्रधानमंत्री) के मध्य भी देखे जा सके थे। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि दोनों ही पद संवैधानिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। इसलिये यह आवश्यक है कि दोनों अपने–अपने सांविधानिक दायरे में रहते हुये कार्यों का निर्वहन करें।

12.3.4 प्रधानमंत्री और दल अध्यक्ष

दल अध्यक्ष और प्रधानमंत्री दोनों ही महत्वपूर्ण पद होते हैं। और एक दूसरे के पूरक भी क्योंकि प्रधानमंत्री उसी राजनीतिक दल का होता है जिसका संसद में बहुमत होता है। दोनों के मध्य परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दल की सुदृढ़ता तथा सरकार के कुशल संचालन के लिये अति आवश्यक होते हैं। भारत में इनके मध्य सम्बन्ध कुछ अपवादों को छोड़कर हमेशा सहयोगपूर्ण ही रहे हैं। पिछले कई वर्षों के इतिहास में प्रधानमंत्रियों ने दल अध्यक्ष के घनिष्ठ सहयोगी की भूमिका निभायी है तथा दल अध्यक्षों ने भी सरकार को मजबूत बनाये रखने का प्रयास किया है, किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर।

इनके मध्य पहला टकराव 1946–47 में देखने को मिला जब आचार्य कृपलानी ने अध्यक्ष पद को प्रधानमंत्री पद से बड़ा मानते हुये दावा किया कि मंत्रिमण्डल के निर्माण और नीतियों के निर्माण में प्रधानमंत्री को दल के अध्यक्ष से परामर्श करना चाहिये। उनका मानना था कि सरकार अपनी सत्ता दल से ही ग्रहण करती है इसलिये निर्णयों तथा नीति निर्माण में दल अध्यक्ष की भूमिका होनी चाहिये। किन्तु नेहरु इस सिद्धान्त से सहमत नहीं थे और न ही अध्यक्ष द्वारा निर्देशित होने को तैयार थे। दोनों के पारस्परिक विरोध के चलते अन्ततः कृपलानी को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। दूसरा टकराव 1949 में देखने को मिला। जब नेहरु जी की इच्छा के विरुद्ध सरदार पटेल के समर्थन से पी0डी0 टण्डन कांग्रेस के अध्यक्ष हुये। तब भी नेहरु और टण्डन के मध्य सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। सरकार पटेल की मृत्यु के पश्चात् 1951 में टण्डन जी ने पद से त्याग पत्र दे दिया तथा अक्टूबर 1951 में पण्डित नेहरु ने दल के अध्यक्ष का पद भी ग्रहण कर लिया। अब दोनों पद एक ही व्यक्ति द्वारा धारण किये जाने के कारण विवाद उत्पन्न होने का प्रश्न ही समाप्त हो गया। 1955 से 1978 तक कांग्रेस के जितने भी अध्यक्ष हुये उनमें लगभग सभी प्रधानमंत्री के सहयोग और समर्थन से निर्वाचित हुये।

नेहरु जी की मृत्यु के पश्चात् स्थिति बदल गयी अभी तक व्यावहारिक रुप में दल के अध्यक्ष का चुनाव प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता था, परन्तु अब प्रधानमंत्री के चयन में दल के अध्यक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी। तीसरा टकराव 1969 में देखने को मिला जब मोरारजी देसाई गुट ने कांग्रेस अध्यक्ष निजिलिंगप्पा का समर्थन प्राप्त कर श्रीमती गाँधी को अपदस्थ करने का प्रयत्न किया। किन्तु अन्ततः विजय प्रधानमंत्री की ही हुयी। पुनः एक बार दल के अध्यक्ष का निर्वाचन प्रधानमंत्री की इच्छानुसार होने लगा। नेहरु की भाँति जनवरी 1978 में श्रीमती गाँधी औपचारिक रुप से भी दल अध्यक्ष बन गयीं और अन्त तक इस पद पर बनी रहीं। 1989 के बाद से अधिकांशतः साझा सरकार बनीं। 1991 से 1996 में नरसिम्हा राव प्रधानमंत्री के साथ–साथ दल अध्यक्ष भी बने रहे।

गठबन्धन सरकारों के दौर में दल के अध्यक्ष की स्थिति कुछ मजबूत अवश्य हुयी। 1999 में सोनिया गाँधी कांग्रेस अध्यक्ष बनीं। उनका अध्यक्ष बनना आरम्भ में काफी विवादास्पद रहा, किन्तु उनके नेतृत्व में कांग्रेस को पुनजीर्वित किया जिससे दलीय अध्यक्ष के रुप में उनका कद और महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। 2004 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस को अच्छी सफलता प्राप्त हुर्यी, पार्टी बड़े दल के रुप में उभर कर सामने आयी। कांग्रेस ने सोनिया गांधी को संसदीय दल का नेता चुना किन्तु उन्होंने प्रधानमंत्री का पद ठुकरा दिया और डा0 मनमोहन सिंह को प्रधानमंत्री बनवा दिया। निश्चित रुप से विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होना था। 2009 के चुनावों में भी कांग्रेस को सफलता मिली और सोनिया गांधी ने प्रधानमंत्री के रुप में पहले से ही मनमोहन सिंह के नाम को प्रस्तुत किया था। अतः स्वाभाविक रुप से प्रधानमंत्री और दल अध्यक्ष के मध्य सम्बन्ध अच्छे होने थे क्योंकि दल अध्यक्ष के प्रयास से ही प्रधानमंत्री का चयन किया गया था। यही कारण है कि 2009 के चुनावों में विपक्ष ने डा0 मनमोहन सिंह को 'कमजोर प्रधानमंत्री' कहकर सम्बोधित किया था। वर्तमान प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को 2014 के लोकसभा चुनावों के लिये भारतीय जनता पार्टी अध्यक्ष श्री राजनाथ सिंह ने प्रधानमंत्री प्रत्याशी के रुप में प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

12.3.5 प्रधानमंत्री और नीति निर्माण

राष्ट्र नीति के निर्माता के रुप में भारत के प्रधानमंत्री की भूमिका महत्वपूर्ण है। क्योंकि भारतीय प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का प्रमुख वक्ता होने के साथ–साथ नीति निर्माता भी है। इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। प्रधानमंत्री के अधीन मंत्रालयों और विभागों के सम्बन्ध में नीति निर्माण में इसका बड़ा योगदान रहता है। यदि किसी मंत्री ने प्रधानमंत्री की जानकारी के बिना कोई नीतिगत निर्णय ले लिया है तो भी प्रधानमंत्री चाहे तो उसे बदल सकता है। बैंक राष्ट्रीयकरण, संविधान संशोधन आदि जितने भी महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये वह सब प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप से प्रधानमंत्री के ही निर्णय थे। अतः प्रधानमंत्री सभी महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण करता है। सरकार का प्रमुख वक्ता

होने के कारण वह राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर देश की नीतियों को स्पष्ट करता है।

12.3.6 प्रधानमंत्री और योजना आयोग

प्रधानमंत्री योजना आयोग का अध्यक्ष होता है। राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का संचालन विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से किया जाता है। इससे जुड़ी प्रमुख संस्था राष्ट्रीय विकास परिषद इन पंचवर्षीय योजनाओं के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राज्यों को दी जाने वाली अनुदान, सहायता राशियाँ आदि का निर्णय इसी संस्था द्वारा किया जाता है और यह संस्था प्रधानमंत्री के नेतृत्व में ही कार्य करती है। इस प्रकार प्रधानमंत्री की भूमिका और कार्य इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

12.3.7 प्रधानमंत्री और आपातकाल

आपातकाल के समय प्रधानमंत्री की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो जाती है। संविधान में अनुच्छेद 352 से 360 तक में राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का वर्णन किया गया है। यर्थाथ में राष्ट्रपति की इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है। 1962 में चीनी आक्रमण के समय नेहरु जी ने इन शक्तियों का प्रयोग किया था किन्तु युद्ध में पराजय के कारण नेहरु जी को आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा। 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण के समय शास्त्री जी ने इन शक्तियों का प्रयोग किया तथा युद्ध में जीत प्राप्त करने के कारण वह एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के रुप में उभर कर आये। 1971 में इन्हीं आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने पाकिस्तानी आक्रमण के समय किया तथा उसी समय बांग्लादेश को पाकिस्तान से मुक्त करा कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतंत्र विदेश नीति का प्रतिपादन कर राष्ट्र को वैश्विक परिदृश्य ने एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। 1975 में की गई आपात घोषणा आन्तरिक अशान्ति के नाम पर की गई और इस का दुरुप्रयोग जिस तरह किया गया उसने काँग्रेस पार्टी के शासन का ही अन्तकर दिया। वास्तव में राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख होने के नाते आपातकाल की केवल घोषणा करता है। इसकी शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग प्रधानमंत्री के द्वारा ही किया जाता रहा है।

12.3.8 प्रधानमंत्री और सुरक्षा नीति

राष्ट्र की सुरक्षा नीति निर्धारित करने में प्रधानमंत्री का पूर्ण वर्चस्व होता है। रक्षा मंत्री को प्रधानमंत्री के निकट सम्पक्र और पूर्ण नियन्त्रण में रहकर ही कार्य करना पड़ता है। युद्ध का निर्णय अथवा युद्ध विराम की घोषणा आदि महत्वपूर्ण निर्णय प्रधानमंत्री के नेतृत्व में ही लिये जाते हैं। देश की हार व जीत का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री पर ही होता है। 1962 में चीन आक्रमण के समय भारत की पराजय के लिये नेहरु जी की नीतियों को ही जिम्मेदार ठहराया गया। इसी प्रकार 1971 में भारत–पाक

युद्ध में भारत की शानदार विजय तथा बांग्लादेश की स्थापना का श्रेय श्रीमती इन्दिरा गाँधी को ही दिया जाता रहा है। महाशक्तियों के साथ किस प्रकार के सैन्य सम्बन्ध रखने है। कहाँ से क्या सैन्य सामान खरीदना है। राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित परिषदों का गठन कर उनकी अध्यक्षता करना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा नीति, परमाणु कार्यक्रम आदि निर्धारित करने से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण निर्णय प्रधानमंत्री द्वारा ही लिये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है।

12.3.9 प्रधानमंत्री की अनुग्रह की शक्ति

प्रधानमंत्री अनेक प्रकार से अपने – अपने सहयोगियों को सम्मानित और लाभान्वित कर सकते हैं। भारत के अधिकांश उच्च पदाधिकारियों (संवैधानिक पदधारक) की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्श से करते हैं। गैर संवैधानिक पदों जैसे (आयोगों के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सदस्य परिषदों के सदस्य आदि की नियुक्ति में भी प्रधानमंत्री की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सरकार द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष्य में प्रदान की गयी सम्मानजनक उपाधियों यथा– 'भारत रत्न', 'पद्मविभूषण', 'पद्मभूषण', 'पद्मश्री' के वितरण में भी प्रधानमंत्री निर्णायक भूमिका का निर्वाह करते हैं।

12.3.10 प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता और शासक

सैद्धान्तिक रुप में तो नहीं, किन्तु व्यवहार में निर्विवाद रुप से प्रधानमंत्री देश का सर्वोच्च नेता और शासक होता है। समस्त शासन उसकी इच्छानुसार ही संचालित होता है। मंत्रिपरिषद में वह सर्वोपरि होता है तथा लोकसभा का नेता होने के कारण वह कार्यपालिकीय तथा विधायिकीय शक्तियों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है। जेनिंग्स ने प्रधानमंत्री को "सूर्य के सदृश माना है, जिसके चारों ओर ग्रह घूमते हैं।" अतः सहज स्पष्ट है कि किसी राष्ट्र के उत्थान में प्रधानमंत्री की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है।

12.4 प्रधानमंत्री की स्थिति : एक मूल्यांकन

भारतीय शासन व्यवस्था में प्रधानमंत्री का पद संवैधानिक रुप से अति महत्वपूर्ण तथा शक्तिसम्पन्न है। राष्ट्रपति नाममात्र का प्रमुख होता है। सरकार का प्रमुख प्रधानमंत्री होता है। सैद्धान्तिक रुप में राष्ट्रपति को प्राप्त समस्त शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति इस पद को प्राप्त करता है तो वह इसके महत्व और शक्तियों को और भी बढ़ा देता है, किन्तु फिर भी समय–समय पर प्रधानमंत्री की स्थिति में अनेक उतार–चढ़ाव देखने को मिलते हैं। प्रधानमंत्री की भारतीय राजनीति में स्थिति को निर्धारित करने वाले अनेक तत्व हैं। उसकी वास्तविक शक्ति और स्थिति का मूल्यांकन इन्हीं सन्दर्भों में बेहतर ढंग से किया जा सकता है।

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद

सबसे महत्वपूर्ण तत्व है प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व। यदि प्रधानमंत्री पद पर करिश्माई व्यक्तित्व का प्रभावशाली नेता विराजमान् हो तो वह इस पद की शक्ति में अत्यधिक विस्तार कर देता है। पण्डित नेहरु और श्रीमती इन्दिरा गाँधी इसके जीवन्त उदाहरण हैं। नेहरु जी का विशाल व्यक्तित्व दल और लोकसभा दोनों पर आच्छादित रहता था। इसी प्रकार श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपने व्यक्तित्व के बल पर दल में अपनी मजबूत जगह विरोधियों को परास्त कर बनायी तथा एक सशक्त प्रधानमंत्री के रुप में कार्य करती रहीं।

दूसरा महत्वपूर्ण तत्व दल में प्रधानमंत्री की स्थिति है यदि दल में उसकी सर्व स्वीकार्यता है और लोगों को उस पर विश्वास है तो वह प्रधानमंत्री के रुप में भी मजबूती से कार्य कर सकेगा। प्रधानमंत्री पद पर रहने के बाद भी मोरारजी देसाई, चरण सिंह अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप नहीं छोड़ पाये। इसलिये अपने दल, संसद, और मंत्रिमण्डल पर उनकी वह पकड़ कभी स्थापित न हो सकी, जो होनी चाहिए थी।

तीसरा और अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व लोकसभा में दल का स्थिति है। यदि को सदन में पूर्शा बहुमत प्राप्त है। तो प्रधानमंत्री को 5 वर्ष तक सशक्त रुप में सरकार चलाने का अवसर प्राप्त होता है। ऐसे में प्रधानमंत्री की स्थिति अत्यधिक मजबूत हो जाती है तथा वह स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकता है। अपने यदि व्यक्तित्व प्रभावशाली है तो बहुमत वाली सरकारों के प्रधानमंत्री काफी शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। नेहरु जी जवीनपर्यन्त प्रधानमंत्री रहे इसमें पूर्ण बहुमत का भी विशेष योगदान था। उनकी दूसरों पर निर्भरता नहीं थी। इसी प्रकार श्रीमती गाँधी ने अपने विरोधियों को परास्त कर सशक्त भूमिका प्राप्त की, कांग्रेस का विभाजन हुआ और उनकी कांग्रेस बाद में इन्दिरा कांग्रेस के नाम से जानी जाने लगी। किन्तु इसका एक अपवाद भी भारतीय राजनीति में देखने को मिलता है। बहुमत वाली कांग्रेस सरकार के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को एक कमजोर प्रधानमंत्री के रुप में जाना जाता है। क्योंकि यहाँ पर सत्ता कांग्रेस अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गाँधी में केन्द्रित रहा है, सम्पूर्ण निर्णय कांग्रेस अध्यक्ष की स्वीकृति पश्चात् ही लिये जाते हैं। यहाँ तक कि पार्टी महासचिव श्री राहुल गाँधी अपनी ही सरकार द्वारा लाये गये अध्यादेश को बकवास और फाड़कर फेंक देने वाला बताते हैं। इन स्थितियों में प्रधानमंत्री की स्थिति कमजोर हो जाती है।

चौथा महत्वपूर्ण तत्वा गठनबन्धन सरकारों का उदय है, जिसने प्रधानमंत्री की स्थिति को काफी कमजोर बनाया है। क्योंकि गठबन्धन में घटक दलों की मांगों के आगे प्रधानमंत्री को अनेक बार समझौता करने पड़ते हैं। 1989 के पश्चात् हम इन सरकारों के उदय को देखते हैं। विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार, आई0के0 गुजराल सरकार, देवगौड़ा सरकार, कांग्रेस गठनबन्धन की यू0पी0ए0 सरकार तथा बी0जे0पी0 गठबन्धन की एन0डी0ए0 सरकारें इसका उदाहरण हैं। इन सभी सरकारों में प्रधानमंत्री की स्थिति कभी भी बहुत सशक्त नहीं रही। वह सहयोगियों की माँगों के आगे बेबस रहे। कुछ सरकारों को छोड़कर अधिकांश ने तो अपना कार्यकाल भी पूरा नहीं किया। अपने मंत्रिमण्डल के चयन का प्रधानमंत्री का अधिकार भी सुरक्षित न रह सका। यू0पी0ए0 सरकार में तो हद तब हो गयी जब ममता बनर्जी ने अपने दल से रेल मंत्री दिनेश

त्रिवेदी को स्वयं त्यागपत्र देने को बाध्यकर उनके स्थान पर मुकुल राय को रेलमंत्री बनवाया। यह प्रधानमंत्री के अधिकारों को खुली चुनौती थी।

पाँचवा महत्वपूर्ण तत्व दल अध्यक्ष के साथ प्रधानमंत्री के सम्बन्ध हैं। यदि यह मधुर हुये तो प्रधानमंत्री को सहयोग मिलता है, किन्तु यदि यह सहयोगपूर्ण न होकर कटु हुये तो प्रधानमंत्री की स्थिति पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। नेहरु जी और कृपलानी जी के सम्बन्ध कटु थे। तो नेहरु जी के प्रभावी व्यक्तित्व के चलते कृपलानी जी को त्यागपत्र देना पड़ा। वहीं दूसरी ओर सोनिया गाँधी जी से मनमोहन सिंह के मधुर सम्बन्धों के चलते वह दो बार प्रधानमंत्री बनने में सफल रहे।

छठवाँ महत्वपूर्ण तत्व मंत्रिमण्डल में समान कद के नेताओं के साथ सम्बन्ध है। यदि मंत्रिमण्डल में कोई अन्य व्यक्तित्व भी कुशाग्र और चमत्कारिक व्यक्ति का है। तो प्रधानमंत्री को चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है। नेहरु जी को सरदार पटेल से निरन्तर चुनौतियां मिलती रहती थीं क्योंकि सरदार पटेल दृढ़ इच्छा शक्ति के धनी व्यक्ति थे तथा नेहरु जी से किसी भी मायने में कम योग्य नहीं थे। नेहरु जी को दल पर एकाधिकार पटेल जी की मृत्यु के बाद ही प्राप्त हुआ।

सातवाँ महत्वपूर्ण तत्व जन लोकप्रियता है। जन लोकप्रिय व्यक्ति जब प्रधानमंत्री नियुक्त होता है तो दल के अन्दर भी विरोध के स्वर मुखर नहीं हो पाते, मंत्रिमण्डल भी नियंत्रित रहता है और प्रधानमंत्री की ताकत बढ़ जाती है। नेहरु जी, इन्दिरा जी, अटल जी इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं।

आठवाँ महत्वपूर्ण तत्व विरोधियों में स्वीकार्यता तथा राजनीतिक अनुभव है। यदि प्रधानमंत्री पद पर ऐसा व्यक्ति नियुक्त होता है जो विरोधियों में भी स्वीकार्य हो तथा उसे पर्याप्त राजनीतिक अनुभव हो, तो इस पद की शक्ति बढ़ जाती है। अन्यथा विरोधियों के दबाव के चलते कई बार प्रधानमंत्रियों को अपना पद त्यागना पड़ा है। एच0डी0 देवगौड़ा, आई0के0 गुजराल इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार सहज स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री का पद यूँ तो भारतीय शासन व्यवस्था में अतिमहत्वपूर्ण है किन्तु यह परिस्थितियों और इसे धारण करने वाले उन व्यक्तियों पर भी निर्भर करता है कि वह इसे कितना महत्वपूर्ण व सशक्त बना सकते हैं।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणीः (1) कृपया नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिये।

(1) प्रधानमंत्री के क्या कार्य हैं?

.....

.....

(2) प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के मध्य क्या सम्बन्ध हैं?

.....

.....

(3) गठनबन्धन सरकारों ने प्रधानमंत्री की भूमिका को किस प्रकार प्रभावित किया है?

.....

.....

(4) प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन कीजिए?

.....

.....

12.5 मंत्रिपरिषद

संसदीय लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिपरिषद में निहित होती हैं। संविधान का अनुच्छेद 74(1) यह प्रावधान करता है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के संचालन करने में सहायता तथा परामर्श देने के लिये एक मंत्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" आम बोलचाल की भाषा में जिसे हम सरकार कहते हैं उसका तात्पर्य मंत्रिपरिषद से ही होता है।

12.5.1 मंत्रिपरिषद का गठन

मंत्रिपरिषद के गठन, कार्यकाल तथा उत्तरदायित्व आदि के सम्बन्ध में अनुच्छेद 75 में निम्न व्यवस्थायें दी गयी हैं।

(i) प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर करेगा।

(ii) मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करेंगे।

(iii) मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होगी।

(iv) प्रत्येक मंत्री को अपने पद धारण करने के पूर्व राष्ट्रपति के समक्ष अपने पद और गोपनीयता की शपथ लेनी होगी।

(v) यदि कोई मंत्री अपना पद धारण करने के 6 माह बाद तक संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सका तो उसे मंत्रिपरिषद से त्याग पत्र देना होगा।

(vi) मंत्रियों को वह सब वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे, जो समय–समय पर संसद विधि द्वारा अवधारित करे।

मंत्रिपरिषद के गठन के सम्बन्ध में यह मात्र औपचारिक व्यवस्थायें हैं, वास्तव में यह एक कठिन कार्य है। गठबन्धन सरकारों के दौर में यह कार्य अत्यन्त जटिल हो गया है क्योंकि गठबन्धन में भाग लेने वाले घटक दलों की मन्त्री पद को लेकर अपनी इच्छायें और आकांक्षायें होती हैं। जो कि प्रधानमंत्री को उसके इस कार्य हेतु मंत्री चयन की स्वतन्त्रता पर गम्भीर रुप से अंकुश लगाती है। सभी घटक दलों को सन्तुष्ट रखने

के साथ प्रधानमंत्री को अपने दलीय सहयोगियों को भी सन्तुष्ट करना होता है। जो कि अत्यन्त कठिन कार्य है। यही कारण है कि गठबन्धन सरकारों के दौर में मन्त्रियों की संख्या में आश्चर्यजनक रुप से वृद्धि होने लगी। नये–नये मंत्रालयों का गठन किया जाने लगा। स्वतंत्र भारत की प्रथम मंत्रिपरिषद में 14 सदस्य सम्मिलित थे। 1991 में नरसिम्हा राव सरकार ने 60 सदस्य मंत्रिपरिषद में शामिल किये जबकि बाजपेयी मंत्रिपरिषद में सन् 2003 में किये गये तेरहवें विस्तार के पश्चात् 81 मंत्री थे जो एक रिकार्ड है। प्रशासनिक सुधार आयोग का मानना है कि मंत्रिपरिषद में अधिकतम 40–50 सदस्य ही होने चाहिये। जिसके 1/3 सदस्य कैबिनेट स्तर के हों। इन स्थितियों से बचने के लिए 2003 में 91वाँ संवैधानिक संशोधन लाया गया जिसके द्वारा अनुच्छेद 75(1) के तुरन्त बाद (1अ) तथा (1ब) जोड़ा गया है, जो इस प्रकार है–

अनुच्छेद 75 (1अ) के अनुसार "मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या लोकसभा के कुल संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी"; तथा अनुच्छेद 75 (1ब) के अनुसार "यदि किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्धित संसद के किसी भी सदन का सदस्य दसवीं अनुसूची के परिच्छेद 2 के अन्तर्गत अयोग्य ठहराया जाता है तो वह मंत्री पद पर अयोग्य माना जायेगा और दल बदल करने वाला कोई सदस्य सदन की सदस्यता खोने के साथ–साथ अगली बार चुनाव जीतने तक अथवा सदन के शेष कार्यकाल तक (जो भी पहले हो) मंत्री पद या लाभ का कोई अन्य पद प्राप्त नहीं कर सकेगा।

12.5.2 मंत्रिपरिषद की विशेषतायें

मंत्रिमण्डलीय शासन व्यवस्था में कार्य करने के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त हैं जो कि भारतीय शासन प्रणाली में भी निहित हैं। इन्हें निम्नानुसार विश्लेषित किया जा सकता है–

(1) एक नाममात्र की कार्यपालिका प्रधान की व्यवस्था।

(2) मंत्रिपरिषद की राजनीतिक एकता।

(3) मंत्रिपरिषद का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व।

(4) मंत्रिमण्डलीय कार्य की गोपनीयता बनाये रखना।

(5) मंत्रिपरिषद का प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्य करना।

(6) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य अभिन्न सम्बन्ध होना।

(7) यदि कोई मंत्री संसद का सदस्य न हो तो उसे छः मास के अन्दर यह सदस्यता (किसी भी सदन की) प्राप्त करनी होगी। अन्यथा वह मंत्री बना नहीं रह सकता।

(8) एक मंत्री किसी एक सदन का सदस्य रहकर दूसरे सदन की कार्यवाही में भाग तो ले सकता है, किन्तु उसे उस सदन में मतदान का अधिकार नहीं होता है।

12.5.3 मंत्रिपरिषद में मंत्रियों के प्रकार

मुख्यतः मंत्रिपरिषद में 4 प्रकार के मंत्री बनाये जाते हैं। जो कि शक्तियों तथा स्तर के अनुसार क्रमशः निम्नवत् हैं–

(1) **कैबिनेट मंत्रीः** इन्हीं से मिलकर मंत्रिमण्डल का निर्माण होता है। इनके पास महत्वपूर्ण मंत्रालय या विभाग होते हैं। शासन में इनकी संख्या अधिकतम 15 से 20 तक होती है। मंत्रिपरिषद में यह सबसे महत्वपूर्ण होते हैं। रैम्जे म्योर ने इन्हें मंत्रिपरिषद के हृदय की संज्ञा दी है।

(2) **राज्य मंत्रीः** से तात्पर्य किसी प्रान्त के मंत्री से नहीं है अपितु कैबिनेट मंत्री के पश्चात् यह पदसोपान में दूसरे स्तर पर पाये जाते हैं। 1952 में इन्हें श्डपदपेजमत वि ब्इपदमज त्ंदाश नाम दिया गया था, किन्तु सन् 1957 से पुनः इन्हें राज्य मंत्री कहा जाने लगा।

(3) **उपमंत्रीः** पदसोपान में तीसरे स्थान पर उपमंत्री आते हैं। कभी–कभी इन्हें विभागों का कार्यभार स्वतंत्र रुप से दिया जाता है तो कभी–कभी यह किसी कैबिनेट मंत्री के अधीन भी कार्य करते हैं।

(4) **संसदीय सचिवः** से तात्पर्य संसद के सेक्रेटरी से नहीं है वरन् यह मंत्रिपरिषद में निम्नतम् पदधारक मंत्री का पदनाम है। जो प्रायः किसी नये व्यक्ति को प्रथम बार मंत्री कार्य सीखने हेतु दिया जाता है। भारत में इस पदनाम के मंत्री बहुत कम होते हैं। किसी व्यक्ति को कौन सा मंत्री बनाया जाये तथा कौन सा पदनाम दिया जाये इसका निर्णय मुख्य रुप से प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है।

कुछ मंत्रालयों में राज्यमंत्री स्तर का मंत्री स्वतन्त्र प्रभार भी संभालता है, कुछ प्रकरणों में बिना विभाग के मंत्री भी रखे जा सकते हैं। बाजपेयी मंत्रिमण्डल में सन् 2003 में ममता बनर्जी लम्बे समय तक बिना विभाग की कैबिनेट मंत्री रही हैं। इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण निर्णय प्रधानमंत्री के क्षेत्राधिकार के माध्यम से ही लिये जाते हैं।

12.5.4 मंत्रिमण्डल और मंत्रिपरिषद में अन्तर

भारत के संविधान में मंत्रिपरिषद अर्थात् काउन्सिल ऑफ मिनिस्टर्स (Council of Ministers) शब्द का प्रयोग किया गया है। जबकि मन्त्रिमण्डल अर्थात् कैबिनेट नामक संस्था का निर्माण मंत्रिपरिषद के अन्तर्गत कार्य करने वाले एक महत्वपूर्ण निकाय के रुप में हुआ है। जिसमें महत्वपूर्ण मंत्रीगण शामिल होते हैं। कैबिनेट शब्द की उत्पत्ति ब्रिटेन में कबाल (Cabal) से हुयी है। जिसका शब्दकोषीय अर्थ 'गुप्त राजनीतिक धरातल' या इससे जुड़े 'समूह' से है। वस्तुतः मंत्रिपरिषद का आशय प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करने वाले समस्त श्रेणियों या स्तरों के मंत्रियों से है जबकि मंत्रिमण्डल का तात्पर्य प्रधानमंत्री तथा

मंत्रिपरिषद के कुछ उच्च स्तरीय कैबिनेट मंत्रियों से है। दोनों के मध्य मुख्यतः निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं–

(1) मंत्रिपरिषद का आकार बड़ा होता है जबकि मंत्रिमण्डल का आकार छोटा होता है।

(2) मंत्रिपरिषद में कैबिनेट, राज्यमंत्री, उपमंत्री तथा संसदीय सचिव स्तर के मंत्री शामिल होते हैं। जबकि मंत्रिमण्डल में केवल कैबिनेट स्तर तथा स्वतंत्र प्रभार के राज्य मंत्री ही सम्मिलित होते हैं।

(3) सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल, मंत्रिपरिषद का एक भाग होता है। जबकि मंत्रिपरिषद, मंत्रिमण्डल का भाग नहीं होता है।

(4) मंत्रिपरिषद शब्द का वर्णन संविधान में है। जबकि मंत्रिमण्डल शब्द तथा इस संस्था का निर्माण सुविधा के लिये किया गया है।

प्रश्न उठता है कि मंत्रिपरिषद के होते हुये मंत्रिमण्डल का निर्माण क्यों किया जाता है? वस्तुतः मंत्रिपरिषद का आकार बड़ा होता है। 40–50 तक मंत्री इसके अंग होते हैं। प्रायः निर्णय लेने में और बैठकों में सभी मंत्रियों की उपस्थिति में समस्यायें आती हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से सुगमता के साथ कार्य संचालन हो सके इसलिये मंत्रिमण्डल का गठन किया जाता है। जिससे महत्वपूर्ण कार्यों का अविलम्ब निस्तारण किया जा सके। भारत सहित विश्व के अधिकांश देशों में प्रधानमंत्री के इर्द–गिर्द रहने वाले कुछ विश्वसनीय तथा महत्वपूर्ण व्यक्ति 'Inner Cabinet' की भूमिका निभाते हैं। इसी प्रकार, दोस्तों तथा परिचितों से युक्त 'Kitchen Cabinet' भी होती है जो प्रायः नीतिगत निर्णयों को अपनी महत्वपूर्ण भूमिका से प्रभावित करते हैं। कई बार विपक्षी दल भी अपने वरिष्ठ रणनीतिकारों का एक समूह बनाकर 'Shadow Cabinet' सत्ता पक्ष पर दबाव बनाने का कार्य करते हैं।

12.5.5 मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य

मंत्रिपरिषद का प्रमुख कार्य राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श प्रदान करना है। नीति एवं कार्यक्रम का निर्माण करना जिससे देश का संचालन किया जा सके तथा परस्पर विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों के मध्य निर्देशन, नियंत्रण और संतुलन को स्थापित करना है किन्तु फिर भी मंत्रिपरिषद के कार्यों को निम्नलिखित सन्दर्भों में समझा जा सकता है।

12.5.5.1 राष्ट्रीय नीति निर्धारण में राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श देना

मंत्रिपरिषद का सबसे प्रमुख कार्य राष्ट्र के लिये नीति का निर्धारण करना है तथा इस कार्य में राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श प्रदान करना है चूँकि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद का परामर्श मानने को बाध्य है, अतः वास्तविकता में यह सम्पूर्ण दायित्व मंत्रिपरिषद पर ही आ जाता है। यह मंत्रिपरिषद द्वारा ही तय किया जाता है। प्रशासन के आन्तरिक क्षेत्र में किस प्रकार की नीतियों का निर्माण किया जाये तथा वाह्य या वैदेशिक क्षेत्र में किस राष्ट्र के साथ कैसे सम्बन्ध विकसित किये जायें यह

निर्धारित करने का महत्वपूर्ण दायित्व मंत्रिपरिषद का ही है। नीति निर्धारित किये जाने के पश्चात् नीति से सम्बन्धित विधेयक तैयार कर संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कानून निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद की इच्छानुसार ही सम्पन्न किया जाता है।

12.5.5.2 राष्ट्रीय नीति को कार्यान्वित करना

सैद्धान्तिक दृष्टि से संघ की समस्त कार्यपालिकीय शक्ति राष्ट्रपति में निहित है किन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा प्रधानमंत्री के नेतृत्व में किया जाता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय नीति निर्माण में मंत्रिपरिषद की प्रमुख भूमिका होती है, उसी प्रकार संसद से पारित नीतियों को अपने अपने मंत्रालयों और विभागों द्वारा कार्यान्वित कराने का दायित्व भी मंत्रिपरिषद पर ही होता है। क्योंकि निर्धारित नीतियों को लागू करवाना ही कार्यपालिका का प्रमुख कार्य है। युद्ध, शान्ति या वैदेशिक नीति से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्णय मन्त्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है। अध्यादेश तथा प्रदत्त व्यवस्थापन ने भी मंत्रिपरिषद के अधिकार और कार्य बढ़ा दिये हैं। यूँ तो अध्यादेश राष्ट्रपति द्वारा जारी किया जाता है, किन्तु राष्ट्रपति इसे तभी जारी करता है जबकि मंत्रिपरिषद ऐसा करने के लिये परामर्श देती है, किसी भी मंत्रालय अथवा विभाग का शीर्षस्थ पदाधिकारी मंत्री होता है। अतः सम्बन्धित विभाग की नीतियों, कार्यक्रमों, योजनाओं, बजट तथा लक्ष्यों की पूर्ति के क्रम में समस्त निर्णय मंत्री द्वारा ही लिये जाते हैं।

12.5.5.3 मंत्रिपरिषद की समन्वयकारी की भूमिका

प्रशासनिक सुविधा के लिये सरकार के कार्योंको विभिन्न विभागों में बाँटा गया है। विभिन्न मंत्रालयों के अन्तर्गत विभिन्न विभाग भी कार्यरत होते हैं। अतः ऐसे में अच्छी शासन व्यवस्था स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न मंत्रालयों और उनके विभागों के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों में सामंजस्य बना रहे ताकि कार्यों में दुहराव, अनियमितता, जैसी समस्याओं से बचा जा सके। यह महत्वपूर्ण कार्य भी मंत्रिपरिषद द्वारा किया जाता है। सुशासन के लिये विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित होना नितान्त आवश्यक है। मंत्रिपरिषद का यह कार्य है कि वह विभिन्न विषयों में परस्पर उत्पन्न होने वाले मतभेदों और गतिरोधों को दूर कर प्रशासनिक कार्य को और सरल बनाये जिससे सभी कार्य सहयोग पूर्वक सम्पन्न हो सके। ऐसा इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि मंत्रिपरिषद सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करती है, इसलिये किसी एक के द्वारा की गयी गलती का प्रभाव सभी पर पड़ेगा अतः आवश्यक है कि मंत्रालयों और विभागों के मध्य सामंजस्य स्थापित कर ही कोई कार्य किया जाये।

12.5.5.4 वित्तीय कार्य

देश की आर्थिक नीति निर्धारित करने का महत्वपूर्ण दायित्व भी मंत्रिपरिषद के पास होता है। वह प्रत्येक वर्ष सरकार का बजट तैयार कर संसद में प्रस्तुत करती है। जिसमें सरकार के सम्भावित आय–व्यय का ब्यौरा होता है। बजट को संसद में प्रस्तुत करने का कार्य यद्यपि वित्त मंत्रालय का है तथापि इसे तैयार करने में सभी मंत्रालय की भूमिका होती

है, क्योंकि प्रत्येक मंत्रालय अपने–अपने क्षेत्र में अपने–अपने विभाग का अनुमानित आय और व्यय वित्त मंत्रालय को बना कर भेजता है तद्नुरुप सरकार की नीतियों को ध्यान में रखते हुये वित्त मंत्रालय द्वारा बजट तैयार किया जाता है और उसे वित्तमंत्री लोकसभा में प्रस्तुत करता है।

12.5.5.5 वैदेशिक सम्बन्धों पर नियंत्रण

मंत्रिपरिषद देश के परराष्ट्र सम्बन्धी सम्बन्धों को निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह कार्य मुख्यतः प्रधानमंत्री या विदेश मंत्री द्वारा परस्पर सहयोग से सम्पन्न किया जाता है। जब किसी राष्ट्र के साथ संधि या कोई समझौता किया जाना होता है तो विदेश मंत्री द्वारा संसद को इसकी सूचना दी जाती है तथा आवश्यक होने पर संसद से उसकी स्वीकृति भी प्राप्त की जाती है। वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में प्रायः संसद की भूमिका गौण ही होती है। समस्त निर्णय मंत्रिपरिषद (मुख्यतः कैबिनेट) द्वारा अथवा विदेश मंत्री और प्रधानमंत्री के परस्पर आपसी संज्ञान से ही लिये जाते हैं। कभी–कभी दूसरे देशों के साथ कुछ गुप्त संधि अथवा समझौते भी किये जाते हैं और इसकी सूचना भी संसद को नहीं दी जाती है।

12.5.5.6 नियुक्ति सम्बन्धी कार्य

संवैधानिक रुप से महत्वपूर्ण संवैधानिक पदों पर पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति की इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है। मंत्रिपरिषद के परामर्श से ही संसद के दोनों सदनों के मनोनीत सदस्यों का मनोनयन किया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक और सेना के सेनापतियों की नियुक्ति मंत्रिपरिषद के परामर्श से ही की जाती है।

12.5.5.7 विधायी कार्य

मंत्रिपरिषद विधि निर्माण के क्षेत्र में संसद का नेतृत्व करती है। व्यवस्थापन सम्बन्धी सभी कार्यक्रम मंत्रिपरिषद द्वारा ही तैयार किये जाते हैं। प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में मंत्रिपरिषद द्वारा ही इनके कार्यक्रम की रुपरेखा प्रस्तुत की जाती है। मंत्रिपरिषद के द्वारा ही सरकारी विधेयक प्रस्तावित किये जाते हैं तथा मंत्रिपरिषद ही यह निश्चित करता है कि संसद के किस अधिवेशन में कौन सा विधेयक प्रस्तावित किया जाना है। सदन में बहुमत के बल पर मंत्रिपरिषद प्रस्तावित विधेयकों को बड़ी सहजता से पास करवा लेती है। यूँ तो गैर सरकारी विधेयक भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु उनका पारित होना इस बात पर निर्भर करता है कि मंत्रिपरिषद का उन्हें समर्थन प्राप्त है, अथवा नहीं। अध्यादेश तथा प्रदत्त विधायन ने भी मंत्रिपरिषद के कार्यों का विस्तार किया है और उसकी विधायी शक्तियाँ बढ़ा दी हैं। यद्यपि अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है। किन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है।

12.5.5.8 विकास सम्बन्धी कार्य

आधुनिक राज्य लोककल्याणकारी तथा लोकतन्त्रात्मक भावनाओं पर आधारित होते हैं। भारत में भी इसी को अपनाया गया है। लोककल्याणकारी राज्य सरकार के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि कर देता है। मंत्रिपरिषद को जनहित में नीतियों का निर्माण तथा योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ता है। इससे मंत्रिमण्डल का कार्य बढ़ जाता है क्योंकि समस्त राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिये मंत्रिपरिषद ही प्रमुख रुप से उत्तरदायी होती है। विकास के साथ समाज कल्याण उन्मुखी योजनाओं को निर्मित करना मंत्रिपरिषद का प्रमुख लक्ष्य होता है। मनरेगा, खाद्य सुरक्षा बिल, विधवा पेन्शन योजना, आदि कुछ ऐसी ही योजनाएँ हैं। जिन्हें सरकार ने जनहित में लागू किया है। जिनका लक्ष्य गरीबी निवारण, रोजगार, असहायों की मदद करना है। इसी के साथ शिक्षा, पेयजल, यातायात, खाद्यान्न, ऊर्जा तथा स्वास्थ्य आदि के विषय में नीति निर्माण करना और योजनायें चलाना मंत्रिपरिषद का नैतिक दायित्व भी है।

बोध प्रश्न–3

टिप्पणीः (1) कृपया नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाकर देखिये।

(1) मंत्रिपरिषद का गठन किस प्रकार होता है?

.....

.....

(2) मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल में अन्तर?

.....

.....

(3) मंत्रिपरिषद के प्रमुख कार्य क्या हैं?

.....

.....

12.6 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री का पद अति महत्वपूर्ण तथा शासन की धुरी के समान है। प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होता है। शासन का सम्पूर्ण कार्य प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता है। मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है। एक शक्तिशाली सरकार और मजबूत प्रधानमंत्री ही राष्ट्र को विकास के मार्ग पर आगे ले जा सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद स्थायित्व के साथ एक सशक्त सरकार

का निर्माण करे। विगत वर्षों में अस्थायित्व के साथ अनेक उतार–चढ़ाव विभिन्न सरकारों के समक्ष आते रहे, किन्तु फिर भी संवैधानिक मर्यादाओं का पालन करते हुये लोकतांत्रिक मूल्यों के स्थापित करने में प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद ने अमूल्य योगदान दिया है।

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

– दुर्गादास बसु, 2013, प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

– फण्डामेन्ट्लस ऑफ इण्डियान पोलिटिकल सिस्टम, राजेश कुमार झा, (संपादक), पिर्यशन, दिल्ली।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–(1)

(1) भाग 12.2.3 देखिये।

(2) भाग 12.2.1 देखिये।

(3) भाग 12.2.3 देखिये।

बोध प्रश्न–(2)

(1) भाग 12.3 देखिये।

(2) भाग 12.3.3 देखिये।

(3) भाग 12.4 देखिये।

(4) भाग 12.4 देखिये।

बोध प्रश्न–(3)

(1) भाग 12.5 और 12.5.1 देखिये।

(2) भाग 12.5.5 देखिये।

(3) भाग 12.5.6 देखिये।

इकाई 13

राज्य सरकारें: राज्यपाल और मंत्रिपरिषद्

इकाई की रुपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 राज्यपाल

13.2.1. नियुक्ति

13.2.2. पदावधि

13.2.3. योग्यताएँ

13.2.4. वेतन एवं भत्ते

13.2.5. उन्मुक्तियाँ

13.3 राज्यपाल की शक्तियाँ

13.3.1. कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ

13.3.2. व्यवस्थापिका संबंधी शक्तियाँ

13.3.3. वित्तीय शक्तियाँ

13.3.4. न्यायिक शक्तियाँ

13.3.5. आपातकालीन शक्तियाँ

13.3.6. स्वविवेकीय शक्तियाँ

13.4 राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् का संबंध

13.5 राज्यपाल की भूमिका

13.5.1. संवैधानिक प्रधान के रुप में

13.5.2. केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्यपाल के लिए भारतीय संविधान में दी गई व्यवस्थाओं के साथ ही उसके द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए गए कार्यों को बताया जाएगा। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- **राज्यपाल की नियुक्ति, पदावधि, योग्यताएं, परिलब्धियां एवं उन्मुक्तियों के संबंध में संविधान में दी गई व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे**
- **राज्यपाल की विभिन्न प्रकार की शक्तियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।**
- **राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे।**
- **राज्यपाल की भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।**

13.1 प्रस्तावना

हमारे संविधान के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि भारत अर्थात इण्डिया राज्यों का संघ होगा। भारतीय संघ 28 राज्यों और 7 केन्द्र शासित प्रदेशों से मिलकर बना है। भारत ने संघ–संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया है। इन 28 राज्यों में से सिर्फ एक राज्य जम्मू–काश्मीर का अपना अलग संविधान है, शेष सभी राज्यों के लिए एक ही संविधान है। वर्तमान में केवल पाँच राज्यों (बिहार, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश) में द्वि–सदनात्मक विधान मण्डल हैं अर्थात विधान मण्डल में दो सदन हैं। केन्द्र में संसदीय शासन प्रणाली को लागू किया गया है। इस शासन प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता दोहरी कार्यपालिका का होना है, एक, नाममात्र की कार्यपालिका तथा दूसरी, वास्तविक कार्यपालिका। केन्द्र में राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यपालक तथा मंत्रिपरिषद् (प्रधानमंत्री सहित) वास्तविक कार्यपालक होती है। केन्द्र की भाँति जम्मू–काश्मीर सहित सभी राज्यों में संविधान द्वारा संसदीय शासन प्रणाली को लागू किया गया है, जिसमें राज्यपाल नाममात्र का कार्यपालक तथा मंत्रिपरिषद् (मुख्यमंत्री सहित) वास्तविक कार्यपालक होता है। इस तरह हम देखते हैं कि केन्द्र में जो स्थिति राष्ट्रपति की है लगभग वही स्थिति राज्यों में राज्यपाल की है तथा केन्द्र में जो स्थिति प्रधानमंत्री की है वही स्थिति राज्यों में मुख्यमंत्री की है। राज्यपाल का पद अत्यधिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान का पद है। राज्यपाल के पद पर पदासीन व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं उसकी कार्यप्रणाली राज्य के शासन को प्रभावित करती है। राज्य में जब सामान्य स्थिति अर्थात बहुमत की सरकार है तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल नाममात्र का शासनाध्यक्ष होता है। किन्तु राज्य में जब असामान्य स्थिति अर्थात राजनीतिक अस्थिरता या किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में राज्याध्यक्ष (राज्यपाल) की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है और राज्यपाल अपने स्वविवेकी शक्तियों का उचित ढ़ंग से प्रयोग कर स्थिरता लाता है। एम0वी0 पायली ने ठीक ही कहा है कि ''राज्यपाल मंत्रिमण्डल का सूझ–बूझ वाला परामर्शदाता है जो राज्य की अशांत राजनीति में शांत वातावरण पैदा कर सकता है।'' लेकिन कुछ राज्यपालों ने हाल के वर्षों में अपनी शक्तियों का मनमाने एवं विवादास्पद तरीके से तथा दलीय राजनीति से प्रभावित होकर या किसी दल को लाभ पहुँचाने हेतु प्रयोग किया है, जिसकी वजह से यह पद विवादों के घेरे में रहा है। इससे इस पद की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि कुछ राजनीतिक दलों ने तो इस पद के औचित्य पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया तथा कुछ ने तो इस पद को ही समाप्त

करने की माँग तक कर डाली। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि संविधान को दृष्टिगत रखते हुए राज्यपाल के पद, शक्तियाँ एवं कार्य का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विस्तृत अध्ययन किया जाए।

13.2 राज्यपाल

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है और सभी राज्यों में कार्यपालिका का अध्यक्ष भी राज्यपाल ही होता है। संवैधानिक प्रमुख होने के नाते उसे केन्द्र तथा राज्य के मध्य सेतु या कड़ी के रुप में कार्य करना पड़ता है। इसके साथ ही वह राज्य में केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में भी कार्य करता है। यह संविधान के संरक्षक के रुप में प्रमुख भूमिका अदा करता है।

13.2.1. नियुक्ति

संविधान सभा द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में चार वैकल्पिक विधियों का सुझाव दिया गया था जो निम्नलिखित हैं–

1. वयस्क मताधिकार द्वारा चुनाव।
2. विधायिका के दोनों सदनों द्वारा चुनाव।
3. विधायिका द्वारा तैयार की गई सूची में से राष्ट्रपति द्वारा चयन।
4. राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति।

संविधान सभा ने राज्यपाल के चुनाव हेतु उपरोक्त विधियों पर गहनता से विचार विमर्श करने के पश्चात् यह निर्णय लिया कि राज्यपाल को राष्ट्रपति के द्वारा ही नियुक्त किया जाना उचित होगा जो भारतीय संघीय व्यवस्था को बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। संविधान सभा ने वयस्क मताधिकार द्वारा चुनाव के विकल्प को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि यदि राज्य में राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री दोनों प्रत्यक्ष निर्वाचित होते हैं तो उनमें टकराव की अत्यधिक संभावना थी। **दूसरे** विकल्प को इसलिए खारिज कर दिया गया क्योंकि ऐसा होने से राज्यपाल राजनीतिक दलों के हाथ की कठपुतली बन जाता तथा अपने पूरे कार्यकाल में शासक दल को ही खुश रखने में व्यस्त रहता। **तीसरे** वैकल्पिक विधि का इस वजह से विरोध एवं इसे अस्वीकार किया गया क्योंकि यदि राष्ट्रपति सूची में से दूसरे, तीसरे या चौथे व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करता है तो राज्य विधायिका को यह शिकायत रहेगी कि प्रथम व्यक्ति की अनदेखी कर उसे नियुक्त किया गया है। सभी प्रस्तावों पर खुली बहस के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल की नियुक्ति के लिए **चौथी** वैकल्पिक विधि को बहुमत से स्वीकार कर लिया, जो उचित एवं राष्ट्र हित में भी है। अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया के संघीय संविधानों में संघ की इकाईयों (राज्यों) का अध्यक्ष निर्वाचित होता है। किन्तु इसके विपरित कनाडा की संघीय व्यवस्था में राज्यपाल संघ सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 155 में यह व्यवस्था है कि ''किसी राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा।'' अर्थात राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वास्तव में यह नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के परामर्श के आधार पर ही राष्ट्रपति करता है। राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में सामान्यतः दो परम्पराएं हैं– **पहला**

यह कि नियुक्ति से पहले राष्ट्रपति संबंधित राज्य सरकार (मुख्यमंत्री) से मशवरा लेता है ताकि नियुक्त व्यक्ति राज्य मंत्रिपरिषद को मान्य एवं स्वीकार्य हो। यह अच्छी परम्परा है किन्तु इसका कई बार अतिक्रमण कर नियुक्तियाँ की गई हैं। **दूसरी** परम्परा यह है कि राज्यपाल पद पर नियुक्त होने वाला व्यक्ति संबंधित राज्य के बाहर का होता है। यह भी एक स्वस्थ परम्परा है क्योकि उस पद पर नियुक्त व्यक्ति की स्थानीय राजनीतिक पहचान नहीं होगी और वह राज्य स्तरीय राजनीति से अछूता रहेगा। लेकिन कुछ मामलों में इस परम्परा का भी उलंघन किया गया है जैसे कर्ण सिंह को काश्मीर, उज्जवल सिंह को पंजाब, एच0सी0 मुखर्जी को पश्चिम बंगाल, वसंतदादा पाटिल को महाराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

प्रथम प्रशासनिक आयोग ने यह सुझाव दिया था कि राज्यपाल ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए जो दलों के प्रति पूर्वाग्रह तथा पूर्वस्नेह से ऊपर हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राज्यपाल उस व्यक्ति को नियुक्त किया जाय जो राजनीति की मुख्यधारा से बहुत पहले अलग हो चुका हो या राजनीति से सन्यास ले चुका हो। लेकिन अफसोस की बात है कि राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति विगत कई वर्षों से इन मान्यताओं की अनदेखी करके की गई है। भारतीय संघ के सभी राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति पर दृष्टिपात या अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि इस पद पर दल के प्रति स्वामीभक्त हारे हुए प्रत्याशियों को केन्द्र सरकार राज्यपाल नियुक्त करता रहा है, तो कुछ राज्यों के मुख्यमंत्रियों को पद से हटाकर राज्यपाल नियुक्त किया गया ताकि आने वाले को उनकी जगह मिल सके। कुछ राजनीतिक दल के करीबी प्रशासकों को सेवानिवृति के पश्चात् राज्यपाल नियुक्त किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि राज्यपाल के पद को केन्द्र ने अपने हित में तथा लोगों को उपहार में प्रदान कर संतुष्ट करने का एक जरिया बना दिया है जिससे ऐसी स्थिति में यदा–कदा विवाद उठते रहते हैं जो चिन्ताजनक हैं। अतः निश्चित रुप से यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के द्वारा उसकी शक्तियों एवं विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसंगत एवं दक्षतापूर्ण ढ़ंग से करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्यपाल के पद पर ईमानदार, उच्च आचरण, निष्ठावान, खुले मस्तिष्क तथा भारतीय संविधान के प्रति प्रतिबद्धता रखने वाले व्यक्तिों की नियुक्ति की जाए।

13.2.2. पदावधि

आमतौर पर राज्यपाल की पदावधि पदभार ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष की होती है। किन्तु इस अवधि से पूर्व भी राज्यपाल राष्ट्रपति को संबोधित अपना त्याग–पत्र देकर पद छोड़ सकता है या राष्ट्रपति उसे कार्यकाल पूरा होने से पहले ही हटा सकता है। क्योंकि अनु0 156 (1) में व्यवस्थ की गई है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही पद धारण करेगा, अर्थात राज्यपाल राष्ट्रपति की इच्छा पर अपने पद पर बना रहेगा। राष्ट्रपति एक राज्य के राज्यपाल को दूसरे राज्य में स्थानांतरित कर सकता है जहाँ वह शेष अवधि तक कार्य करेगा। किसी व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। जिस राज्य के राज्यपाल की पदावधि समाप्त हो गई है तो उसे उसी राज्य में दोबारा या किसी अन्य राज्य में राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। संविधान द्वारा किसी व्यक्ति को एक से अधिक बार राज्यपाल नियुक्त किए जाने के बारे में कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया है। राज्य में राज्यपाल के नहीं होने पर राष्ट्रपति द्वारा राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को कार्यकारी राज्यपाल बनाया जा

सकता है। राज्यपाल को उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश शपथ दिलाता है, यदि मुख्य न्यायाधीश न हो तो उच्च न्यायालय वरिष्ठ न्यायाधीश दिलाएगा।

13.2.3. योग्यताएँ

किसी व्यक्ति को राज्यपाल बनने के लिए या राज्यपाल पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ निम्नलिखित हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह कम से कम 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
3. वह संघ अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर पदासीन अथवा कार्यरत न हो।
4. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल या दिवालिया घोषित न किया गया हो।
5. वह संघ तथा राज्य विधान मण्डल का सदस्य न हो। यदि राज्य विधान मण्डल के सदस्य को राज्यपाल नियुक्त किया जाता है तो नियुक्ति की तिथि से ही उस सदस्य का राज्य विधान मण्डल में वह पद रिक्त माना जाएगा।

13.2.4. वेतन एवं भत्ते

राज्यपाल को अपने पद–ग्रहण की तिथि से वे सारी सुविधाएं प्रदान की जाती हैं जो संसद द्वारा अभिनिर्धारित या स्वीकृत एवं अधिनियमित की गयी हैं। राज्यपाल वे सभी परिलब्धियों का हकदार होगा जो इस संविधान के प्रारम्भ के ठीक पहले प्रांतीय गवर्नर को प्राप्त थीं। वतर्मान में राज्यपाल का मासिक वेतन 1. 10 लाख रुपए है इसके साथ ही निःशुल्क सरकारी आवास, आने–जाने, चिकित्सा तथा अन्य सुविधएँ प्राप्त होती हैं। राज्यपाल के वेतन एवं भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होता है। संसद को अधिकार है कि वह समय–समय पर राज्यपाल के वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाओं हेतु कानून का निर्माण कर सकती है। राज्यपाल के कार्यकाल के दौरान (वित्तीय आपात को छोड़कर) पर उसके वेतन, भत्तों, आदि में कोई कमी अथवा कटौती नहीं की जा सकती है।

13.2.5. उन्मुक्तियाँ

राज्यपाल पद की प्रतिष्ठा व मर्यादा बनाए रखने के लिए संविधान द्वारा राज्यपाल को कुछ उनमुक्तियाँ प्रदान की गई हैं। अनु0 361 के उपबंध के अनुसार राज्यपाल को अपने पद की शक्तियों का प्रयोग एवं कर्तव्यों के पालन के लिए न तो बाध्य किया जा सकता है और न ही रोका जा सकता है। राज्यपाल अपने कार्यकाल के दौरान अपने पद से संबंधित शक्तियों के प्रयोग एवं किए गए कार्य के लिए किसी न्यायालय में उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता अर्थात उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता है। उसे पद पर रहते न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न ही बंदी बनाया जा सकता है। कार्यकाल के दौरान राज्यपाल पर व्यक्तिगत रुप से किए गए किसी कार्य के विरुद्ध दो माह की सूचना देकर सिविल(दीवानी) कार्यवाही की जा सकती है। राज्यपाल राज्य विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होता है और जब राज्यपाल कुलाधिपति की हैसियत से कोई कार्य करता है तो उसे संविधान द्वारा कोई

उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। संविधान ने जो उन्मुक्तियाँ दी हैं वह केवल राज्यपाल के रुप में किए गए कार्य के लिए है न कि कुलाधिपति के लिए।

बोध प्रश्न 1–

नोट– 1. अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. नीचे दिए गए कथनों पर सही गलत का निशान लगाइए।

क. केन्द्र में राष्ट्रपति की भांति राज्यों में राज्यपाल निर्वाचित किया जाता है।(सही/गलत)

ख. राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।(सही/गलत)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

क. राज्यपाल बनने के लिए न्यूनतम् ..... आयु होनी चाहिए।

ख. राज्यपाल ..... के प्रसादपर्यन्त पद पर बना रहता है।

13.3 राज्यपाल की शक्तियाँ

संविधान द्वारा राज्यपाल को जो शक्तियाँ एवं कर्तव्य प्रदान किए गए हैं उनको 6 भागों (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, वित्तीय, आपातकालीन, न्यायिक एवं स्वविवेकी) में विभाजित किया जा सकता है और हम यहाँ पर एक–एक करके सभी शक्तियों की चर्चा करेंगे।

13.3.1. कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ

चँकि राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उस सीमा तक है, जहाँ तक कि राज्य विधायिका को कानून बनाने का अधिकार है। संविधान द्वारा राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राज्यपाल में निहित की गईं हैं। इन शक्तियों का प्रयोग वह स्वयं या फिर अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। कार्यपालिका के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से सम्पादित किए जाते हैं। अनु0 163 (1) के अनुसार राज्यपाल को सहायता एवं सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जाती है। मुख्यमंत्री का यह दायित्व है कि समय–समय पर वह राज्य प्रशासन के संचालन तथा मंत्रिपरिषद के निर्णयों से राज्यपाल को अवगत कराए। राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह शासन एवं प्रशासन संबंधी कोई भी सूचना मुख्यमंत्री से मांग सकता है और मुख्यमंत्री सूचना देने से मना नहीं कर सकता। राज्यपाल एक मंत्री द्वारा लिए गए निर्णय को संपूर्ण मंत्रिपरिषद के समक्ष विचार के लिए रखने को कह सकता है। राज्य सरकार के सुचारु संचालन एवं मंत्रियों के कार्य वितरण हेतु वह नियम निर्माण कर सकता है। राज्यपाल ही राज्य के उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता है जैसे राज्य का महाधिवक्ता (अनु0 161), लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य (अनु0 316),, पी0सी0एस0 एवं पी0पी0एस0 अधिकारियों आदि। इसके साथ ही राज्यपाल ही लोकायुक्त, राज्य

निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति (अनु0 243 ट), एवं राज्य वित्त आयोग का गठन भी करता है (अनु0 243 झ)।

13.3.2. व्यवस्थापिका संबंधी शक्तियाँ

राज्य की व्यवस्थापिका को राज्य विधान मंड़ल भी कहा जाता है। राज्यों के विधान मण्डलों का गठन राज्यपाल, विधान सभा एवं विधान परिषद् (जहाँ द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका है) से मिल कर होता है और जहाँ एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है वहाँ राज्यपाल और विधान सभा को मिलाकर बनता है (अनु0 168)। संविधान के अनु0 175–176 के अनुसार राज्यपाल को विधान मण्डल में अभिभाषण देने की शक्ति प्राप्त है, जिसके तहत निर्वाचन के पश्चात् नव–गठित विधान मण्डल की प्रथम बैठक एवं प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र का आरम्भ राज्यपाल के अभिभाषण से होता है। यदि व्यवस्थापिका द्वि–सदनात्मक है तो राज्यपाल दोनों सदनों को एक साथ या अलग–अलग भी संबोधित कर सकता है। राज्यपाल का अभिभाषण सरकार द्वारा तैयार किया जाता है। राज्यपाल के अभिभाषण में सामान्यतः सरकार के लक्ष्यों, नीतियों एवं उपलब्धियों का उल्लेख होता है। राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद 174 के अधीन राज्य के विधान मण्डल के अधिवेशन को आहूत करने, सत्रावसान करने के साथ ही साथ विधान सभा को विघटित अथवा भंग करने की शक्ति प्राप्त है। राज्य विधान सभा में यदि एंग्लो इण्डियन समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं है तो राज्यपाल इस समुदाय से एक व्यक्ति तथा राज्य विधान परिषद के 1/6 ऐसे सदस्यों को मनोनीत करता है, जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन और समाज सेवा में विशेष ज्ञान व अनुभव हो। राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है (अनु0 213)। राज्यपाल के अध्यादेश जारी करने की शक्ति का विस्तार राज्य विधान मण्डल को कानून बनाने की शक्ति तक है। अध्यादेश का वही प्रभाव होता है जो व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी कानून का। अध्यादेश को व्यवस्थापिका के सत्र में आने के छः सप्ताह से पूर्व व्यवस्थापिका से स्वीकृत होना आवश्यक है यदि व्यवस्थापिका इसे स्वीकृत कर लेती है तो यह कानून का रुप धारण कर लेता है अन्यथा इस अवधि की समाप्ति पर अध्यादेश स्वतः समाप्त हो जाएगा या राज्यपाल इस अवधि से पूर्व वापस ले ले या व्यवस्थापिका इस अवधि से पूर्व अस्वीकार कर दे तो समाप्त हो जाएगा। व्यवस्थापिका को संदेश भेजने की शक्ति भी राज्यपाल को प्राप्त है, ऐसे में राज्यपाल द्वारा भेजे गए संदेश पर व्यवस्थापिका द्वारा विचार किया जाना अतिआवश्यक हो जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोकने की शक्ति भी राज्यपाल को प्राप्त है। राज्यपाल व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों पर अपनी सहमति प्रदान करके अथवा हस्ताक्षर करके कानून का निर्माण करता है क्योंकि कोई भी विधेयक राज्यपाल के हस्ताक्षर के बिना कानून बन ही नहीं सकता। क्योंकि राज्यपाल व्यवस्थापिका का अभिन्न अंग होता है ऐसे में सदन/सदनों द्वारा विधेयक तो पारित किया जा सकता है किन्तु जब तक राज्यपाल विधेयक पर सहमति प्रदान नहीं कर देता तब तक विधेयक पारित नहीं माना जा सकता। व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक को राज्यपाल की स्वीकृति मिलने के बाद कानून कहा जाता है।

13.3.3. वित्तीय शक्तियाँ

राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी दी गई हैं। संविधान के अनु0 202 में कहा गया है कि राज्यपाल प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिए अनुमानित ''वार्षिक वित्तीय विवरण'' विधान मण्डल के सदन या सदनों के समक्ष रखवाएगा। ''वार्षिक

वित्तीय विवरण'' को बजट कहा जाता है। कोई भी धन विधेयक राज्यपाल की पूर्व–अनुमति के बिना विधान सभा में प्रस्तुत नहीं की जा सकती, अर्थात राज्यपाल की अनुमति मिलने पर ही धन विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत किया जा सकता है अन्यथा नहीं। सामान्यतः राज्यपाल धन विधेयक पर अपनी सहमति प्रदान कर ही देता है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित धन विधेयक को राज्यपाल पुनर्विचार के लिए वापस नहीं कर सकता। अनु0 205 में उपबंध है कि राज्यपाल ही राज्य व्यवस्थापिका के सदन या सदनों में अनुपूरक एवं अतिरिक्त अनुदान की माँगों को रखवाएगा। अनु0 243 झ में व्यवस्था है कि राज्यपाल एक राज्य वित्त आयोग का गठन करेगा जो स्थानीय शासन की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करेगा और अपनी सिफारिशें राज्यपाल को सौंपेगा। राज्यपाल इन सिफारिशों को तथा इस संबंध में की गई कार्यवाही सहित राज्य व्यवस्थापिका के सदन या सदनों में रखवाएगा। राज्य की आकस्मिक निधि राज्यपाल के अधीन होती है और उसकी अनुमति के बिना इस निधि से कोई भी व्यय नहीं किया जा सकता है। वह व्यवस्थापिका की स्वीकृति की अपेक्षा में इस निधि से व्यय की अनुमति दे सकता है।

13.3.4. न्यायिक शक्तियाँ

संविधान द्वारा राज्यपाल को पूर्ण रुप से कोई भी न्यायिक कार्य नहीं प्रदान किया गया है। न्यायिक कार्य करने का दायित्व तो न्यायालयों का है। फिर भी संविधान में कुछ ऐसे उपबंध हैं जिससे राज्यपाल को न्यायिक क्षेत्र में कुछ शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उच्च न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति तो राष्ट्रपति द्वारा की जाती है किन्तु उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश की नियुक्ति करते वक्त संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श लिया जाता है (अनु0 217)। राज्यपाल ही उच्च न्यायलय के न्यायधीशों को शपथ दिलाता है (अनु0 219)। अनु0 233 के अनुसार जिला न्यायधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन, तथा पदोन्नति राज्य का राज्यपाल उस राज्य के उच्च न्यायलय से परामर्श करके करता है। राज्यपाल ही प्रान्तीय न्यायिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति करता है।

संविधान का अनु0 161 के अनुसार राज्यपाल को राज्य सरकार द्वारा बनाए गए किसी कानून के उलंघन के अपराध में मिले दण्ड़ को क्षमा, प्रविलंबन, विराम या परिहार करने की अथवा दण्डादेश के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। मृत्युदण्ड एवं सैनिक न्यायलय द्वारा मिले दण्ड को क्षमादान करने की शक्ति राज्यपाल को नहीं प्राप्त है किन्तु मृत्युदण्ड के प्रविलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति राष्ट्रपति के समान ही राज्यपाल को प्राप्त है।

चूंकि न्यायालयों में न्यायिक कार्यों का संपादन मनुष्य द्वारा ही किया जाता है जिनसे भूलें हो सकती हैं इसीलिए संभावित न्यायिक भूलों को सुधारने के उद्देश्य से ही राष्ट्रपति या राज्यपाल को क्षमा दान की शक्ति प्रदान की गई है।

13.3.5. आपातकालीन शक्तियाँ

संविधान ने आपातकालीन शक्तियाँ अर्थात आपातकाल की घोषण करने की शक्ति (अनु0 352, 356, 360) राष्ट्रपति को प्रदान की गई है। किन्तु राज्य में अनु0 356 का प्रयोग राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्य में संवैधानिक तंत्र के विफल या असफल हो जाने पर ही राज्यों में अनु0 356 का प्रयोग किया जाता है। राज्यपाल को यह विश्वास हो जाए कि राज्य में संविधान के अनुसार शासन का संचालन नहीं हो रहा है या ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई

है जिससे राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो वह इस संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजता है, जिसके आधार पर राष्ट्रपति राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करता है। जम्मू–काश्मीर के राज्यपाल के अलावा किसी राज्य के राज्यपाल को आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। जम्मू–काश्मीर के संविधान के अनु0 92 में राज्यपाल को आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति प्राप्त है और यहाँ का राज्यपाल आपातकाल की घोषणा करके राज्य में राज्यपाल शासन लागू कर सकता है।

13.3.6. स्वविवेकीय शक्तियाँ

संविधान ने राष्ट्रपति को स्वविवेकीय शक्ति प्रदान नहीं की हैं किन्तु राज्यपाल को कुछ स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की हैं। सामान्यतः राज्यपाल मंत्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करता है परन्तु ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है या मंत्रिपरिषद और उसके बीच किसी मामले पर मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो ऐसे में राज्यपाल अपने विवेक से कार्य करता है। राज्यपाल स्वविवेकीय शक्ति के प्रयोग हेतु मंत्रिपरिषद की सलाह लेने या मानने के लिए बाध्य नहीं है। राज्यपाल अपने विवेक से कार्य केवल उन्ही विषयों में करता है जिसमें उसे ऐसा करने को कहा गया हो जैसे संविधान की अनुसूची 6 के अनु0 9 (2) और 18 (3) और अनु0 371 क(I)(ख) एवं 371 क (I) (घ), 371 (2) ख, 371 (2) च, आदि में राज्यपाल को स्वविवेक का प्रयोग करने हेतु स्पष्ट उल्लेख किया गया है। लेकिन कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिसमें राज्यपाल परिस्थितियों के अनुसार अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है, जिसका संविधान में स्पष्ट रुप से उल्लेख नहीं है जैसे नव–निर्वाचित विधान सभा में जब किसी दल को स्पष्ट वहुमत नहीं मिला हो तो ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री की नियुक्ति, विधान सभा को भंग करना, उन पस्थितियों में जब मंत्रिपरिषद की सलाह पक्षपातयुक्त हो या जहाँ मंत्रिपरिषद को सलाह देने का अधिकार नहीं है, राज्यों में राष्ट्रपति शासन (अनु0 356) लगाने की सिफारिश करना, मंत्रिमंडल को बर्खास्त करना आदि।

सरकारिया आयोग ने यह सिफारिश की है कि– अपने विवेकानुसार अंतिम विनिश्चय करने के पहले यह श्रेयकर होगा कि राज्यपाल यदि संभव हो तो अपने मंत्रियों से परामर्श करे। ऐसे मामले में भी जो सारवान रुप से राज्य के प्रशासन से संबंधित है।

यह भी सही है कि राज्यपाल की शक्तियों में से सबसे ज्यादा विवाद इसकी स्वविवेकीय शक्ति के प्रयोग करने को ले कर रहा है जिसका अध्ययन आगे इसी इकाई में राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के संबंध के अंतर्गत किया गया है।

राज्यपाल के पास उपरोक्त शक्तियों के अलावा कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं जैसे–राज्य से संबंधित भारत का नियंत्रक एवं महालेख परीक्षक की रिर्पोट, राज्य लोक सेवा आयोग की वार्षिक रिर्पोट और राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों को प्राप्त करना तथा इन रिर्पोटों को राज्य व्यवस्थापिका में रखवाना। राज्य में राष्ट्रपति शासन की स्थिति में वह राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रुप में शासन कार्य करता है।

बोध प्रश्न 2–

नोट– 1. अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. नीचे दिए गए कथनों पर सही गलत का निशान लगाइए।

   क. संविधान द्वारा राज्यपाल को दी गई शक्तियों का प्रयोग स्पीकर करता है।(सही/गलत)

   ख. राज्य में राष्ट्रपति शासन की स्थिति में राज्यपाल राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रुप में कार्य करता है।(सही/गलत)

2. राज्य सरकार में राज्यपाल के महत्व को बताइए।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

3. राज्यपाल की कार्यपालिका संबंधी शक्तियों का उल्लेख कीजिए।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

13.4 राज्यपाल और मंत्रिपरिषद का संबंध

हम बता चुके हैं कि संविधान में राज्यपाल को सलाह–मशवरा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद के गठन की व्यवस्था की है जिसका प्रधान या मुखिया मुख्यमंत्री होता है। सामान्य परिस्थितियों में तो राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करता है, जो संसदीय प्रणाली का एक नियम है। किन्तु विषम परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य न करके अपने विवेक से निर्णय लेता है। इन परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करे यह आवश्यक नहीं है क्योंकि परिस्थितियों के अनुसार राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग करने का अधिकार है।

जैसा उल्लेख किया जा चुका है, कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है और मंत्रिपरिषद का गठन भी राज्यपाल ही करता है किन्तु मुख्यमंत्री के परामर्श पर ऐसा करता है। आमतौर पर राज्यपाल विधान सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। जब किसी राजनीतिक दल को विधान सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को मुख्यमंत्री की नियुक्ति करना आसान और औपचारिकता मात्र होता है। लेकिन निर्वाचन के बाद जब त्रिशंकू विधान सभा की स्थिति में अर्थात विधान सभा में किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने की स्थिति में राज्यपाल अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है। जब हम अस्पष्ट बहुमत की स्थितियों में राज्यपालों की कार्यप्रणाली या स्वविवेकीय शक्तियों

के प्रयोग के तरीके पर नजर डालते हैं तो हम देखते हैं कि विभिन्न राज्यों के राज्यपालों ने एक समान परिस्थिति में भी अलग–अलग कार्य किया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राज्यपालों ने समान परिस्थितियों में एक समान तरीका न अपना करके अलग–अलग तरीके अपनाए हैं। जैसे अस्पष्ट बहुमत की दशा में किसी राज्य के राज्यपाल ने विधान सभा के निर्वाचन में सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया या मुख्यमंत्री नियुक्त किया, जबकि गठबंधन के नेता को जिसे बड़े दल से ज्यादा विधायकों का समर्थन हासिल था के दावे को नकार दिया गया। उदाहरणस्वरुप 1967 में राजस्थान विधान सभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला तो तत्कालीन राज्यपाल डॉ0 संपूर्णानन्द ने सबसे बड़े दल कांग्रेस के नेता श्री एम0एल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए बुलाया जबकि इससे अधिक सदस्यों की समर्थन वाली संयुक्त मोर्चे के दावे को अस्वीकार कर दिया। कुछ ऐसा ही 1951 में मद्रास राज्य में, 1982 में हरियाणा राज्य में भी किया गया था। ऐसा अधिकतर तब देखने को मिला जब केन्द्र में उसी दल की सरकार सत्तारुढ़ थी जिस दल को राज्य में सरकार बनाने के लिए बुलाया गया था।

त्रिशंकू विधानसभा की स्थिति में ही कुछ राज्य के राज्यपालों ने सरकार बनाने हेतु विधान सभा में सबसे बड़े राजनीतिक दल के दावे को नकारते हुए गठबंधन दल के नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाया। उदाहरणस्वरुप 1966 में केरल के विधान सभा चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी सबसे बड़े दल के रुप में उभर कर आया किन्तु उसे सरकार बनाने के लिए नहीं बुलाया गया। कुछ इसी प्रकार अन्य राज्यों में 1967 में पंजाब में, 1968 में बिहार में, 1970 में पश्चिम बंगाल और 1978 में महाराष्ट्र आदि में भी विधान सभा में बड़े दल की अवहेलना कर गठबंधन दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया ।

कुछ राज्यों के राज्यपालों ने उपरोक्त परिस्थितियों में किसी को सरकार बनाने के लिए न बुलाकर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की, तो कुछ राज्यों के राज्यपालों ने सरकार बनाने के आमंत्रण से पहले समर्थित सदस्यों की सूची मांग कर स्वयं को संतुष्ट करना चाहा, तो किसी राज्यपाल ने विधायकों का परेड कराया तो कभी व्यक्तिगत रुप से समर्थित विधायकों का साक्षात्कार तक भी लिया है।

यदि पूर्ण बहुमत वाला राजनीतिक दल अपना नेता ऐसे व्यक्ति को चुनता है जो विधान सभा का सदस्य नहीं है तो ऐसी स्थिति में संविधान के अनुच्छेद 164 (4) में प्रावधान है कि उसे मुख्यमंत्री नियुक्त किया जा सकता है किन्तु शर्त यह है कि 6 माह के अंदर विधान मण्डल की सदस्यता ग्रहण करना होगा अन्यथा इस अवधि के बाद पद त्यागना पड़ेगा। यदि दल ऐसे व्यक्ति को अपना नेता चुनता है जो विधान मण्डल की सदस्यता के लिए अयोग्य हो या अयोग्य घोषित किया जा चुका है तो राज्यपाल ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करने से मना कर सकता है।

उपरोक्त परिस्थितियों में राज्यपालों के विवादास्पद निर्णयों के संदर्भ में विधि विशेषज्ञों का मानना है कि राज्यपाल को निम्नलिखित का पालन करना चाहिए–

1. चुनाव–पूर्व बने गठबंधन के नेता को बुलाना
2. बड़े दल के नेता को बुलाना

3. निर्वाचन के बाद बने गठबंधन के नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाया जाना चाहिए।

मंत्रिपरिषद सामूहिक रुप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्री राज्यपाल की इच्छा पर पद पर बने रहते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि राज्यपाल विधान सभा के प्रति उत्तरदायी एवं बहुमत वाली मंत्रिपरिषद को स्वेच्छा से भंग कर सकता है। यहाँ प्रसादपर्यन्त का आशय संसदीय–लोकतंत्र के प्रकाश में निकालना होगा। संसदीय प्रणाली में राज्यपाल सामान्य परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करता है लेकिन जब मंत्रिपरिषद विधान सभा में बहुमत खो देता है या किसी नीतिगत मामले पर पराजित हो जाता है तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर मंत्रिपरिषद को पदच्युत कर सकता है या अविलंम्ब बहुमत सिद्ध करने के लिए कह सकता है। किसी मामले में पराजित मंत्रिपरिषद की सलाह को मानना राज्यपाल के लिए आवश्यक नहीं है। लेकिन हम देखते हैं कि मंत्रिपरिषद को पदच्युत या भंग करने की शक्ति का प्रयोग राज्यपालों ने मनमाने तरीके एवं राजनीति से प्रेरित होकर बहुमत के मंत्रिपरिषद को अपदस्थ करने का जोखिम ले लिया जिससे इस पद की किरकिरी हुई। जैसे 1984 में आंध्र प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल नंतारा रामाराव को पदच्युत कर भाष्कर राव को मुख्यमंत्री की शपथ दिलाई जो तीस दिन बाद भी बहुमत नहीं सिद्ध कर सके और पुनः नंतारा रामाराव को मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया जो चार दिन के अंदर बहुमत सिद्ध करने में सफल रहे। 1998 में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल रमेश भण्डारी ने कल्याण सिंह के मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर दिया जिसका कारण विधान सभा में बहुमत नहीं होना बताया गया था। बहुमत साबित करने के अवसर प्रदान किए बिना पदच्युत कर जगदम्बिका पाल को रात 10 बजे मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया किन्तु इलाहाबाद उच्च न्यायालय के आदेश के बाद बहुमत के निर्णय हेतु विधान सभा की बैठक आहूत की गई और कल्याण सिंह ने बहुमत सिद्ध कर दिया। कुछ ऐसा ही 2005 में झारखण्ड़ के तत्कालीन राज्यपाल सिब्ते रजी, गोवा के तत्कालीन राज्यपाल एस0सी0 जमीर एवं कई अन्य राज्यों के राज्यपालों ने भी समय–समय पर अलोकतांत्रिक एवं पक्षपातपूर्ण कार्य किया है।

भारतीय संविधान राज्यपाल को विधान सभा को आहूत करने एवं भंग करने की शक्ति प्रदान करता है। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल उसके कार्यकाल 5 वर्ष से पहले भंग नहीं करता लेकिन जब मंत्रिपरिषद सदन का विश्वास खो चुका है तो राज्यपाल स्वविवेक से दो कदम उठा सकता है– पहला कि कोई वैकल्पिक मंत्रिपरिषद के गठन की संभावना हो तो उसका गठन करे, दूसरा, या फिर मंत्रिपरिषद को विघटित कर दे। यदि पराजित मंत्रिमण्डल राज्यपाल को सदन को वघिटत करने की सलाह देती है तो राज्यपाल इनके सलाह को न मानकर स्वविवेक से उपरोक्त दोनो कदमों में से जो उचित समझे उठा सकता है।

राज्यपाल पद को लेकर उत्पन्न विवादों एवं केन्द्र–राज्य संबंधों में आ रहे कड़वाहट एवं तनाव के कारणों का अध्ययन कर केन्द्र–राज्य संबंधों को मधुर एवं रचनात्मक बनाने हेतु सुझाव देने के लिए केन्द्र सरकार ने 1983 में सरकारिया आयोग का गठन किया। सरकारिया आयोग ने राज्यपाल पद पर नियुक्ति के लिए निम्नलिखित सुझाव दिया–

क. राज्यपाल की नियुक्ति संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार–विमर्श के बाद ही की जाए।

ख. संबंधित राज्य से बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाए।

ग. राज्यपाल केवल ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को बनाया जाए जो किसी क्षेत्र में जानी–मानी हस्ती हो और जो स्थानीय राजनीति में बहुत सक्रिय न हो, खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले।

घ. केन्द्र में सत्ताधारी दल के अलावा किसी दूसरी पार्टी के द्वारा शासित राज्य में केन्द्र के सत्ताधारी दल के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नहीं नियुक्त करना चाहिए।

ड. पाँच वर्ष की पदावधि से पूर्व राज्यपाल को न हटाया जाय जब तक विशेष परिस्थिति न हो।

यदि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय संघ सरकार उपरोक्त सुझावों को ध्यान में रखकर कार्य करे तो राज्यपाल के पद से संबंधित विवादों पर कुछ हद तक विराम लगाया जा सकता है।

13.5 राज्यपाल की भूमिका

सन् 1967 के बाद विभिन्न राज्यों में केन्द्र से भिन्न राजनीतिक दलों की सरकारें बनीं तब से राज्यपाल की भूमिका विवादास्पद हो गई और एक समान परिस्थितियों में विभिन्न राज्यों के राज्यपालों के द्वारा भिन्न– भिन्न कदम उठाए जाने की वजह से केन्द्र–राज्य संबंधों में तनाव उत्पन्न होने लगा। ऐसी स्थिति में राज्य सरकारों ने आरोप लगाया कि केन्द्र सरकार ने अपने हित साधने के लिए राज्यपाल का दुरुपयोग किया है। कुछ हद तक ये आरोप सही भी हैं जिसका उल्लेख इस इकाई की 13.4 में किया जा चुका है।

राज्य सरकार में राज्यपाल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्यपाल की भूमिका का अध्ययन करने के लिए हमें संविधान द्वारा राज्यपाल को दी गई शक्तियों एवं स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक सामान्य तथा असमान्य परिस्थितियों में राज्यपालों द्वारा किए गए कार्यों को ध्यान में रखना होगा (जिसका उल्लेख इस इकाई के 13.3 और 13.4 में किया जा चुका है)। अध्ययन की सुविधा के लिए हम राज्यपाल की भूमिका को 3 वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं– 1. संवैधानिक प्रधान के रुप में 2. केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में 3. वास्तविक कार्यपालक के रुप में।

13.5.1 संवैधानिक प्रधान के रुप में

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भारत तथा इसके विभिन्न राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है, जिसमें वास्तविक शक्तियां मंत्रिपरिषद के पास होती हैं। हालांकि संविधान ने राज्यपाल को अनेक अधिकार प्रदान किए हैं परन्तु इन अधिकारों का प्रयोग करने के संबंध में यह भी प्रावधान है कि राज्यपाल को मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। विशेष परिस्थतियों को छोड़कर राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह पर ही कार्य करता है। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल राज्य सरकार में संवैधानिक प्रधान के रुप में ही कार्य करता है और उसकी शक्तियां वास्तविक नहीं है। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

13.5.2. केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही पद पर बना रहता है। संविधान में कुछ ऐसे उपबंध हैं जो राज्यपाल को केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में ला खड़ा करते हैं।

संविधान के अनु0 200 व 201 के अनुसार राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए संरक्षित कर सकता है। ऐसे विधेयकों पर राष्ट्रपति अपना अनुमोदन प्रदान करता है या अनुमति देने से इन्कार कर देता है। यदि विधेयक धन विधेयक नहीं है तो राष्ट्रपति राज्यपाल को निर्देश दे सकता है कि वह विधेयक को उसी रुप में या संदेश के साथ विधान मण्डल को लौटा दे।

अनु0 256 तथा 257 के अनुसार संघ सरकार राष्ट्रीय राजमार्ग, राष्ट्रीय जल मार्ग, संचार साधनों तथा राज्य में रेलवे आदि के संरक्षण के लिए किए जानेवाले उपायों के संबंध में राज्य सरकार को दिशा–निर्देश दे सकता है। संघ सरकार द्वारा इस तरह के निदेश प्रायः राज्यपाल के माध्यम से ही राज्य सरकार को दिए जाते हैं। राज्यपाल का यह दायित्व है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इन आदेशों या निदेशों का पालन कर रही है या नहीं। अगर राज्य सरकार इन निर्देशों के विरुद्ध कार्य करने के लिए राज्यपाल को परामर्श देती है तो वह इसे नामंजूर कर सकता है और साथ ही अगर राज्य सरकार इन निर्देशों के अनुपालनार्थ कार्य नहीं करती है तो ऐसे में राज्यपाल राज्य सरकार को चेतावनी दे सकता है या इसे संविधान के विरुद्ध मानकर राष्ट्रपति को संवैधानिक संकट की सूचना दे सकता है।

राज्यपाल समय–समय पर राज्य के शासन और प्रशासन के संबंध में राष्ट्रपति को सूचना भेजता है, जिसमें वह अपनी ओर से सुझाव भी देता है। यह देखना राज्यपाल का ही कार्य है कि राज्य में संविधान के अनुसार कार्य–संचालन हो रहा है या नहीं। अगर राज्यपाल को यह विश्वास हो जाता है कि राज्य में संविधान के अनुसार कार्य नहीं हो रहा है तो इसकी सूचना राष्ट्रपति को देता है। इस सूचना को आधार बना कर राष्ट्रपति राज्य में अनु0 356 के तहत राष्ट्रपति शासन घोषित कर सकता है। यदि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू है तो राज्य सरकार की सभी शक्तियां राष्ट्रपति के हाथ में आ जाती है। ऐसे में राष्ट्रपति राज्यपाल को जो भी कार्य (विधायी, प्रशासनिक, वित्तीय आदि) सौंपता है, उसे राज्यपाल सम्पन्न करता है और केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में राज्य में शासन चलाता है।

बोध प्रश्न 3–

नोट– 1. अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2. इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1. नीचे दिए गए कथनों पर सही गलत का निशान लगाइए।

   क. राज्य सरकार से संबंधित सभी विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति से ही कानून का रुप धारण करते हैं।(सही/गलत)

   ख. राज्यपाल अपने स्वविवेकीय शक्तियों का प्रयोग करते समय मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य है।(सही/गलत)

ग. मुख्यमंत्री विधान सभा में बहुमत दल के नेता को राज्यपाल नियुक्त करता है।(सही/गलत)

2. किन परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिपरिषद का परामर्श मानने के लिए बाध्य नहीं है?

.....

.....

.....

.....

.....

3. राज्यपाल पद के लिए सरकारिया आयोग ने क्या सुझाव दिए हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 सारांश

राज्यपाल अत्यधिक गरिमा और प्रतिष्ठा का पद होता है। राज्यपाल राज्य सरकार में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह राज्य का संवैधानिक प्रधान तथा केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार के मध्य एक सेतु का काम करता है। राज्य के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से किए जाते हैं।

संविधान द्वारा राज्यपाल को विविध प्रकार की शक्तियां प्रदान की गई हैं, जिन्हे कार्यकारी, विधायी, वित्तीय, न्यायिक, आपातकालीन एवं स्वविवेकी शक्तियों के रुप में वर्गीकृत किया जा सकता है। राज्यपाल को किए गए कार्यों के लिए संविधान द्वारा कुछ उनमुक्तियां भी प्रदान की गई हैं।

केन्द्र की भांति राज्यों में भी संसदीय शासन प्रणाली को लागू किया गया है। इस प्रणाली के सिद्धान्तों के अनुसार राज्यपाल नाममात्र का कार्यपालक एवं मंत्रिपरिषद (मुख्यमंत्री) वासतविक कार्यपालक होता है। हालांकि संविधान में राज्यपाल को कई प्रकार की शक्तियां दी गईं हैं परन्तु इन सभी शक्तियों का प्रयोग मुख्यमंत्री की अगुआई में मंत्रिपरिषद करती है। आमतौर पर राज्यपाल अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श पर ही करता है लेकिन विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेक से कार्य कर सकता है। विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल को मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानना बाध्यकारी नहीं है।

राज्यपाल राज्य सरकार में संवैधानिक प्रधान के रुप में, केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में तथा संवैधानिक प्रधान से अधिक के रुप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

मंत्रिपरिषद सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करती है और मंत्रिपरिषद सामूहिक रुप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिषद के सदस्य अर्थात् मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद पर बने रहते हैं।

13.7 शब्दावली

वयस्क मताधिकार– वे सभी वयस्क जो संविधान द्वारा निश्चित मतदान की आयु को पूरा कर चुके हैं उन्हें मतदान का अधिकार प्राप्त होता है। जैसे भारत में वर्तमान में मतदान के लिए वयस्कता की आयु 18 वर्ष है।

सत्रावसान– विधायिका की बैठकों को स्थगित करना।

विघटन– भंग करना या कार्यकाल को समाप्त करना।

वार्षिक वित्तीय विवरण– बजट को ही संविधान में वार्षिक वित्तीय विवरण कहा गया है।

अध्यादेश– जब विधान मण्डल सत्र में न हो और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो जिसमें तत्काल कार्यवाही करना आवश्यक हो तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल जो कानून बनाता है या आदेश देता है, उसे अध्यादेश कहते हैं।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पिल्लेई, एम0वी0, ''भारत में संवैधानिक सरकार'', एस0 चाँद एण्ड को0, नई दिल्ली, 2004

पिल्लेई, एम0वी0, ''एन इनट्रोडक्सन टू द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया'', विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007

सेन, सरबानी, ''द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डियाः पॉपुलर सोवर्निटी एण्ड डेमोक्रेटिक ट्रॉन्सफरमेशनस'', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2007

पटनायक, करुणाकर, ''द फ्लावड़ इंस्टिट्यूशनः एपॉन्टिमेंट एण्ड रिमूवल ऑफ गवर्नर्स'', ज्ञानजुग पब्लिकेशन्स, 2005

बक्सी, पी0एम0, ''द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया'', यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग को0, नई दिल्ली, 2011

चक्रवर्ती, बिद्युत और राजेन्द्र कुमार पाण्डेय, '' इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलीटिक्स'', सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2008

शर्मा, ब्रिजकिशोर, ''भारत का संविधान–एक परिचय'', पी0 एच0 आई0, नई दिल्ली, 2011

गुप्ता, डी0सी0, ''इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलीटिक्स'', विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2010

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. क. गलत ख. सही
2. क. 35 ख. राष्ट्रपति

बोध प्रश्न 2

1. क. गलत ख. सही
2. राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है। राज्य की संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है। राज्य की समस्त कार्यवाही राज्यपाल के नाम से किए जाते हैं। वह राज्य सरकार और केन्द्र सरकार के मध्य कड़ी के रुप में और केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में कार्य करता है। राज्यपाल के अनुमादन पर ही सभी विधेयक कानून का रुप धारण करते हैं।
3. संविधान द्वारा राज्य की समस्त कार्यपालिका संबंधी शक्तियां राज्यपाल में निहित की गई हैं। राज्यपाल इन शक्तियों का प्रयोग स्वयं या अपने अधिनस्थों के माध्यम से करता है। राज्यपाल राज्य के मुख्यमंत्री सहित मंत्रिपरिषद एवं राज्य के समस्त उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता है। राज्य का बजट पास कराना राज्यपाल का ही दायित्व है।

बोध प्रश्न 3

1. क. सही ख. गलत ग. गलत
2. मंत्रिपरिषद की पक्षपातपूर्ण सलाह देने की स्थिति में, किसी नीतिगत मामले पर पराजित मंत्रिपरिषद की सलाह, एवं विधान सभा में बहुमत खो चुके मंत्रिपरिषद की सलाह को मानने के लिए राज्यपाल बाध्य नहीं है।
3. राज्यपाल की नियुक्ति संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार–विमर्श के बाद ही की जाए। राज्य से बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाए। राज्यपाल केवल ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को बनाया जाए जो किसी क्षेत्र में जानी–मानी हस्ती हो और जो स्थानीय राजनीति में बहुत सक्रिय न हो, खसकर नियुक्ति के तत्काल पहले। केन्द्र में सत्ताधारी दल के अलावा किसी दूसरी पार्टी के द्वारा शासित राज्य में केन्द्र के सत्ताधारी दल के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नहीं नियुक्त करना चाहिए। पाँच वर्ष की पदावधि से पूर्व राज्यपाल को न हटाया जाय जब तक विशेष परिस्थिति न हो।

इकाई 14

भारत में न्याय प्रणाली

इकाई की रुपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 भारतीय न्यायपालिका का विकास

14.3 संविधान में भारतीय न्यायपालिका : त्रिस्तरीय संरचना

14.3.1 सर्वोच्च न्यायालय

14.3.1.1 न्यायाधीशों की नियुक्ति

14.3.1.2 कार्यकाल

14.3.1.3 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

14.3.1.4 वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ

14.3.1.5 उन्मुक्तियाँ

14.3.1.6 सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता

– प्रारम्भिक अधिकारिता

– अपीलीय अधिकारिता

– परामर्शदात्री अधिकारिता

14.3.2 उच्च न्यायालय

14.3.2.1 न्यायाधीशों की नियुक्ति औद पद की शर्तें

14.3.2.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

14.3.2.3 न्यायाधीशों के वेतन आदि

14.3.2.4 कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति

14.3.2.5 अपर और कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति

14.3.2.6 उच्च न्यायालयों की बैठकों में सेवा–निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति

14.3.2.7 न्यायाधीशों के स्थायी न्यायाधीश रहने के पश्चात् विधि व्यवसाय पर निर्बन्धन

14.3.2.8 सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित कुछ उपबन्धों का उच्च न्यायालयों पर लागू होना।

14.3.2.9 उच्च न्यायालयों की अधिकारिता

– अभिलेख न्यायालय की अधिकारिता

– विद्यमान उच्च न्यायालय की अधिकारिता

– अधीनस्थ न्यायालयों के निरीक्षण और नियंत्रण की शक्ति

– उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता

14.3.2.10 उच्च न्यायालय की अधिकारिता का संघ राज्य क्षेत्रों पर विस्तार

14.3.2.11 दो या अधिक राज्यों के लिये एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था

14.3.3 अधीनस्थ न्यायालयत्र.

14.3.3.1 जिला अदालत

14.3.3.2 जिला न्यायाधीश

14.3.3.3 पंचायत अदालतें

14.4 सारांश

14.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.6. बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र में सुशासन को स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि न्यायपूर्ण तरीके से विधि के शासन को स्थापित किया जाये। भारतीय संविधान निर्माताओं ने विधि के शासन को स्थापित करने के लिए एक विस्तृत तथा लिखित संविधान का निर्माण किया साथ ही इसका पालन ठीक से हो रहा है या नहीं यह सुनिश्चित करने के लिये संघीय ढाँचे के भीतर ही एकीकृत न्यायपालिका की भी व्यवस्था की। जो न सिर्फ संघात्मक शासन व्यवस्था को मजबूती प्रदान करती है बल्कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों को भी संरक्षण देती है। इसी उद्देश्य को पूरा करते हुये शीर्ष पर एक सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी।

इस इकाई के अन्तर्गत हम न्यायपालिका की संरचना, उसके गठन, कार्य एवं क्षेत्राधिकार आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करेंगे। इसके साथ ही इसकी त्रिस्तरीय संरचना हाईकोर्ट तथा अधीनस्थ न्यायालयों आदि के गठन तथा अन्य विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डालेंगे।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से भारतीय न्यायपालिका के गठन, संरचना, क्षेत्राधिकार, कार्य इत्यादि के सम्बन्ध में विस्तार से समझाने का प्रयास किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप

- भारतीय न्यायपालिका की संरचना को समझ सकेंगे।
- इसके कार्य, व्यवहार और सिद्धान्तों को समझ सकेंगे जो इसे एक सशक्त संस्था के रुप में स्थापित करते हैं।
- उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों के कार्य क्षेत्राधिकार तथा उच्चतम न्यायालय के साथ इनके पारस्परिक सम्बन्ध को भी समझ सकेंगे।

14.2 भारतीय न्यायपालिका का विकास

भारतीय न्यायपालिका की विकास यात्रा को समझने के लिये भारत के संवैधानिक विकास को समझना होगा। 1600 ईस्वी में भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुयी। कम्पनी ने अपना कार्य सूरत से प्रारम्भ किया तथा बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में बड़े–बड़े व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। इस दौरान कम्पनी का प्रमुख कार्य व्यापार करना था। 1726 के राजलेख द्वारा प्रथम बार 'मेयर कोर्ट' की स्थापना की गयी, जिन्हें अपने क्षेत्राधिकार में उद्भव होने वाले सिविल मामलों में सुनवायी का अधिकार दिया गया। 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट के द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी के अधीन बम्बई एवं मद्रास प्रेसीडेन्सियों को लाया गया तथा अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी क्षेत्रों का प्रशासन भी इसी के अधीन हो गया। सन् 1774 में जार्ज तृतीय द्वारा एक और राजलेख पारित किया गया। इसके द्वारा कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। सर एलिजा एम्पी को इसका मुख्य न्यायाधीश बनाया गया। यह कोर्ट ऑफ रिकार्ड था तथा इसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा के निवासियों के सिविल मामले सुनने का अधिकार था। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील प्रीवी कौंसिल में की जा सकती थी। 1861ई0 में भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम आया, यही वह अधिनियम है जिसके अन्तर्गत कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में प्रथम बार उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी तथा अब तक विद्यमान सर्वोच्च न्यायालय एवं सदर अदालतों को इनमें विलीन कर दिया गया। इन उच्च न्यायालयों को सिविल, आपराधिक एवं वसीयती आदि मामलों में मूल तथा अपीलीय अधिकारिता प्रदान की गयी। इस विकास यात्रा में अन्तिम महत्वपूर्ण पड़ाव 1935 के भारत शासन अधिनियम के रुप में सामने आया। इसके द्वारा न्यायिक क्षेत्र में उच्चतम न्यायालय के रुप में भारत में एक 'फेडरल न्यायालय' की स्थापना की गयी। जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीश होते थे जो 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रहते थे। इसका मुख्यालय दिल्ली में स्थित था तथा इसे प्रारम्भिक, अपीलीय तथा परामर्शदात्री अधिकारिता सौंपी गयी थी। इसे भारतीय संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित मामलों में उच्च न्यायालय और प्रीवी काउंसिल के

बीच की मध्यवर्ती स्थिति प्राप्त थी। यह न्यायालय 26 जनवरी, 1950, भारतीय संविधान लागू होने के दिन तक कार्यरत रहा। इस प्रकार भारतीय न्याय प्रणाली के विकास के इस चरण में हम एकीकृत न्यायालय प्रणाली को स्थापित होते हुये देख सकते हैं। यद्यपि 1935 के अधिनियम में ऐसी महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं की गयी थीं जो कि स्वतंत्र भारत के संविधान का आधार थीं, किन्तु फिर भी इन्हें भारतीय परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुरुप ही संशोधित कर या परिवर्तित कर स्वीकार किया गया था।

14.3 भारतीय संविधान में न्यायपालिका

भारतीय संविधान में त्रिस्तरीय न्यायिक व्यवस्था को स्वीकार किया गया है, जिसके शीर्ष पर एक सर्वोच्च न्यायालय तथा प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होगा। यदि संसद चाहे तो दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर सकती है। उच्च न्यायालय के अन्तर्गत अधीनस्थ न्यायालयों के रुप में कई अन्य न्यायालयों का एक सोपान अर्थात् श्रृंखला होती है। जैसे जिला एवं सत्र न्यायालय, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय, मुंसिफ मजिस्ट्रेट के न्यायालय आदि। इन अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण रखने की महत्वपूर्ण शक्ति उच्च न्यायालय को प्राप्त है। इस प्रकार इस संरचना में शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय तथा उच्च न्यालय के अधीन अधीनस्थ न्यायालय की श्रृंखला कार्य करती है।

14.3.1 सर्वोच्च न्यायालय

भारत की न्यायकि व्यवस्था के शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है। संविधान का अनुच्छेद 124 भारत के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का प्राविधान करता है। जो एक मुख्य न्यायाधीश तथा जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करती तब तक 7 से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में कुल 31 न्यायाधीश हैं। जिनमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा 30 अन्य न्यायाधीश हैं। भारत का सर्वोच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय भी है तथा यह संविधान और नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रुप में भी काम करता है। इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति, कार्यकाल क्षेत्राधिकार आदि को निम्नलिखित आधारों के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

14.3.1.1 न्यायाधीशों की नियुक्ति

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। अनुच्छेद 124(2) के अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के पश्चात् करेगा, जिनसे इस प्रयोजन के लिये वह परामर्श करना आवश्यक समझे। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सदा मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से करेगा। इस प्रकार राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति करेगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति आत्यान्तिक नहीं है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में वह

मंत्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है तथा मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को संविधान में विहित अर्हता रखने वाले किसी भी व्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है।

14.3.1.2 कार्यकाल

साधारणतया, सर्वोच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है। किन्तु यदि वह चाहे तो इसके पूर्व भी अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। संसद उसे सिद्ध कदाचार तथा असमर्थता के आधार पर महाभियोग प्रक्रिया के द्वारा पद से हटा सकती है।

14.3.1.3 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश चुने जाने के लिये कोई व्यक्ति तभी पात्र होगा जब वह भारत का नागरिक हो और

(1) वह किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक न्यायालयों में लगातार कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के रुप में कार्य कर चुका हो। या

(2) किसी उच्च न्यायालय या न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो। या

(3) राष्ट्रपति की दृष्टि में कानून का उच्च कोटि का ज्ञाता हो।

14.3.1.4 वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ

संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जिन्हें संसद विधि द्वारा अवधारित करें, ये वेतन और भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित होंगे। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन–भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

14.3.1.5 उन्मुक्तियाँ

न्यायाधीशों को उनके पद पर रहते हुये दिये गये निर्णयों के लिये आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है। यद्यपि शैक्षणिक दृष्टि से इन निर्णयों की आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। तथापि न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता है कि उन्होंने किसी प्रेरणा या किसी हितवश किसी विशेष प्रकार का निर्णय दिया है। संसद में भी महाभियोग प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता है।

14.3.1.6 सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता

सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित अधिकारिता प्राप्त हैः–

– प्रारम्भिक अधिकारिता

– अपीलीय अधिकारिता

– परामर्शदात्री अधिकारिता

प्रारम्भिक अधिकारिता

प्रारम्भिक अधिकारिता से अभिप्राय यह है कि कतिपय मामलों की सुनवायी का एकमात्र अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास है। जिसे निम्नलिखित आधारों के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

(I) पक्षकारों की दृष्टि से

इसके अन्तर्गत निम्नांकित के बीच विवादों की प्रारम्भिक अधिकारिता केवल सर्वोच्च न्यायालय को ही है।

(i) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच के विवाद;

(ii) संघ और कोई राज्य एक ओर तथा एक राज्य दूसरी ओर;

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच।

उपरोक्त सभी प्रकार के विवाद प्रारम्भिक रुप से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष ही प्रस्तुत किये जायेंगे।

(II) जब विधि का प्रश्न अर्न्तग्रस्त हो

प्रारम्भिक अधिकारिता के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय उन्हीं विवादों को स्वीकार कर सकता है जिनमें–

– कोई ऐसा तथ्य या विधि का प्रश्न अर्न्तग्रस्त हो; अथवा

– ऐसे प्रश्न पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर करता हो।

(III) मूल अधिकारों के सम्बन्ध में

संविधान का अनुच्छेद–32 इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकारिता प्रदान करता है। अर्थात् नागरिकों के मूल अधिकारों के उल्लंघन होने की दशा में वो सीधे सर्वोच्च न्यायालय में के लिये जा सकता है। इस प्रयोजन के लिये सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश या रिट, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेक्षण आदि जो भी समुचित हो जारी करने की शक्ति होगी। यह नागरिकों को मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध सीधे उपचार प्रदान करता है। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक भी कहा जाता है।

अपीलीय अधिकारिता

सर्वोच्च न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। इसे भारत के किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार है। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होगा। उसके निर्णय के विरुद्ध कहीं अन्य अपील नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता को चार भागों में

बाँटा जा सकता हैः प्रथम– संवैधानिक मामले, द्वितीय– सिविल मामले, तृतीय– दाण्डिक मामले तथा चौथा– विशेष इजाजत से अपील।

परामर्शदात्री अधिकारिता

संविधान का अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रपति यदि चाहे तो किन्हीं ऐसे विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय से राय माँग सकता है। जिनमें –

(i) विधि या तथ्य का कोई प्रश्न उत्पन्न हो गया हो।

(ii) वह सार्वजनिक महत्व का है एवं

(iii) उस पर सर्वोच्च न्यायालय की राय जानना आवश्यक है।

सर्वोच्च न्यायालय की इस अधिकारिता की अपनी सीमाएँ हैं यह उन्हीं प्रश्नों पर अपनी राय दे सकता है जो उसे निर्देशित किये जाते हैं। राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह उन्हें माने अथवा नहीं। लेकिन अब तक जब भी सर्वोच्च न्यायालय ने कोई सलाह दी है, भारत सरकार ने उस सलाह का सम्मान किया है।

नोट– सर्वोच्च न्यायालय का विस्तृत और गहन अध्ययन हम इकाई–8 के अन्तर्गत पहले ही कर चुके हैं, अधिक जानकारी के लिए कृपया इकाई–8 का अवलोकन करें।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणीः (1) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

(1) भारत में न्याय प्रणाली का स्वरुप कैसा है?

.....
.....
.....
....

(2) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये निर्धारित योग्यता क्या है?

.....
.....
.....
....

14.3.2 उच्च न्यायालय

अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होता है। किन्तु संसद के पास यह शक्ति है कि वह दो या दो से अधिक

राज्यों के लिये एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना कर सके। प्रत्येक उच्च न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनता है, जिन्हें राष्ट्रपति समय–समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझते हैं। राज्य का उच्च न्यायालय उस राज्य का अन्तिम अपीलीय न्यायालय माना जाता है। किसी राज्य के उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही की जा सकती है।

14.3.2.1 न्यायाधीशों की नियुक्ति और पद की शर्तें

अनुच्छेद 217 के अनुसार उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति वह सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा उस राज्य के राज्यपाल के परामर्श से तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति वह उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से भी परामर्श कर अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा करता है। उच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपना पद धारण कर सकता है।

एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर से अपना पद त्याग कर सकेगा। उसका पद रिक्त माना जाएगा, यदि–

(i) वह सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हो गया हो अथवा किसी अन्य उच्च न्यायालय में उसका स्थानान्तरण हो गया हो।

(ii) उसे अनुच्छेद 124 के अन्तर्गत विहित रीति से हटा दिया जाये।

14.3.2.2 न्यायाधीशों की योग्यताएँ

अनुच्छेद 217 के अनुसार किसी उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये एक व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी आवश्यक हैं:–

(i) वह भारत का नागरिक हो। और

(ii) भारत राज्य क्षेत्र में कम से कम 10 वर्ष तक कोई न्यायिक पद धारण कर चुका हो; या

(iii) किसी उच्च न्यायालय में कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

14.3.2.3 न्यायाधीशों के वेतन आदि

प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन–भत्ते दिये जायेंगे जिन्हें संसद, विधि द्वारा अवधारित करें और जब तक इस प्रकार

के उपबन्ध नहीं किये जाते तब तक ऐसे वेतन का संदाय किया जायेगा जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हो।

किसी न्यायाधीश के वेतन भत्तों में उसके पेंशन आदि के सम्बन्ध में तथा उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिये कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जायेगा।

14.3.2.4 कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति

अनुच्छेद 223 के अनुसार जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो अथवा वह न्यायाधीश अपनी किन्हीं असमर्थताओं के चलते कार्य कर पाने में असमर्थ है, तो ऐसी दशा में अन्य न्यायाधीशों में से किसी एक को, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिये उपयुक्त समझे, मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है। प्रायः उच्च न्यायालय के ही किसी वरिष्ठतम न्यायाधीश को यह कार्य सौंपा जाता है। मुख्य न्यायमूर्ति की अनुपस्थिति निम्नांकित कारणों से हो सकती है।

(i) जब वर्तमान मुख्य न्यायाधीश की सेवा–निवृत्ति के बाद किसी नये मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति नहीं की जाती है।

(ii) जब मुख्य न्यायमूर्ति लम्बे अवकाश पर हो।

(iii) जब मुख्य न्यायाधीश कार्यवाहक राज्यपाल के रुप में कहीं कार्य कर रहा हो।

(iv) जब मुख्य न्यायाधीश की मृत्यु हो जाये अथवा वह त्यागपत्र दे दे।

14.3.2.5 अपर और कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति

संविधान के अनुच्छेद 224 के अनुसार यदि किसी उच्च न्यायालय के कार्य में किसी अस्थायी वृद्धि के कारण, या कार्य के अधिक बकाया होने के कारण राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि उस न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा दी जानी चाहिए तो उक्त स्थिति में राष्ट्रपति सम्यक रुप से योग्य किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को दो वर्ष के लिये, उस न्यायालय का अपर न्यायाधीश नियुक्त कर सकेगा।

इसी के साथ ही जब किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य कोई न्यायाधीश अनुपस्थिति के कारण या किसी अन्य कारण से अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है या मुख्य न्यायाधीश के रुप में अस्थायी रुप से कार्य करने के लिये नियुक्त किया जाता है, तब राष्ट्रपति सम्यक रुप से योग्य किसी व्यक्ति को तब तक के लिये उस न्यायालय के न्यायाधीश के रुप में कार्य करने के लिए नियुक्त करेगा जब तक कि स्थायी न्यायाधीश अपने कर्तव्यों को फिर से नहीं संभाल लेता है।

उक्त दोनों ही स्थितियों में अर्थात् उच्च न्यायालय के अपर या कार्यकारी न्यायाधीश के रुप में नियुक्त कोई व्यक्ति बासठ (62) वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् पद धारण नहीं करेगा।

14.3.2.6 उच्च न्यायालयों की बैठकों में सेवा निवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति

अनुच्छेद 224 (क) के अन्तर्गत किसी राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश किसी भी समय, किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से जो कि उच्च न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उस राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रुप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध कर सकेगा और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिससे इस प्रकार से अनुरोध किया जाता है, इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे, इस प्रकार से कार्यरत किसी न्यायाधीश को उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियों और विशेषाधिकार होंगे, किन्तु उसे अन्यथा उस उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जाएगा।

परन्तु जब तक यथापूर्वोक्त व्यक्ति उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रुप में बैठने और कार्य करने की सहमति नहीं दे देता है तब तक इस अनुच्छेद की कोई बात उससे ऐसा करने की अपेक्षा करने वाली नहीं समझी जायेगी।

14.3.2.7 न्यायाधीशों के स्थायी न्यायाधीश रहने के पश्चात् विधि व्यवसाय पर निर्बन्धन

न्यायाधीश के पद की गरिमा और निष्पक्षता को बनाए रखने के लिये संविधान के अनुच्छेद 220 में यह व्यवस्था की गयी है कि उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश सेवा निवृत्ति के बाद उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के सिवाय भारत में किसी न्यायालय या किसी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेगा। अभिवचन का यह प्रतिबन्ध केवल स्थायी न्यायाधीशों के लिए है, कार्यवाहक अथवा अतिरिक्त न्यायाधीशों के लिये नहीं।

14.3.2.8 सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित कुछ उपबन्धों का उच्च न्यायालयों पर लागू होना

अनुच्छेद 124 के खण्ड (4) और खण्ड (5) के उपबन्ध, जहाँ–जहाँ उनमें उच्चतम न्यायालय के प्रति निर्देश है वहाँ–वहाँ उच्च न्यायालय के सम्बन्ध में वैसे ही लागू होंगे जैसे वे उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में लागू होते हैं।

14.3.2.9 उच्च न्यायालयों की अधिकारिता

उच्च न्यायालय की अधिकारिता को हम निम्नलिखित आधारों के अन्तर्गत समझ सकते हैं।

(i) अभिलेख न्यायालय की अधिकारिता
(ii) वर्तमान उच्च न्यायालयों की अधिकारिता
(iii) अधीनस्थ न्यायालयों पर निरीक्षण की अधिकारिता
(iv) लेख सम्बन्धी अधिकारिता

(i) अभिलेख न्यायालय की अधिकारिता

सर्वोच्च न्यायालय की ही तरह प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालय को भी अभिलेख न्यायालय होने का दर्जा प्राप्त है और इस रुप में उसे ऐसे न्यायालयों की सभी शक्तियाँ एवं अधिकार प्राप्त है। इस शक्ति के क्षेत्र एवं प्रकृति के बारे में विस्तृत अध्ययन हम इकाई–8 में पहले ही कर चुके हैं।

(ii) विद्यमान उच्च न्यायालयों की अधिकारिता

अनुच्छेद 225 के अनुसार संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुये तथा समुचित विधान मण्डल द्वारा बनाई गयी किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुये, किसी वर्तमान उच्च न्यायालय की (1) अधिकारिता (2) उसमें प्रशास्ति विधि तथा (3) उस न्यायालय में न्याय प्रशासन के सम्बन्ध में उसके न्यायाधीशों की शक्तियाँ, जिनके अन्तर्गत न्यायालय के नियम बनाने तथा बैठकों के विनियमन की शक्ति भी शामिल है। वह ही होगी जो इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले थीं। इस प्रकार संविधान ने उच्च न्यायालयों के संविधान के पूर्व के क्षेत्राधिकार को सुरक्षित रखा है।

(iii) अधीनस्थ न्यायालयों के निरीक्षण और नियन्त्रण की शक्ति

अनुच्छेद 227 के अनुसार (1) प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन समस्त क्षेत्रों में, जिनके सम्बन्ध में वह अधिकारिता का प्रयोग करता है, उन सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणों की निरीक्षण और नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त है तथा (2) इस प्रयोजन के लिये उच्च न्यायालय को अधीनस्थ न्यायालयों से (i) विवरणी मांगने (ii) उनकी कार्य–प्रणाली और कार्यवाहियों के विनियमन हेतु नियम बनाने (iii) तथा उनके पदाधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों और लेखाओं के प्रपत्रों को विहित करने की शक्ति प्राप्त है। इसके साथ ही उच्च न्यायालय इन न्यायालयों के शेरीफ तथा लिपिकों, पदाधिकारियों तथा न्यायवादियों; अधिवक्ता और वकीलों को मिलने वाली फीसों की सारिणी भी निश्चित कर सकता है। खण्ड (2) और (3) के अधीन निर्मित नियमों के लिये राज्यपाल का पूर्व अनुमोदन आवश्यक है। किन्तु अनुच्छेद 227 के खण्ड (4) के अधीन उच्च न्यायालयों की यह शक्ति सशस्त्र बलों सम्बन्धी किसी विधि के द्वारा या अधीन गठित किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण पर लागू न होगी।

अनुच्छेद 227 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायालयों पर निरीक्षण की शक्ति बड़ी विशद शक्ति है। अनुच्छेद 227 के अधीन प्रदत्त यह शक्ति अनुच्छेद 226 के माध्यम से अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण की शक्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। क्योंकि यह केवल प्रशासनिक निरीक्षण तक ही सीमति नहीं है वरन् इसके अन्तर्गत सभी अधीनस्थ न्यायालयों पर न्यायिक निरीक्षण रखने की शक्ति भी शामिल है।

(iv) उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता

अनुच्छेद 226 के अनुसार अनुच्छेद–32 में किसी बात के होते हुये भी प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन समस्त क्षेत्रों में, जिनके सम्बन्ध में वह

अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है। भाग–3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये और किसी अन्य प्रयोजन के लिये सम्बन्धित राज्यों में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निदेश या आदेश या रिट, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेरण रिट है, जारी करने की शक्ति होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता केवल मूल अधिकारों की संरक्षा के लिये ही नहीं सीमित है बल्कि किसी अन्य विधिक अधिकारों की संरक्षा के लिये भी उपलब्ध है। इस मामले में उच्च न्यायालय की यह शक्ति सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

14.3.2.10 उच्च न्यायालय की अधिकारिता का संघ राज्य क्षेत्रों पर विस्तार

अनुच्छेद 230 यह प्राविधान करता है कि–

(i) संसद विधि द्वारा किसी संघ राज्यक्षेत्र पर किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार कर सकेगी। या किसी संघ राज्यक्षेत्र से किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन कर सकेगी।

(ii) जहाँ किसी राज्य का उच्च न्यायालय किसी संघ राज्य क्षेत्र के सम्बन्ध में अधिकारिता का प्रयोग करता है वहाँ–

– इस संविधान की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह उस राज्य के विधान मण्डल को उस अधिकारिता में वृद्धि, उसका निर्बन्धन या उत्सादन करने के लिये सशक्त करती है; और उस राज्यक्षेत्र में अधीनस्थ न्यायालयों के लिये किन्हीं नियमों, प्रारुपों या सारणियों के सम्बन्ध में, अनुच्छेद 227 में राज्यपाल के प्रति निर्देश का, यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह राष्ट्रपति के प्रति निर्देश है।

14.3.2.11 दो या अधिक राज्यों के लिये एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था

अनुच्छेद 231 इस बात का प्रावधान करता है कि संसद, विधि द्वारा, दो या अधिक राज्यों के लिये अथवा दो या अधिक राज्यों और किसी संघ राज्यक्षेत्र के लिये एक ही उच्च न्यायालय स्थापित कर सकेगी।

किसी ऐसे उच्च न्यायालय के सम्बन्ध में, अनुच्छेद 217 के अनुसार उस राज्य के राज्यपाल के प्रति निर्देश का अर्थ उन सभी राज्यों के राज्यपालों के प्रति निर्देश होगा जिनके सम्बन्ध में वह उच्च न्यायालय अधिकारिता का प्रयोग करता है। इसी प्रकार प्रारुपों, सारणियों के सम्बन्ध में राज्यपाल के प्रति निर्देश का अर्थ, उस राज्यपाल के प्रति निर्देश होगा, जिसमें वे अधीनस्थ न्यायालय स्थित हैं तथा अनुच्छेद 219 और 229 में राज्य के प्रति निर्देश का अर्थ होगा कि वे उस राज्य के प्रति निर्देश हैं, जिसमें उस उच्च न्यायालय का मुख्य स्थान है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणीः (1) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

(1) उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार बताइये?

.....
.....
.....
....

(2) अपर और कार्यकारी न्यायाधीश की नियुक्ति कैसे होती है?

.....
.....
.....
....

(3) उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये आवश्यक योग्यता क्या है?

.....
.....
.....
....

(4) उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता क्या है?

.....
.....
.....
....

14.3.3 अधीनस्थ न्यायालय

भारतीय न्यायपालिका का गठन पिरामिडीय संरचना जैसा किया गया है, जिसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है तथा सर्वोच्च न्यायालय के नीचे विभिन्न राज्यों के उच्च न्यायालय आते हैं और प्रत्येक उच्च न्यायालय के नीचे कई श्रेणी के न्यायालय होते हैं। जिन्हें संविधान में अधीनस्थ न्यायालय कहा गया है। इन्हें अधीनस्थ न्यायालय इसलिए कहा गया है कि क्योंकि यह राज्य उच्च न्यायालय के अधीक्षण और नियंत्रण के पूर्णतः अधीन होते हैं।

अधीनस्थ न्यायालयों का गठन प्रादेशिक अधिनियम के आधार पर किया जाता है। विभिन्न प्रदेशों में इनके नाम एवं गठन में कुछ भिन्नता होती है। किन्तु सारवान रुप से इनके संगठनात्मक ढाँचे में एकरुपता

पायी जाती है। संविधान में इन न्यायालयों को कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। इसीलिए अनुच्छेद 235 में इन न्यायालयों के निरीक्षण एवं नियंत्रण का पूर्ण अधिकार राज्य उच्च न्यायालयों को प्रदान किया गया है। अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति, छुट्टियों आदि के बारे में राज्यपाल को उच्च न्यायालय के परामर्श से ही कार्य करना होता है।

14.3.3.1 जिला अदालत

प्रत्येक राज्य जिलों में बंटा होता है तथा प्रत्येक जिले में एक जिला अदालत होती है। इस जिला अदालत का उस जिले भर में अपील सम्बन्धी क्षेत्राधिकार होता है। इन जिला अदालतों के अधीन कई निचली अदालतें होती हैं जैसे अतिरिक्त जिला अदालत, सब कोर्ट, मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत, द्वितीय श्रेणी विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट अदालत, रेलवे के लिये प्रथम श्रेणी विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट अदालत, कारखाना कानून और श्रम कानूनों के लिये विशेष मुंसिफ मजिस्ट्रेट अदालत इत्यादि। जिला अदालतों का प्रमुख कार्य इनके अधीन कार्यरत विभिन्न अदालतों से आयी अपीलों को सुनना होता है।

किसी जिले में सेशन जज की अदालत आपराधिक मामलों के सम्बन्ध में जिले की सबसे बड़ी अदालत होती है। इसके नीचे मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट की अदालतें होती हैं। यह तीन प्रकार की होती है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी की मजिस्ट्रेट अदालतें। यह सभी आपराधिक मामलों से सम्बन्धित होती हैं। छोटे–मोटे अपराधों को ग्राम स्तर पर पंचायत अदालतें देखती हैं।

14.3.3.2 जिला न्यायाधीश

संविधान के अनुच्छेद 233 के अनुसार किसी राज्य में जिला न्यायाधीश की नियुक्ति, पद स्थापना और पदोन्नति उस राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्य का राज्यपाल करता है। जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त राज्य की न्यायिक सेवा में अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग तथा राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श के पश्चात् उसके द्वारा इस विषय को शासित करने वाले नियमों के अनुसार ही की जाएगी।

कोई भी व्यक्ति जो कि संघ–राज्य की सेवा में पहले से ही नहीं लगा हुआ है। जिला न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए तभी पात्र होगा जब

(1) वह कम से कम 7 वर्ष तक अधिवक्ता या वकील रह चुका हो तथा

(2) उच्च न्यायालय ने उसकी नियुक्ति की सिफारिश की हो।

14.3.3.3 पंचायत अदालतें

अधीनस्थ न्यायालयों के सबसे निचले स्तर पर पंचायत अदालतें आती हैं। यह गाँवों में (न्याय पंचायत, ग्राम पंचायत) होती हैं। हालांकि फौजदारी अदालत क्षेत्राधिकार के अनुसार इन्हें अदालत नहीं माना जाता।

ब्रिटिश काल से पूर्व इन न्याय अदालतों ने स्थानीय ढंग से न्याय प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। भगवती समिति रिपोर्ट ने इन्हें संगठित करने पर बल दिया है तथा इसके महत्व को स्वीकार करते हुए इन्हें महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान किये जाने की मांग की है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणीः (1) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

(2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाकर देखिए।

(1) अधीनस्थ न्यायालय से क्या अभिप्राय है?

.....
.....
.....
....

(2) जिला न्यायाधीश की नियुक्ति कैसे की जाती है।

.....
.....
.....
.....

14.4 सारांश

भारतीय न्यायपालिका की संरचना का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह शासन के कितने महत्वपूर्ण अंग के रुप में कार्य कर रही है। कार्यपालिका और विधायिका को अनुशासित रखने के साथ ही न्याय पालिका के समक्ष आयी चुनौतियों का सामना कर अपनी गरिमा और मर्यादा को बनाए रखने का दुरुह कार्य भी हमारी न्याय पालिका ने किया है।

प्रगतिशील निर्णय देते हुये इसने न सिर्फ सार्वजनिक हित तथा सामाजिक सहिष्णुता को बढाया है। बल्कि लोकहित याचिकाओं के माध्यम से सामाजिक चेतना को बढ़ाने और शोषण मुक्त समाज का निर्माण करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

14.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

– बसु, दुर्गादास, 1983, कमेंट्री ऑन द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, प्रेन्टिस हॉल ऑफ इण्डिया, दिल्ली।

– फण्डामेन्ट्लस ऑफ इण्डियान पोलिटिकल सिस्टम, राजेश कुमार झा, (संपादक), पिर्यशन, दिल्ली।

14.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न (1)

1. भाग 14.3 देखिये।

2. भाग 14.3.1.1 तथा 14.3.1.3 देखिये।

बोध प्रश्न (2)

1. भाग 14.3.2.9 देखिये।
2. भाग 14.3.2.5 देखिये।
3. भाग 14.3.2.2 देखिये।
4. भाग 14.3.2.9 देखिये।

बोध प्रश्न (3)

1. भाग 14.3.3 देखिये।
2. भाग 14.3.3.2 देखिये।

इकाई 15

भारत में नौकरशाही (अधिकारी तंत्र)

इकाई की रुपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 नौकरशाही की अवधारणा

15.3 नौकरशाही के प्रकार

15.4 औपनिवेशिक काल में नौकरशाही

15.5 आजाद भारत में नौकरशाही

- 15.5.1 वर्गीकरण
- 15.5.2 भर्ती
- 15.5.3 प्रशिक्षण
- 15.5.4 पदोन्नति

15.6 भारत में नौकरशाही की संगठनात्मक संरचना

15.7 नौकरशाही की भूमिका

- 15.7.1 नीति निर्माण
- 15.7.2 नीति क्रियान्वयन
- 15.7.3 नीति मूल्यांकन
- 15.7.4 विकास प्रशासन

15.8 अनामता एवं पाक्रिंसन लॉ

15.9 नौकरशाही से संबंधित विवाद

- 15.9.1 सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ
- 15.9.2 तटस्थता एवं प्रतिबद्धता
- 15.9.3 मंत्री और नौकरशाह (सचिव)

15.10 भारतीय नौकरशाही की विशेषता

15.11 भारतीय नौकरशाही आधुनिक प्रवृत्तियाँ

15.12 सारांश

15.13 शब्दावली

15.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में नौकरशाही की अवधारणा, औपनिवेशिक भारत एवं स्वतंत्र भारत में नौकरशाही के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- नौकरशाही के प्रकारों के बारे में जान सकेंगे,
- नौकरशाही की भर्ती, प्रशिक्षण एवं पदोन्नति की विधियों की चर्चा कर सकेंगे,
- भारत में नौकरशाही की भूमिका का वर्णन कर सकेंगे,
- नौकरशाही से सम्बन्धित विवादों की विवेचना करने में सक्षम हो सकेंगे, और
- भारतीय नौकरशाही की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

नौकरशाही, आज विश्व की प्रमुख विशेषता के रुप में उभर कर हमारे सामने उपस्थित है। नौकरशाही एक सर्वव्यापी घटना बन गई है चाहे विकसित या अविकसित देश हो, सार्वजनिक या निजी बड़े संगठन, हम नौकरशाही से इतना अधिक मात्रा में प्रभावित होते हैं कि आज हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण नौकरशाही के दायरे में आ गया है। हॉन्स रोसनवर्ग ने ठीक ही लिखा है कि ''यह अच्छा है या बुरा शासन की वर्तमान संरचना का एक अनिवार्य भाग, व्यवसायिक प्रशासन की फैली हुई व्यवस्था और उसमें नियुक्त अधिकारियों का पदसोपान है, जिनके ऊपर समाज पूर्णतया आश्रित है। चाहे हम उग्र प्रकार की सर्वसत्तात्मक तानाशाही के अधीन रहते हों या उदार लोकतंत्र के अधीन, हम बहुत अधिक हद तक किसी न किसी प्रकार की नौकरशाही के द्वारा शासित हैं।''

'नौकरशाही' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग विन्सेंट डी0 गोरनी ने 1745 किया था। 'नौकरशाही' का शाब्दिक अर्थ 'डेस्क सरकार' है। नौकरशाही को ठीक ढंग से एवं सर्वमान्य रुप से परिभाषित करना कठिन है। इसका कई अर्थो में जैसे– जीवन का एक ढंग के रुप में, एक सिद्धान्त तथा एक संस्था की पहचान करने के लिए प्रयोग किया जाता था। शुरुआत में 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग ऐसी सरकार को बताने के लिए किया गया जो अधिकारियों के द्वारा चलाई जाती है।

नौकरशाही सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग है जिस पर सरकार की नीतियो, योजनाओं व कार्यक्रमों को सफलता पूर्वक क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी होती है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना से इनका महत्व और बढ़ गया है। प्रत्यायोजित विधायन के कारण अधिकारी तंत्र को अधिक शक्ति प्राप्त हो गयी है। नौकरशाही सामाजिक –आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्त कार्यों को करती है और नीतियों के निर्माण में सरकार को सहयोग प्रदान करती है।

भारत में आधुनिक नौकरशाही का विकास ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में हुआ। नौकरशाही के जो लक्षण ब्रिटिश काल में थे कमो–बेश वही विशेषतायें आज भी देखने को मिलती हैं। ब्रिटिश शासन काल में भारतीय नौकरशाही ने भारतीयों की अपेक्षा अंग्रेजी हितों की पूर्ति करने एंव सुचारु रुप से कार्य संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्हें ब्रिटिश काल की 'इस्पाती ढांचा' कहा जाता था।

इनकी उपयोगिता एवं महत्व को देखकर संविधान निर्माताओं ने इसे जारी रखने का निर्णय लिया और इस हेतु संविधान में कुछ प्रावधान भी किए गए।

15.2 नौकरशाही की अवधारणा

नौकरशाही की अवधारणा का विकास धीरे–धीरे हुई। नौकारशाही की अवधारण का विकास विद्वानों के निरन्तर चिन्तन–मनन का परिणाम है। नौकरशाही के सम्बन्ध में लास्की, कार्ल मार्क्स, हीगल, लेनिन, मोस्का, मैक्स वेबर तथा ट्राटस्की आदि ने अपने–अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर, नौकरशाही का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला प्रथम विद्वान था। मैक्स वेबर ने नौकरशाही शब्द को साकारात्मक अर्थो में प्रयोग किया जबकि इससे पहले नौकरशाही का नाकरात्मक अर्थ लगाया जाता था। वेबर ने एक विशिष्ट तरह की प्रशासनिक संगठन को बताने के लिए 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग किया। नौकरशाही पर जितना अध्ययन वेबर ने किया उतना शायद ही किसी ने किया हो। अतः नौकरशाही और वेबर एक दूसरे का पर्याय बन गये है।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही के आर्दश प्रारुप की अवधारणा प्रस्तुत करते समय शक्ति और सत्ता में अंतर स्पष्ट किया है। किसी व्यक्ति की अनिच्छा और विरोध के बावजूद अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करवा लेने को शक्ति कहते है। शक्ति व्यक्ति में निहित होती है। शक्ति को जब वैधता प्राप्त हो जाती है या कानून द्वारा मान्यता मिल जाती है तो वह सत्ता में बदल जाती है। सत्ता सदैव पद में निहित होती है, व्यक्ति में नहीं। इसीलिए जो व्यक्ति उस पद को प्राप्त करता है उसे उस पद से जुड़ी सभी सत्ता प्राप्त हो जाती है। जब कोई व्यक्ति उसपद को छोड़कर जाता है तो दूसरा व्यक्ति उस पद पर बैठता है ऐसे में सत्ता पद पर बैठने वाले दूसरे व्यक्ति में स्थानान्तरित हो जाती है। नौकरशाही सत्ता का प्रयोग करके ही अपने आधीनस्थों से कार्य करवाती है।

वेबर ने सत्ता के तीन प्रकार बताये है– 1) परम्परागत सत्ता, ये सत्ता व्यक्ति को अपने पूर्वजों से प्राप्त होती है। यह सत्ता बहुत समय से चली आ रही परम्पराओं एवं विश्वास पर आधारित होती है। यह एक निश्चित समय के बाद समाप्त हो सकती है। 2) चमत्कारिक सत्ता, यह सत्ता विशिष्ट या अद्भुत गुण रखने वाले व्यक्ति को प्राप्त होती है। करिश्मा के आधार पर लोगों पर सत्ता स्थापित किया जाता है। चमत्कारी व्यक्ति की समाप्ति या अद्भूत गुण के समाप्त होते ही यह सत्ता समाप्त हो जाती है। 3) कानूनी या विवेकपूर्ण सत्ता, यह सत्ता कानूनों, नियमों एंव ताक्रिक आधार पर स्थापित की जाती है। वेबर इसी सत्ता को सही और उचित मानता है, जिसका प्रयोग प्रशासनिक अधिकारी करते है। वेबर की नौकरशाही की अवधारणा इसी सत्ता पर आधारित है। यह सत्ता पद के साथ जुड़ी होती है और पदासीन व्यक्ति को नियमों के अन्तर्गत आदेश व काम करवाने की सत्ता मिल जाती है।

वेबर ने नौकरशाही को परिभाषित नहीं किया है बल्कि केवल उसके विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है। वेबर ने नौकरशाही के आदर्श प्रारुप की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है– 1) पदसोपान पद्धति, 2) योग्यता के आधार पर कार्यो का विभाजन, 3) निवैयक्तिक सम्बन्ध, 4) नियमों का कठोरता से पालन अर्थात नियमों के अधीन कार्य करने का एक निश्चित औपचारिक प्रक्रिया, 5) निश्चित सेवाकाल एवं निश्चित वेतन भोगी, 6) योग्यता के आधार पर चयन, 7) अधिकारिक रिकार्ड या फाइलिंग प्रणाली का व्यापक प्रयोग।

वेबर के आदर्श नौकरशाही की जितनी अधिक आलोचना की गई, उतनी शायद ही प्रशासन की किसी अन्य अवधारणा की हुई होगी। इन आलोचनाओं के बावजूद यह सत्य है कि इसने प्रशासन के क्षेत्र में अध्ययन एवं विवेचना का मार्ग–प्रशस्त किया। अधिकांश विद्वानों ने नौकरशाही की आलोचना की है। लेनिन तथा माक्रस नौकरशाही के आलोचक थे। इनका मानना था कि नौकरशाही परजीवी है, जो बुर्जुआ समाज से सम्बन्धित है। इनके अनुसार नौकरशाही शोषणकारी पूंजीवादी समाज के शोषण को लगातार जारी रखने वाले अवजार के रुप में काम करती है। इसका प्रयोग पूंजीवादी समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखने एवं सर्वहारा समाज पर नियंत्रण रखने में किया जाता है। यह अक्षम एंव अज्ञान लोगों की संस्था है। अन्य विद्वानों ने नौकरशाही की कार्यप्रणाली एवं उनके व्यवहार के वजह से इसकी आलोचना की है।

15.3 नौकरशाही के प्रकार

एफ0एम0 माक्रस ने नौकरशाही पर अध्ययन किया। अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने नौकरशाही के चार प्रकारों के बारे में बताया जो निम्नलिखित है–

1. **अभिभावक नौकरशाही**– यह नौकरशाही अपने को जनता के हितों का संरक्षक या अभिरक्षक मानती है। इनकी ऐसी सोच होती है कि राज्य में यही एक वर्ग है जो जनता के हितों का संरक्षण कर सकता है। ऐसी नौकरशाही कार्य कुशल ईमानदार, सक्षम एवं निःस्वार्थ होती है किन्तु जनता के प्रति अपने को उत्तरदायी नहीं मानती। यदि जनता इनके निर्णयों के विरुद्ध कुछ कहती है, तो वे यह कहकर जनता को चुप करा देती है कि उन्हें अपने हितों का ज्ञान नहीं है।

2. **जातीय नौकरशाही**– इस प्रकार की नौकरशाही को विलोबी ने 'कुलीन तंत्र' कहा है, जो कुछ वर्षों पहले इंग्लैण्ड में पायी जाती थी। जब सत्ता एक विशेष वर्ग के हाथो में आ जाता है तो इस प्रकार की नौकरशाही का जन्म होता है। इस तरह की नौकरशाही सत्ता को सदैव अपने हाथ में बनाये रखने का प्रयास करती है। जातीय नौकरशाही में भर्ती उन्हीं लोगों को की जाती है, जिनके परिवार के सदस्य या सम्बन्धी रिश्तेदार नौकरशाही के अंग हैं, अर्थात भाई–भतीजावाद के आधार पर भर्ती की जाती थी।

3. **संरक्षक नौकरशाही**– इस प्रकार की नौकरशाही को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त होता है। इसमें भर्ती योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती हैं। इस प्रकार की नौकरशाही में, निर्वाचन में विजित राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को शासन के उच्च पदों पर नियुक्त कर देते हैं। ऐसी ही पद्धति अमेरिका में है जिसे 'लूट पद्धति' या 'पद पुरस्कार पद्धति' कहा जाता है। ऐसी नौकरशाही भ्रष्ट एवं अकुशल होती है।

4. **योग्यता या गुणात्मक नौकरशाही**:– इस प्रकार की नौकरशाही में भर्ती पक्षपात रहित एवं योग्तया के आधार पर की जाती है, जबकि इसके पूर्व की तीनों में भर्ती पक्षपात पूर्ण होती है। इस नौकरशाही में भर्ती होने के लिए सभी को समान अवसर दिये जाते हैं। आजकल लगभग सभी देशों में नौकरशाही का यही प्रकार प्रचलित है। ऐसी नौकरशाही कुशल एवं निर्भयतापूर्ण नियमों के अनुसार कार्य संचालन करती है।

15.4 औपनिवेशिक काल में नौकरशाही

भारत में आधुनिक नौकरशाही का विकास ब्रिटिश शासन काल के दौरान धीरे–धीरे किये गये संवैधानिक सुधारों के माध्यम से हुई। ब्रिटिश शासन काल के प्रारम्भिक चरण में संरक्षक नौकरशाही कार्यरत थी किन्तु बाद में योग्यता नौकरशाही की शुरुआत की गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यों में वृद्धि हुई तो लार्ड क्लाइव ने कम्पनी की सेवाओं को दो भागों कवेनेण्टेड तथा अकवेनेण्टड में विभाजित कर दिया। कम्पनी के असैनिक कर्मचारियों को प्रतिज्ञाबद्ध नागरिक सेवा कहा जाता था। वारेन हेस्टिंग्ज एवं लार्ड कार्नवालिस जैसे गर्वनर–जनरलों ने सिविल सेवा की आधारशिला रखी, जिसे आधुनिक नौकरशाही की शुरुआत माना जा सकता है। सिविल सेवा शब्द का प्रयोग सैन्य कर्मचारियों से अन्य सरकारी कर्मचारियों में अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया गया था।

लार्ड कार्नवालिस ने भारतीय सिविल सेवा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। उसने प्रशासन में पदोन्नति के लिए वरिष्ठता के सिद्धान्त को लागू किया। इसके शासन काल से ही सिविल सेवा में उच्च पदों पर प्रवेश के द्वार (दरवाजें) भारतीयों के लिए बन्द थे। इसने प्रशासन के उच्च पदों पर यूरोपीयों को ही नियुक्त किया। 1853 के चार्टर एक्ट में व्यवस्था की गई कि सभी व्यक्ति समान रुप से सिविल सेवा की खुली प्रतियोगिता में भाग ले सकते हैं, किन्तु इसे व्यवहार में नहीं लाया गया, परिणाम स्वरुप सिविल सेवाओं के उच्च पदों का भारतीयकरण करने की मांग की गई। खुली प्रतियोगिता परीक्षा इंग्लैण्ड में होती थी। यह परीक्षा विदेशी भाषा में होती थी जो यूनानी एवं यूरोपीय ज्ञान पर आधारित होती थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने प्रथम अधिवेशन में लोक सेवा परीक्षा को भारत एवं इंग्लैण्ड में एक साथ कराने की मांग की। इन मांगों को देखते हुए एवं भारी दबाव के कारण सरकार ने लोक सेवा की सभी शाखाओं में भारतीयों की भर्ती करने के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए 1886 में एक आयोग गठित किया। इस आयोग के अध्यक्ष चार्ल्स एचिसन थे। इस आयोग के सुझाव पर लोक सेवा को तीन श्रेणीयों में बाँटा गया– 1) इम्पीरियल लोक सेवा, 2) प्रान्तीय सेवा, 3) अधीनस्थ सेवा। प्रथम श्रेणी की सेवा में उच्चस्तरीय पदों को रखा गया जिसके सम्बन्ध में आयोग ने सुझाव दिया कि इसमें भारतीय एवं यूरोपीय दोनों को भर्ती की जाये। शेष दोनों श्रेणीयों की सेवाओं में केवल भारतीय ही रखे जाएँ। लोक सेवा की परीक्षा पूर्व की तरह ही इंग्लैण्ड में होती रही जिससे उच्च पदों पर भारतीयों की संख्या में बढ़ोत्तरी कुछ खास नहीं हो पायी। सिविल सेवाओं के भारतीयकरण करने का दबाव दिनों–दिन बढ़ता जा रहा था। अधिक दबाव के कारण ब्रिटिश सरकार ने 1919 के अधिनियम द्वारा सिविल सेवाओं में कुछ परिवर्तन किया। सरकार सिविल सेवा की परीक्षा इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ लिये जाने पर सहमत हो गई। सिविल सेवा के उच्च पदों में से 1/3 सीटें भारतीयों के लिए आरक्षित कर दी गईं और कहा गया कि प्रतिवर्ष इसमें 1.5 प्रति"ात भारतीयों की संख्या बढ़ाई जाती रहेगी। इन सुधारों से सिविल सेवा में भारतीयों की संख्या में वृद्धि तो हुई किन्तु भारतीय इतने से संतुष्ट नहीं थे, परिणाम स्वरुप सिविल सेवा के भारतीयकरण की मांग और तेज हो गई। इस सम्बन्ध में 1923 में एक आयोग गठित किया गया जिसने उच्च सेवाओं को तीन श्रेणीयों में– 1) अखिल भारतीय, 2) केन्द्रीय तथा 3) प्रान्तीय सेवाए, वर्गीकृत किया। इसने सुझाव दिया कि सिविल सेवा के उच्च पदों को चालीस प्रतिशत भारतीयों से और चालीस प्रतिशत यूरोपियों से प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा तथा शेष बीस प्रतिशत पदों को प्रान्तीय सेवा से पदोन्नति द्वारा भरा जाये। इसने भारत में लोक सेवा आयोग के गठन की सिफारिश की। सरकार ने इसकी सिफारिशें

स्वीकार कर लीं। भारत में 1926 में लोक सेवा आयोग का गठन किया गया, जिसने 1927 में प्रथम प्रतियोगी परीक्षा सम्पन्न कराई। 1935 के अधिनियम द्वारा भारत में एक संघ लोक सेवा आयोग एवं सभी प्रान्तों के लिए अलग–अलग लोक सेवा आयोग का गठन किया गया।

भारतीय सिविल सेवा के अधिकारियों को अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। ये स्थाई एवं वतेन भोगी थे, अंग्रेज इनके दम पर ही भारत में शासन संचालन करते थे। इसने अंग्रेजी सरकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वंतन्त्रता के पश्चात् भारत ने भारतीय सिविल सेवा की कार्य कुशलता, सक्षमता एवं उपयोगिता को देखकर अंग्रेजो से विरासत में मिली इस सेवा को जारी रखा। संविधान सभा द्वारा संविधान में इससे सम्बन्धित कुछ प्रावधान भी रखे गया। ब्रिटिश शासन काल की सर्वाधिक प्रतिष्ठित सेवा 'भारतीय सिविल सेवा' और 'भारतीय पुलिस' आजादी के बाद भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं भारतीय पुलिस सेवा में परिवर्तित हो गई।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी – 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) अपने उत्तरों को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

1– मैक्स वेबर ने सत्ता के कितने प्रकार बताये हैं?

.....

.....

2– मैक्स वेबर के आदर्श प्रकार की नौकरशाही की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

3– एफ0एम0 माक्रस ने नौकरशाही के कितने प्रकार बताये हैं?

.....

.....

15.5 आजाद भारत में नौकरशाही

आज़ाद भारत में ब्रिटिश शासन काल से चली आ रही नौकरशाही को कुछ खास परिवर्तन किये बिना ही स्वीकार कर लिया। समय एवं परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन किये गये, किन्तु उसकी मूल विशेषता उसी रुप में बनी रही। इतना जरुर किया गया कि विरासत में मिली प्रशासनिक व्यवस्था को संवैधानिक आधार प्रदान कर दिया गया। इस भाग में हम स्वतंत्र भारत में नौकरशाही के वर्गीकरण, भर्ती, प्रशिक्षण तथा पदोन्नति के बारे में चर्चा करेगें।

15.5.1 वर्गीकरण

इसका अर्थ समान और एक जैसे गुण के आधार पर व्यक्तियों या वस्तुओं का समूहीकरण है। कार्मिक प्रशासन में वर्गीकरण का अर्थ दायित्यों एवं कर्तव्यों के आधार पर पदों का ऐसा समूहीकरण है, जिससे मोटे तौर पर कुछ वर्ग बन जाये। जिन पदो के कर्तव्य तथा दायित्व एक जैसे होते हैं उन्हें एक वर्ग में रख दिया जाता है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि वे पद किस विभाग के अर्न्तगत आते है। पिफ़्नर के अनुसार ''वर्गीकरण से हमारा तात्पर्य यह है कि समान कार्य कि समान कार्य तथा समान उत्तरदायित्व वाले पद एक ही श्रेणी में रखे जाते हैं, चाहे वे किसी भी विभाग अथवा सेवा से सम्बन्धित हो।" विभिन्न देशों में वर्गीकरण के दो प्रकार प्रचलित है– 1) कत्तर्व्य वर्गीकरण, यह अमेरिका एवं कनाडा में प्रचलित है, 2) स्थिति वर्गीकरण, इस प्रकार का वर्गीकरण भारत, पाकिस्तान, ब्रिटेन, जर्मनी आदि देशों में प्रचलित है।

डॉ0 एम0पी0 शर्मा के अनुसार भारत में सरकारी कर्मचारियों के वर्गीकरण में तीन प्रमुख वर्ग हैं–सेवा, श्रेणी, स्तर। इनमें से सबसे ऊपर सेवा है, जो सबसे बड़ा है। श्रेणी, सेवा का उपवर्ग है तथा स्तर, श्रेणी का उपवर्ग है। भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय लेखा परिक्षण एवं लेखा सेवा, सचिवालय सेवा आदि सेवा वर्ग के उदाहरण हैं। इन वर्गों के भीतर विभिन्न श्रेणीयाँ होती है जैसे वरिष्ठ तथा कनिष्ठ और एक श्रेणी के भीतर अनेक स्तर हो सकते है, प्रत्येक स्तर के पदों का वेतन क्रम भिन्न–भिन्न होता है।

भारत की लोक सेवाओं को वर्तमान समय में निम्नलिखित वर्गो एवं श्रेणियों में बांटा गया है–1) अखिल भारतीय सेवाएं, 2) केन्द्रीय सेवाएं, 3) राज्य सेवाएं, 4) केन्द्रीय सचिवालयी सेवाएं, 5) विशिष्ट सेवाएं।

अखिल भारतीय सेवाएं– प्रारम्भिक भारतीय संविधान में दो अखिल भारतीय सेवाओं, भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई0ए0एस0) तथा भारतीय पुलिस सेवा (आई0पी0एस0) का उल्लेख है। संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार संसद नई अखिल भारतीय सेवा का गठन कर सकती है, किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब राज्य सभा इस सम्बन्ध में विशेष बहुमत से एक प्रस्ताव पारित कर दे। इस तरह 1966 में एक नई अखिल भारतीय सेवा 'भारतीय वन सेवा' का गठन किया गया। अतः वर्तमान समय में भारत में कुल तीन अखिल भारतीय सेवाएं हैं। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा खुली प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से की जाती है। ये अधिकारी अनुच्छेद 310 के अनुसार राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहते हैं। अनुच्छेद 311, इन अधिकारियों को संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करता है। ये अधिकारी भर्ती एवं प्रशिक्षण के बाद राज्यों में नियुक्त किये जाते हैं, किन्तु ये प्रतिनियुक्ति पर केन्द्र में अपनी सेवायें भी देते हैं और निश्चित अवधि के बाद उन्हें वापस अपने राज्य में भेज दिया जाता है, अर्थात् अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी केन्द्र तथा राज्यों दोनों में कार्य करते है। इन अधिकारियों की सेवा शर्तों के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त है। राज्य सरकारें इन अधिकारियों के विरुद्ध केवल अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती हैं। इन अधिकारियों को पद से हटाने की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त है, किन्तु सेवा मुक्त करने से पूर्व राष्ट्रपति को संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक है।

केन्द्रीय सेवाऐं– केन्द्रीय सेवाओं के कर्मचारी केन्द्र सरकार के नियंत्रण में रहकर कार्य करते हैं। इस सेवा के कर्मचारी केन्द्रीय सूची के विषयों के कुशल संचालन के लिए उत्तरदायी होते हैं। केन्द्रीय सेवा के कर्मचारियों को प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी और चतुर्थ श्रेणी में बाँटा जाता है। केन्द्रीय सेवा के प्रथम व द्वितीय श्रेणी के कार्मिकों की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा अखिल भारतीय सेवा और केन्द्रीय सेवा के लिए संयुक्त रुप से खुली भर्ती प्रणाली द्वारा की जाती है। केन्द्रीय सेवा के कुछ उदाहरण– भारतीय विदेश सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय आर्थिक सेवा आदि, प्रथम श्रेणी की और केन्द्रीय एक्साइज सेवा, डाक निरीक्षण सेवा, पोस्टमास्टर सेवा आदि द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवायें है। केन्द्रीय सेवाओं को राजपत्रित (गजटेड) और अराजपत्रित के आधार पर भी बाँटा जाता है। राजपत्रित अधिकारी वे होते हैं जिनकी भर्ती, पदोन्नति तथा सेवा निवृत्ति आदि के सम्बन्ध में सूचना सरकार के गजट में प्रकाशित की जाती है। अराजपत्रित पद वे होते हैं जिनके बारे में सरकारी गजट में सूचना नहीं छपती। तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी राजपत्रित नहीं होते इस श्रेणी में लिपिकीय व चपरासी जैसे कर्मचारियों को रखा जाता है।

राज्य सेवाएं– भारत में सभी राज्यों की अपनी अलग लोक सेवाएं हैं, जिनकी भर्ती राज्य लोक सेवा आयोग एवं अन्य अभिकरणों द्वारा की जाती है। राज्य सेवाओं के कर्मचारी राज्य सरकार के पूर्ण नियंत्रण में रहकर कार्य करते हैं। ये कर्मचारी राज्य के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों के कुशल संचालन व प्रशासन का कार्य करते हैं। अखिल भारतीय सेवाओं के रिक्त पदों में से 1/3 पद राज्य सेवा के अधिकारियों के पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। राज्य सेवा के कर्मचारियों को चार श्रेणीयों– प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी में बांटा जाता हैं। प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के कार्मिक अधिकारी वर्ग के होते हैं जिनकी भर्ती राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा खुली भर्ती प्रणाली के माध्यम से की जाती है। राज्य सेवा के अधिकारियों को राजपत्रित एवं अराजपत्रित के आधार पर भी बांटा जाता है। अनुच्छेद 310 के अनुसार राज्य सिविल सेवा के अधिकारी राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर कार्यरत रहते हैं। इन अधिकारियों को पदमुक्त करने के पूर्व राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक है। संविधान के अनु0–311 की सुरक्षात्मक व्यवस्था इन अधिकारियों को भी प्राप्त है। तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों की संख्या सबसे अधिक है। यही वर्ग वास्तव में कार्यक्रमो एवं योजनाओं को लागू करते हैं। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी राज्य सेवा का सबसे निचली सेवा है जैसे– चपरासी, चौकीदार, संदेशवाहक आदि, जो संख्या में दूसरे नम्बर पर आते हैं।

समय–समय पर गठित होने वाला वेतन आयोग ने भी सेवाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में सिफारिशें करता है। सेवा की चार श्रेणियाँ– प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी, पहले से ही चली आ रही थीं। तीसरे केन्द्रीय वेतन आयोग ने भारत सरकार के अधीन सिविल सेवाओं को चार वर्गो प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ के स्थान पर चार पद समूहो– ग्रुप ए, बी, सी एवं डी में बाँटने की सिफारिश की थी। चौथे केन्द्रीय आयोग ने इस वर्गीकरण को सही एवं उचित ठहराया। पाँचवे वेतन आयोग ने वर्तमान पद आधारित वर्गीकरण के आधार की जगह पर व्यवसाय आधारित वर्गीकरण करने की सिफारिश की थी। इसने यह भी सिफारिश की कि वे सेवाओं को राजपत्रित व अराजपत्रित वर्गों में बांटने की व्यवस्था को समाप्त किया जाना चाहिए।

15.5.2 भर्ती

साधारण रुप से भर्ती से यह आशय लगाया जाता है कि विभिन्न सेवाओं के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की खोज करना। सामान्यतः 'भर्ती' और 'नियुक्ति' दोनों शब्दों को एक समान अर्थ के लिए प्रयोग किया जाता है। भर्ती का अर्थ दो तरह से लगाया जाता है– 1) नकारात्मक, 2) सकारात्मक। नकारात्मक भर्ती का मतलब है अयोग्य लोगों को सेवाओं में आने से रोकना तथा सकारात्मक भर्ती का मतलब है योग्य या पात्र व्यक्तियों को सेवाओं में प्रवेश देना अर्थात सेवाओं के लिए योग्य व्यक्तियों को चुनना। भर्ती एक लम्बी प्रक्रिया है जो विभिन्न चरणो में पूरी होती है। भर्ती के विभिन्न चरण हैं–1) पदों की आवश्यकता, 2) भर्ती की शर्तें, योग्यताओं का निर्धारण, 3) आवेदन का प्रारुप तैयार करना, 4) समाचार पत्रों एवं रोजगार पत्रों में विज्ञापन, 5) आवेदन प्राप्त करना एवं उसकी जांच, 6. परीक्षा एवं साक्षात्कार करवाना, 7) प्रमाणीकरण, 8) चयन, 9) नियुक्ति, 10) पदस्थापन।

भर्ती करने के लिए दो प्रकार के तरीकों को अपनाया जाता है– 1. प्रत्यक्ष भर्ती (खुली भर्ती प्रणाली) इसे खुली प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है, जिसमें योग्यता रखने वाले सभी व्यक्ति इसमें शामिल हो सकते है। 2. अप्रत्यक्ष भर्ती, इस प्रकार की भर्ती पहले से सेवारत कर्मचारियों में से पदो को भरा जाता है, अर्थात पदोन्नति द्वारा भरा जाता है।

भारत में भर्ती के दोनों तरीकों को अपनाया जाता है। जैस अखिल भारतीय सेवा के खाली पदों में से 1/3 पद राज्य सेवा के अधिकारियों को पदोन्नत करके तथा शेष संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित खुली भर्ती या प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा की जाती है। इसी प्रकार अन्य सेवाओं में भी भर्ती के दोनों प्रकारों को लागू किया जाता है। अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं एवं राज्य सेवाओं के प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के कर्मचारियों की भर्ती संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा त्रि–स्तरीय प्रतियोगिता – प्रारम्भिक, लिखित एवं मौखिक परीक्षा द्वारा किया जाता है। सिविल सेवा में अभ्यार्थियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण डी0एस0 कोठारी समिति की सिफारिश पर छटनी परीक्षा (प्रारम्भिक परीक्षा) शुरु की गई। संघ लोक सेवा आयोग ने पहली बार 1979 में प्रारम्भिक परीक्षा करायी और तब से चली आ रही है। केन्द्रीय सेवाओं एवं राज्य लोक सेवा में आरक्षण की व्यवस्था लागू है। इन सेवाओं की परीक्षा में बैठने के लिए कम से कम स्नातक होना चाहिए। केन्द्रीय तथा अखिल भारतीय सेवा के लिए संघ लोक सेवा आयोग द्वारा कराई जाने वाली परीक्षा में बैठने के लिए सामान्य वर्ग को 21 से 30 वर्ष की आयु तक और अधिक से अधिक चार बार बैठने का मौका दिया जाता है। पिछड़े वर्ग के अभ्यर्थी 21 से 33 वर्ष तक और सात बार बैठ सकते है, वहीं अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थी 21 से 35 वर्ष की आयु सीमा तक परीक्षा दे सकता है। राज्य सेवाओं में भर्ती की अधिकतम आयु सीमा सभी राज्यों में अलग–अलग है।

15.5.3 प्रशिक्षण

लोक सेवा में भर्ती किये जाने के बाद प्रशिक्षण दिया जाता है। सिविल सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिये जाने का कार्य ब्रिटिश शासन काल से चला आ रहा है। लार्ड वेलेजली ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की थी। प्रशिक्षण का अर्थ है लोक सेवकों को कार्य के लिए तैयार करना है। जब कार्मिक की कुशलता,

शक्ति, बुद्धि एवं दृष्टिकोण को एक निश्चित दिशा में सशक्त करने का प्रयास किया जाता है तो वह प्रशिक्षण कहलाता है। विलियम जी0 टॉर्पी के अनुसार ''प्रशिक्षण कर्मचारियों की कुशलता, आदतें, ज्ञान एवं दृष्टिकोण विकसित करने की एक प्रक्रिया है, जिससे कर्मचारियों की उनकी वर्तमान सरकारी स्थितियों में प्रभावशीलता बढ़ाई जा सके और साथ ही उन्हें भावी सरकारी स्थितियों के लिए तैयार किया जा सके।" प्रशिक्षण का उद्देश्य क्षमता एवं दक्षता में वृद्धि करना है।

भारत में सिविल सेवा के अधिकारियों को सेवा कालीन प्रशिक्षण दिया जाता है अर्थात् सेवा में नव–प्रवेशित एवं पहले से सेवारत अधिकारियों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है। भारत में अखिल भारतीय सेवा, केन्द्रीय सेवा एवं राज्य सेवा के उच्च अधिकारियों को संस्थागत तथा व्यवहारिक दोनो प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है। अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवा के प्रथम श्रेणी के अधिकारियों को एक साथ आधारभूत प्रशिक्षण लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी में दिया जाता है। इसके बाद केन्द्रीय सेवा के अधिकारियों को उनकी सेवा के अनुरुप विभिन्न संस्थानों में विशेष प्रशिक्षण दिया जाता हैं। भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षण सरदार बल्लभ भाई पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद में दिया जाता है। भारत में कुछ विभागों के अपने प्रशिक्षण संस्थान भी है जहाँ उनके विभागीय अधिकारियों, कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया जाता है। सभी राज्यों ने अपने सिविल सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण संस्थान बना रखे है।

भारत में लोक सेवाको को प्रशिक्षित करने के लिए प्रमुख प्रशिक्षण संस्थान निम्नलिखित है– लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक (मसूरी), सरदार बल्लभ बाई पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी (हैदराबाद), भारतीय लोक प्रशासन संस्थान (नई दिल्ली), सचिवालय प्रशिक्षण तथा प्रबन्ध संस्थान (नई दिल्ली), प्रशासनिक स्टाफ कालेज (हैदराबाद), राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान (हैदराबाद), रेलवे स्टाफ कालेज (बड़ौदा), भारतीय लेखा प्रशिक्षण एवं लेखा सेवा के अधिकारियों को विभागीय प्रशिक्षण स्कूल (शिमला) तथा राजस्व सेवा के अधिकारियों व कर्मचारियों को प्रशिक्षण, राष्ट्रीय प्रत्यक्ष कर अकादमी (नागपुर) में दिया जाता है।

15.5.4 पदोन्नति

लोक सेवा के कर्मचारियों की कुशलता एवं दक्षता को बनाये रखने एवं बढ़ाने के लिए उन्हें कुछ प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है। कर्मचारी की पदोन्नति उसके लिए प्रेरणा का काम करती है। पदोन्नति कर्मचारियों के लिए एक पुरस्कार के समान है जो उसके कठिन परिश्रम एवं निष्ठा से किये गये कार्य के लिए दिया जाता है। सेवाओं में अच्छी पदोन्नति की व्यवस्था कर्मचारियों को सेवा में बनाये रखने के लिए आवश्यक है। पदोन्नति का साधारण अर्थ है कर्मचारियों को निम्न वर्ग या निम्न वेतनमान से उच्च वर्ग या उच्च वेतनमान के पद पर नियुक्त किया जाना। एल0डी0 ह्वाइट के अनुसार "पदोन्नति का अर्थ एक पद से दूसरे ऐसे पद पर नियुक्त, जो उच्चतर श्रेणी का है तथा जिसमें कठिनतर प्रकृति एवं अधिक बड़े उत्तरदायित्व का कार्य करना पड़ता है। इसमें पद का नाम बदल जाता है तथा प्रायः वेतन में वृद्धि हो जाती है।" अपने वेतनमान में ही वार्षिक वृद्धि को पदोन्नति नहीं कहा जा सकता। अतः पदोन्नति, पद एवं वेतनमान दोनों में साकारात्मक परिवर्तन से है।

सामान्य तौर पर पदोन्नति के दो सिद्धान्त है– 1) वरिष्ठता का सिद्धान्त, इसमें सेवा अवधि के आधार पर पदोन्नति दी जाती है। 2) योग्यता का सिद्धान्त,

इसमें पदोन्नति योग्यता के आधार पर दी जाती है। भारत में लोक सेवकों की पदोन्नति के लिए उक्त दोनों सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। पदोन्नति में कहीं पर वरिष्ठता सिद्धान्त को वरीयता दी जाती है तो कहीं पर योग्यता सिद्धान्त का। भारत में पदोन्नति का कार्य सरकार या संबन्धित विभाग के प्रमुख द्वारा किया जाता है। शासन के उच्च पदों पर पदोन्नतियाँ करते समय संघ लोक सेवा आयोग से भी परामर्श लिया जाता है। इसी प्रकार राज्य शासन के उच्च पदों पर पदोन्नतियाँ करते वक्त राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श लिया जाता है। जब सेवा की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नति की जाती है तो वित्त मंत्रालय की भी स्वीकृति ली जाती है। विभागीय सचिवों के पद पर पदोन्नति करते समय केन्द्र में प्रधानमंत्री तथा राज्य के मुख्य मंत्री की अनुमति भी ली जाती है। राज्य सिविल सेवा से भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नति की जाती है, इसके लिए एक समिति बनाई जाती है, जिसमें संघ लोक सेवा आयोग का एक सदस्य एवं संबंधित राज्य का वरिष्ठ आई0ए0एस0 अधिकारी होता है। यह समिति राज्य प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ व योग्य अधिकारियों की सूची बनाती है, जिनको भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नत किया जा सकता है। इस सूची के अधिकारियों को भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नति संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श से सरकार द्वारा की जाती है।

15.6 भारत में नौकरशाही की संगठनात्मक संरचना

भारत में शासन की संसदीय प्रणाली लागू है। इस प्रणाली के अनुसार वास्तविक कार्यपालिका मंत्रिपरिषद् होती है, जिसके पास शासन की वास्तविक शक्ति होती है। भारत सरकार की शक्तियाँ एवं कार्य मंत्रालयों/विभागों में विभाजित होती हैं। मंत्रालयों/विभागों को दिये गये कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए उन्हें सहायता एवं सलाह देने हेतु सचिवालय का गठन किया गया है। सचिवालय का तात्पर्य विभिन्न मंत्रालयों/विभागों के समूह से है। सचिवालय में मंत्रालयों/विभागों के कार्यालय और संबन्धित मंत्रालय/विभाग के नौकरशाहो के कार्यालय होते हैं। सचिवालय को सचिवों का घर भी कहा जाता है। भारतीय शासन व्यवस्था में सचिवालय का प्रमुख स्थान है। सचिवालय में उच्च पद पर कार्यरत वरिष्ठ एवं अनुभवी सिविल सेवक को नौकरशाह कहते है और इससे बने संगठन को नौकरशाही तंत्र कहते है, जबकि अधिकारी तन्त्र में देश में कार्यरत समस्त अधिकारियों को शामिल किया जाता है। इस तरह से नौकरशाही, अधिकारी तंत्र के वरिष्ठ एवं अनुभवी सिविल सेवाकों का अपेक्षाकृत छोटा समूह होता है जो शासन के उच्च प्रशासनिक पदों पर कार्यरत है और प्रमुख रुप से नीति–निर्माण, आदेश–निर्देश एवं समन्वयात्मक कार्य करते है।

भारत सरकार के कार्यो को पूरा करने में उन्हें सहायता व सलाह देने के लिए तीन संगठन प्रधानमंत्री सचिवालय, मंत्रिमण्डल सचिवालय एवं केन्द्रीय सचिवालय है। प्रधानमंत्री सचिवालय प्रधानमंत्री को एवं मंत्रिमण्डल सचिवालय मंत्रिमण्डल को प्रशासनिक कार्यो में सहायता व परामर्श प्रदान करता है। केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग होते है, जिनकी संख्या घटती बढ़ती रहती है। मंत्रालय, विभाग में, विभाग प्रभाग में, प्रभाग शाखा में और शाखा अनुभागों में विभक्त होता है। मंत्रालय/विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष मंत्री और प्रशासकीय अध्यक्ष प्रमुख सचिव या सचिव होता है। प्रत्येक उपविभाग का प्रमुख अधिकारी संयुक्त अथवा अतिरिक्त सचिव होता है। प्रत्येक उपविभाग दो भागों में बटाँ होता है जिसका अधिकारी उपसचिव होता है। आमतौर पर प्रत्येक प्रभाग में दो शाखाएं होती हैं और शाखा के अधिकारी को अवर सचिव कहते हैं। प्रत्येक

शाखा में सामान्यतः दो अनुभाग होते है जिसके प्रमुख को अनुभाग अधिकारी कहते है और प्रत्येक अनुभाग में लिपिक, सहायक लिपिक तथा टंकणकर्ता आदि कर्मचारी कार्यरत होते हैं। मंत्रालय का कार्य अपने विभाग से सम्बन्धित कार्यों के विषय में नीति का निर्धारण करना, कार्यवान्वयन हेतु निर्देशन एवं पुनरावलोकन करना है। प्रत्येक मंत्रालय/विभाग में से निम्नलिखित संरचना देखने को मिलती है–

विभाग – प्रमुख सचिव/सचिव/अतिरिक्त सचिव/विशेष सचिव

उपविभाग – संयुक्त सचिव/अतिरिक्त सचिव

प्रभाग – निदेशक/उपसचिव

शाखा – अवर सचिव

अनुभाग – अनुभाग अधिकारी

केंन्द्र की तरह ही राज्यों में सचिवालय का गठन किया गया है, जो राज्य शासन का सर्वोच्च निकाय होता है। राज्य सचिवालय का प्रशासनिक संगठन कमो–बेश केन्द्र के समान ही है। राज्य सचिवालय के उच्च पदों पर नियुक्त भारतीय प्रशासनिक अधिकारियों व राज्य प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की पदोन्नत करके तथा केंन्द्र से प्रतिनियुक्ति पर की जाती है। प्रत्येक राज्य में सचिवालय का प्रमुख मुख्य–सचिव होता है। यह मुख्यमंत्री का प्रमुख परामर्शदाता होता है। मुख्य–सचिव राज्य में प्रशासनिक नेतृत्व प्रदान करता है तथा दिशा–निर्देश जारी करता है। यह राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार के बीच कड़ी के रुप में कार्य करता है। राज्य सचिवालय का कार्य सरकार के समस्त मंत्रालयों/विभागों एवं उसकी समितियों को सहायता प्रदान करता है। सचिवालय राज्य की राजधानी में स्थित होता है और मुख्यमंत्री के नियंत्रण में कार्य करता है।

15.7 नौकरशाही की भूमिका

वर्तमान समय में राज्य के बढ़ते कार्यो व उसके दायित्वों को पूरा करने की जिम्मेदारी नौकरशाही पर होती है। सरकार की सफलता एवं असफलता बहुत हद तक नौकरशाही पर निर्भर करती है। सरकार का स्वरुप चाहे कोई भी क्यों न हो, नौकरशाही का महत्व कम नहीं हो सकता। साम्यवादी और अधिनायकवादी स्वरुप वाले शासनों में भी नौकरशाही को अपरिहार्य माना जाता है। नेपोलियन तथा हिटलर की सफलता में उसकी नौकरशाही की महत्वपूर्ण भूमिका थी। हरमन फाइनर के अनुसार ''किसी भी देश का संविधान चाहे कितना भी अच्छा हो, उसके मंत्रिगण भी योग्य हों परन्तु बिना दक्ष प्रशासकों के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता। प्रो0 डोनहम ने तो यहाँ तक कहा है कि ''यदि हमारी सभ्यता असफल होती है तो वह मुख्यतः प्रशासन की असफलता के कारण होगी।'' बढ़ते औद्योगिकरण और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अपनाये जाने की वजह से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास में नौकरशाही की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। जवाहरलाल नेहरु का मत है कि ''नौकरशाही सभ्य जीवन की रक्षक मात्र ही नहीं वरन सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन का महान साधन है।'' प्रत्यायोजित विधायन के कारण नौकरशाही की शक्तियाँ एवं भूमिका दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। नीग्रो एवं नीग्रो ने ठीक ही लिखा है कि ''प्रशासनिक प्रक्रिया में लोक प्रशासन (नौकरशाही) दोहरी भूमिका निभाता है– 1) नीति निर्धारण के लिए वह आवश्यक सूचना और व्यावसायिक आधार प्रदान करता

है तथा 2) वह नीति के क्रियान्वयन और मूल्यांकन में मदद देता है। '' हम इस भाग में नौकरशाही की भूमिका के बारें में चर्चा करेंगे।

15.7.1 नीति–निर्माण

लोकतांत्रिक सरकार में विधायिका नीति–निमार्ण एवं कानून बनाने का काम करती है और नौकरशाही उसे लागू करती है। ये दोनों कार्य आपस में अर्न्तसम्बन्धित हैं। कोई भी नीति बनाने के लिए नीति–निर्माताओं को समस्या का स्पष्ट पता होना चाहिए और सम्बन्धित कुछ आंकड़े या सूचनाएं भी होनी चाहिए। इन सूचनाओं के एकत्रीकरण और जनता की समस्याओं व इच्छाओं को सरकार तक पहुँचाने का काम नौकरशाही करती है। नौकरशाही क्षेत्र में जनता के बीच कार्य करती है और ये स्थाई रुप से कार्यरत होती है, जिसके परिणामस्वरुप समस्याओं का स्पष्टीकरण तथा सम्बन्धित आंकड़े प्रदान करने की स्थिति में होती है। साधारणतया राजनीतिज्ञ इन सब जटिल प्रक्रियाओं से प्रायः अनभिज्ञ होते हैं जब कि नौकरशाही योग्य व तकनीकि रुप से विशेषज्ञ होते हैं। सरकार बदलती रहती है जब कि नौकरशाही में स्थाई लोक सेवक होते हैं जिन्हें कई सरकारों के साथ कार्य करने का अनुभव तथा पिछली सरकार के कार्यों की सूचना होती है, इस वजह से नौकरशाही के परामर्श को महत्व दिया जाता है। नीति–निमार्ण एवं योजनाओं के प्रारुप तैयार करने का कार्य नौकरशाही द्वारा ही किया जाता है।

15.7.2 नीति–क्रियान्वयन

नीति–निर्माण के बाद नीति क्रियान्वयन का दायित्व पूरी तरह से नौकरशाही पर होता है। नौकरशाही नीति को व्यवहार में क्रियान्वित करती है। जिसे समस्याओं का समाधान किया जा सके। नीति के क्रियान्वयन के लिए क्षेत्रों का चुनाव, लागतों का आकलन, अपेक्षित अतिरिक्त कार्मिकों की आवश्यकता आदि का आकलन का कार्य सुविज्ञ और विशेषज्ञ लोक–सेवकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। सरकार अनेक लोक–कल्याणकारी नीतियाँ व कार्यक्रम बनाती है, जिसकी सफलता व असफलता नौकरशाही पर निर्भर करती है। यदि नीति वास्तविक आकड़ों के आधार पर बनायी गयी हो तो उसे सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकता है। नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए प्रशिक्षण एवं योग्य नौकरशाहों की आवश्यकता होती है जिससे नीति को सफलतापूर्वक लागू किया जा सके। सरकार की सफलता या असफलता का आंकलन इन नीतियों के क्रियान्वयन के आधार पर ही किया जाता है। नौकरशाही नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए सम्बन्धित विभागों से समन्वय स्थापित करने का कार्य भी करती है।

15.7.3 नीति–मूल्यांकन

नीतियों के क्रियान्वयन के बाद नीतियों का मूल्यांकन किया जाता है, ताकि यह पता चल सके कि नीति जिस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनी थी वह पूरा हो पा रहा है या नहीं। यदि पूरा हो रहा है तो कहाँ तक, यदि नहीं, तो क्यों नहीं। नीति–मूल्यांकन करते समय यह भी देखा जाता है कि नीति जिस समुदाय या वर्ग के लिए बनी थी उसका लाभ उन्हें मिल रहा है या नहीं। इसमें यह भी देखा जाता है कि धन तथा अन्य संसाधनों का अपव्यय तो नहीं हुआ है। नीति मूल्यांकन के कार्य के तकनीकी एवं जटिल होने के कारण इस कार्य को योग्य एवं अनुभवी विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। योजना आयोग नई पंचवर्षीय योजना बनाते समय पिछली पाँच वर्षो में क्रियान्वित समस्त नीतियों की समीक्षा करता है।

वित्तमंत्री प्रत्येक वर्ष बजट प्रस्तुत करते समय विगत वर्ष की आर्थिक समीक्षा प्रस्तुत करता है। ये सभी समीक्षाएं तथा मूल्यांकन विशेषज्ञ और अनुभवी नौकरशाहों द्वारा की जाती हैं, जो दक्षता एवं प्रभावशीलता बनाये रखने में सहायक हैं।

15.7.4 विकास प्रशासन

वह प्रशासन जो विकासशील देशों के विकास तथा उन्नति के लिए कार्य करते हैं उसे विकास प्रशासन कहते हैं। प्रो0ए0 वीडनर के अनुसार विकास प्रषासन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्गदर्शन करता है। यह मुख्य रुप से एक कार्योन्मुखी एवं लक्ष्योन्मुखी प्रशासनिक प्रणाली पर जोर देता है। परिवर्तनशीलता, लचीलापन, सहभागिता, पारदर्शिता, नवाचार तथा जवाबदेयता आदि विकास प्रशासन की विशेषतायें हैं। आधुनिक एवं कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार रुप देने के लिए भारतीय नौकरशाही का स्वरुप विकासात्मक होता जा रहा है। आज नौकरशाही जनहित को प्राथमिकता देते हुए विकास, सुरक्षा व कल्याण को अपना मुख्य कार्य मानने लगा है। पहले नौकरशाही का कार्य यथा स्थिति एवं शान्ति व्यवस्था बनाये रखना होता था जबकि आज की नौकरशाही पूर्व की नियाकीय प्रकृति को छोड़कर विकासोन्मुखी हो गई है। इसी वजह से इसे विकास प्रशासन कहा जाता है। यह न केवल समाज के सर्वांगिण विकास का जरिया है, बल्कि बदली हुई परिस्थितियों के अनुरुप स्वयं की कार्य प्रणाली में भी सुधार लाती है जिसे प्रशासनिक विकास कहते हैं। प्रशासनिक विकास के अभाव में विकास प्रशासन असम्भव है। विकास प्रशासन कोई अलग से प्रशासनिक व्यवस्था नहीं होती बल्कि वर्तमान नौकरशाही की एक विशेषता है जो सामाजिक आर्थिक विकास के प्रति प्रतिबद्ध है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी – 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) अपने उत्तरों को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

1– भारत की तीन अखिल भारतीय सेवाओं का नाम बताइये तथा अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना कैसे की जा सकती है?

.....

.....

.....

2– पदोन्नति के सिद्धान्त को बताइये?

.....

.....

.....

3– नौकरशाही की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

15.8 अनामता एवं पाक्रिंसन लॉ

अनामता का अर्थ है गुमनाम अर्थात् नाम का न होना। अनामता का सिद्धान्त तटस्थता के नियम से निकला है। अनामता नौकरशाही की एक विशेषता है। नौकरशाही पर्दे के पीछे से कार्य करती है। नौकरशाही अपने किये गये कार्यों का श्रेय स्वयं नहीं लेती बल्कि इसके कार्यों का श्रेय राजनीतिज्ञ/मंत्री लेता है और इसके द्वारा किये गये कार्यों का उत्तरदायित्व भी उसी मंत्री को ही लेना पड़ता है। नौकरशाही द्वारा किये गये किसी कार्य के सम्बन्ध में विधायिका से पूछे जाने वाले सवालों का जवाब सम्बन्धित मंत्री ही देता है, नौकरशाह नहीं। नौकरशाही नीति–निर्माण एवं विधेयकों का प्रारुप बनाने आदि समस्त कार्य करती है किन्तु उसका नाम कहीं नहीं आता बल्कि नाम सम्बन्धित मंत्री का होता है अर्थात् नौकरशाही अपना कार्य जनता की दृष्टि से ओझल होकर करती है।

नौकरशाही की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने आकार एवं अपने सदस्यों की संख्या को निरन्तर बढ़ाती रहती है। अपना प्रभाव और शक्ति बढ़ाने के लिए कार्य अधिक न होने के बावजूद नौकरशाही अपने आकार में वृद्धि करती जाती है। विद्वानों ने इस बात की ध्यान खींचा है कि कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होने से कुशलता गिरती है। नौकरशाही के आकार और कार्य की मात्रा में कोई सम्बन्ध नहीं है, इस नियम को पाक्रिंसन लॉ कहा जाता है। अमरेश्वर अवस्थी ने इस नियम का बड़े अच्छे ढंग से विश्लेषण किया है इनके अनुसार नौकरशाही एक दूसरे के लिए काम पैदा करती है जिससे कर्मचारियों की संख्या प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिषत की औसत वृद्धि होती है। इस नियम में बताया गया है कि संख्या वृद्धि के निम्नलिखित कारण है– 1) अपना प्रभाव व शक्ति बढ़ाने की नौकरशाही की इच्छा। 2) नौकरशाही की संख्या बढ़ाकर काम के भार को कम कर लेना, जिससे आराम का अवसर प्राप्त हो जाए। 3) नौकरशाही अपने कार्य को अनावश्यक रुप से बढ़ा लेती है, अर्थात् पूरी क्षमता से कार्य नहीं करती और संख्या बढ़ा लेती है। 4) नौकरशाही यह चाहती है कि अधीनस्थों को पदोन्नति का भय दिखाकर अनुशासन में रख सके और जब इनमें पदोन्नति के लिए प्रतियोगिता हो जाएगी, ऐसी स्थिति में उसका कोई प्रतियोगी नहीं बन पायेगा। संख्या बढ़ने से कुशलता एवं दक्षता गिर जाती है और समस्यायें बढ़ जाती है। कार्य करने के बजाय नौकर"ाही कार्मिकों की समस्याओं के निपटाने में लगी रह जाती है।

15.9 नौकरशाही से सम्बन्धित विवाद :–

नौकरशाही से सम्बन्धित अनेक विवाद हैं जिनमें से हम कुछ प्रचलित विवादों पर विचार करेंगे।

15.9.1 सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ

सामान्यज्ञ से आशय ऐसे अधिकारी से है जिसे कोई विशेषज्ञता प्राप्त नहीं होती बल्कि यह सभी क्षेत्रों की सामान्य जानकारी रखता है। विशेषज्ञ से आषय ऐसे अधिकारी से जो किसी विशेष क्षेत्र में विशेष ज्ञान अर्थात् विशेषज्ञता रखता है। सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ विवाद की वजह यह है कि सामान्य अधिकारी शासन के उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते हैं और इनका स्थानान्तरण किसी भी विभाग के उच्च पदों पर होता रहता है और विशेषज्ञों को उसके अधीन रहकर अधीनस्थ के रुप में कार्य करना पड़ता हैं। सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों के पक्ष एवं विपक्ष में अनेकों

तक्र हैं, किन्तु वास्तविकता यही है कि सामान्यज्ञों को औपनिवेशिक काल से ही शासन के उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता रहा है और ऐसा ही चला आ रहा है। सामान्यज्ञ एक व्यवसायिक प्रशासक होता है, इसे इसी का प्रशिक्षण दिया जाता है। इन्हें विशेषज्ञों की अपेक्षा अधिक शक्ति एवं सुविधा प्राप्त होती है। तकनीकि प्रकृति के विभागों के उच्च पदों पर भी सामान्यज्ञों की नियुक्ति की जाती है परिणाम स्वरुप यह विवाद बढ़ता गया। वर्तमान में थोड़ी स्थिति सुधरी है क्योंकि अब तकनीकी प्रकृति वाले विभागों के उच्च पदों पर विशेषज्ञ अधिकारियों की नियुक्ति की जाने लगी है, फिर भी शासन के उच्च पदों पर सामान्यज्ञों का वर्चस्व बना हुआ है।

15.9.2 तटस्थता एवं प्रतिबद्धता

तटस्थता का अर्थ निष्पक्षता है। तटस्थता ब्रिटिश नौकरशाही की प्रमुख विशेषता थी, चूँकी नौकरशाही हमें अंग्रेजों से विरासत में मिली है इसलिए भारतीय नौकरशाही में भी तटस्थता का प्रभाव देखने को मिलता है। तटस्थता को दो नजर से देखा जा सकता है– 1) राजनीतिज्ञ को यह विश्वास होना चाहिए कि उससे जुड़ी नौकरशाही निर्भय होकर उसे उचित व सही सलाह एवं सहयोग प्रदान करेगी। 2) नौकरशाही को यह विश्वास होना चाहिए कि उसकी पदोन्नति, पदस्थापन, स्थानान्तरण राजनीति से प्रभावित नहीं होगा। लोकतांत्रिक देशों में सरकारें बदलती रहती है किन्तु नौकरशाही स्थिर रहती है। अतः उसे बदली सरकार के साथ काम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में नौकरशाही के लिए और सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह किसी दल के राजनीतिक मूल्यों से जुड़े बिना अपने दायित्वों का निर्वहन करे तथा सरकार को निष्पक्षता के साथ आवश्यक परामर्श एवं सहायता प्रदान करें। भारत की नौकरशाही अपने को राजनीति से मुक्त नहीं रख पाई है अर्थात् इस सिद्धान्त की मूल भावना के अनुसार काम नहीं कर सकी।

प्रतिबद्धता का आषय है किसी उद्देश्य के प्रति नैतिक समर्पण से है। विद्वानों द्वारा प्रतिबद्धता का अर्थ दो तरह से लगाया जाता है –1) सरकार की नीतियों के प्रति प्रतिबद्धता, 2) राजनीतिक दल के मूल्यों एवं राजनेता के प्रति प्रतिबद्धता। भारत में प्रतिबद्ध नौकरशाही की मांग इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में प्रारम्भ हुई थी। नौकरशाही की प्रतिबद्धता को लेकर विद्वानों में मतभेद है और सभी इसकी व्याख्या अपने–अपने ढंग से करते है।

नौकरशाही की प्रतिबद्धता यदि राजनीतिक दल के मूल्यों एवं राजनेता के प्रति प्रतिबद्धता से लिया जाता है तो ऐसी प्रतिबद्ध नौकरशाही भारत के राष्ट्रीय विकास के लिए उचित नहीं है। ऐसी प्रतिबद्धता स्वयं नौकरशाही के लिए भी सम्भव नहीं क्योंकि बदली सरकार के साथ अपने पूर्व के मूल्यों को अचानक त्याग नहीं सकता। यदि प्रतिबद्ध नौकरशाही का अर्थ सरकार की नीतियों, संविधान एवं अपने कर्त्तव्य के प्रति प्रतिबद्धता से है, तो इस प्रकार की प्रतिबद्ध नौकरशाही राष्ट्रीय विकास के साथ सामाज के बहुमुखी विकास के लिए मददगार है और आवश्यक भी। इस प्रकार की प्रतिबद्धता एवं तटस्थता एक–दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं।

15.9.3 मंत्री और सचिव

भारत में मंत्री और सचिव के मध्य सम्बन्ध रहता है, क्योंकि मंत्री विभाग का राजनीतिक प्रमुख होता है, जिसे मंत्रालय/विभाग के दायित्वों को पूरा करने में

मदद करने के लिए सचिव होता है। सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है, जो मंत्रालय का प्रशासनिक प्रमुख होता है। मंत्री और सचिव के बीच सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। सचिव का दायित्व है कि वह मंत्री को निर्भयता पूर्वक उचित परामर्श दे, परामर्श देते समय यह कदापि न सोंचें कि मंत्री नाराज होंगे या खुश। यदि मंत्री तथा सचिव के विचार मिलते हैं तो वे मंत्रालय का कार्य मिलकर करते हैं, किन्तु जब दोनों के विचारों में मतभेत होता है तो टकराव या विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। मंत्री–सचिव के बीच विवाद के कारण राजनीतिज्ञों की प्रशासनिक अज्ञानता, सामाजिक पृष्ठभूमि में अन्तर, अहं का टकराव, जवाबदेयता की कमी, कार्यशैली एवं अभिवृत्ति में अन्तर आदि हैं।

आजकल यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि जब नौकरशाही खुलकर, निष्पक्ष एवं निडर होकर अपने दायित्यों को निभाता है तो मंत्री इसे रुकावट डालने वाला व्यवहार समझते है। सामान्यतः मंत्री ऐसे नौकरशाहों को वरीयता देने लगे हैं जो बिना कोई सवाल किये उनका समर्थन करते हैं। इससे नौकरशाही में जी–हजूरी या यस मैंन की प्रवृत्ति पैदा हो गई है। ऐसी नौकरशाही मंत्री के मनोभाव के अनुकूल रिपोर्ट पेश करती है ताकि मंत्री जी खुश रहें और मनचाही जगह पर स्थानान्तरण या पदोन्नति हो सके। वोहरा समिति ने कहा कि भारत में राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों एवं अपराधी माफिया के बीच गठजोड़ बन गया है। ये सब नौकरशाही और राजनीतिज्ञों के मूल्यों में गिरावट के वजह से है, जिसके लिए दोनों समान रुप से जिम्मेदार है।

वास्तव में होना यह चाहिए कि यदि मंत्री–सचिव के मत से असहमत भी हो तो भी मंत्री को सचिव सही सलाह दे, समय पर आगाह करे तथा सही निर्णय लेने में मदद करे। सचिव को मंत्री द्वारा बनाई गई किसी नीति को इसलिए नहीं मान लेना चाहिए कि नीति मंत्री ने बनाई है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर सरदार बल्लभ भाई पटेल के कथन का उल्लेख करना उचित होगा जिन्होंने कहा था कि, "आज मेरा सचिव मेरे विचारों के विरुद्ध नोट लिख सकता है। मैंने यह स्वतंत्रता अपने सभी सचिवों को दी है। मैंने उनको बता दिया है कि यदि तुम अपना सच्चा मत इस ढंग से व्यक्त नहीं करते कि इससे तुम्हारा मंत्री नाराज हो जायेगा, तब अधिक अच्छा यही होगा कि तुम चले जाओ, मैं दूसरा सचिव ले आऊँगा''।

15.10 भारतीय नौकरशाही की विशेषताएं

भारतीय नौकरशाही के सम्बन्ध में हमने विस्तृत जानकारी प्राप्त कर ली है। अब हम इस भाग में वर्तमान भारतीय नौकरशाही की विशेषताओं के बारे में विचार करेंगें। आज कल भारतीय नौकरशाही में विरासत में मिली विशेषताओं के साथ ही कुछ अन्य विशेषताएं अर्थात् पुरातन और आधुनिक विशेषताओं का मिश्रत रुप देखने को मिल रहा है जो निम्नलिखित है–

1) भारतीय नौकरशाही की संगठनात्मक संरचना पद–सोपान सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका आकार पिरामिड के समान है।

2) कार्यो का विभाजन एवं कार्य करने की एक निश्चित प्रक्रिया।

3) इनकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती है एवं प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था होती है, परिणाम स्वरुप आज की नौकरशाही पहले की तुलना में अधिक योग्य, प्रशिक्षित एवं कार्यकुशल है।

4) भारतीय नौकरशाही सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों का मिश्रण है किन्तु पदों पर सामान्यज्ञों का वर्चस्व आज भी बना हुआ है।

5) स्थाई कार्यकाल, ये एक निश्चित आयु तक सेवा में कार्यरत रहते हैं अर्थात् नौकरशाही ऐसे पेशेवर लोगों का निकाय है जो स्थाई एवं उच्च वेतन भोगी होते है। लोकतन्त्र में सरकारें आती–जाती रहती हैं किन्तु इनके कार्यकाल अप्रभावित रहता है। सरकार बदलने का प्रभाव केवल इतना ही हो सकता है कि इनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण हो सकता है।

6) नियमों का कठोरता से पालन एवं राजनीतिक तटस्थता।

7) आरक्षण की व्यवस्था, जिसकी वजह से नौकरशाही में समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है, किन्तु विशेष सामाजिक पृष्ठभूमि वालों की अधिकता है।

8) यथास्थिति बनाए रखने वाली नौकरशाही की परिवर्तनशील और गतिशील नौकरशाही की ओर उन्मुखता।

15.11 भारतीय नौकरशाही की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

भारत में आधुनिक नौकरशाही बहुत समय से कार्यरत रही है किन्तु आधुनिक एवं बदलते समय के प्रभाव से यह अछूती नहीं रह सकती। बदलते समय में भारतीय नौकरशाही की प्रवृत्तियों में कुछ परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। इस भाग में हम नौकरशाही में उभरती कुछ नयीं प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे। राजनीतिक तटस्थता भारतीय नौकरशाही की परम्परागत विशेषता रही है, किन्तु अब तटस्थ नौकरशाही का राजनीतिक नौकरशाही में रुपान्तरण हो रहा है। परिणामस्वरुप इनकी पदोन्नति व स्थानान्तरण राजनीतिक आधार पर किये जाने की प्रवृत्ति देखने को मिल रही है। प्रायः यह देखा जाता है कि सरकार बदलते ही नौकरशाहों के तबादले हो जाते हैं और उच्च पदों पर सरकार अपने पसंदीदा नौकरशाहों को नियुक्त करती है। नियमों का कठोरता से पालन करने से भारतीय नौकरशाही लालफीताशाही का पर्याय बनती जा रही है। यह देखा जाता है कि भारतीय नौकरशाही में पद लोलुपता एवं अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है, इसके साथ ही यह अधिक से अधिक सत्ता हथियाने में लगी रहती है। भारतीय नौकरशाही भाई–भतीजावाद से प्रभावित है एवं इसमें भ्रष्टाचार का बोलबाला है। भारत में नौकरशाही, राजनेता और अपराधियों में जुड़ाव बढ़ता जा रहा है, इस ओर एन0एन0 वोहरा समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में इंगित किया था। सेवा काल के अंतिम पड़ाव में नौकरशाही का राजनीतिक दलों से घनिष्ठ जुड़ाव देखने को मिल रहा है। इस तरह की प्रवृत्तियों ने नौकरशाही की छवि को घूमिल करने के साथ ही उनकी विश्वसनीयता पर सवाल खड़े किये हैं। ये सभी प्रवृत्तियाँ नौकरशाही के मूल्यों में गिरावट का ही परिणाम है। इसमें सुधार हेतु विभिन्न समितियों ने सुझाव दिया और सरकार द्वारा भी कुछ कदम उठाये गये हैं किन्तु और बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इन प्रवृत्तियों पर रोक लगाना स्वयं नौकरशाही के हित में है और राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक भी।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी –1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

2) अपने उत्तरों को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

1) प्रतिबद्ध एवं तटस्थ नौकरशाही की अवधारणा को समझाइये।

.....
.....
.....

2) भारतीय नौकरशाही की विशेषताओं को बताइये।

.....
.....
.....

3) भारतीय नौकरशाही की आधुनिक प्रवृत्तियों की चर्चा कीजिए।

.....
.....
.....

15.12 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने यह देखा कि नौकरशाही का विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। नौकरशाही पर कई विद्वानों ने अपने–अपने विचार व्यक्त किये हैं, जिसमें से ज्यादातर विद्वानों ने इसका प्रयोग नकारात्मक अर्थों में किया है। मैक्स वेबर प्रथम समाजशास्त्री था जिसने नौकरशाही का सकारात्मक अर्थों में प्रयोग किया और नौकरशाही के आदर्श प्रारुप की अवधारणा प्रस्तुत की। हमने शक्ति और सत्ता के बारे में भी जानकारी प्राप्त की एवं वेबर के नौकरशाही की विशेषताओं को जाना। भारत में आधुनिक नौकरशाही का विकास ब्रिटिश सरकार की अवाश्यकता एवं धीरे–धीरे किये गये संवैधानिक सुधारों के परिणामस्वरुप हुआ। अंग्रेजों से विरासत में मिली नौकरशाही को आजादी के बाद भी जारी रखा गया। आज भी हमारी नौकरशाही में ब्रिटिश नौकरशाही के लक्षण देखे जा सकते हैं। संविधान निर्माताओं ने इसकी उपयोगिता एवं महत्ता को देखते हुए इसे संविधान में स्थान देकर संवैधानिक आधार प्रदान किया है। आजादी के बाद भारतीय सिविल सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा में तथा पुलिस सेवा, भारतीय पुलिस सेवा में रुपान्तरित हो गई। वर्तमान समय में देश में कुल तीन अखिल भारतीय सेवाएं हैं। हमने भारतीय नौकरशाही के वर्गीकरण, भर्ती, पदोन्नति तथा प्रशिक्षण पर विस्तार से विचार किया। भारत में नौकरशाही की संगठनात्मक संरचना एवं नीति से सम्बन्धित उसकी भूमिका को जाना। हमने नौकरशाही सम्बन्धित कुछ विवादों अनामता तथा पाक्रिन्सन कानून के विषय में जानकारी प्राप्त किया। भारतीय नौकरशाही की विशेषताओं एवं आधुनिक समय में परिवर्तित नौकरशाही की प्रवृत्तियों की विवेचना की। इसके पश्चात् हम कह सकते हैं कि इन प्रवृत्तियों से नौकरशाही की साख कमजोर होने के साथ ही इन पर से जनता का विश्वास भी उठ चला है। सरकार द्वारा प्रशासनिक सुधारों के लिए कई प्रयास किए गए हैं किन्तु और भी बहुत कुछ किए जाने की आवश्यकता है।

15.13 शब्दावली

अनामता	–	गुमनाम, नाम का उल्लेख न होना
तटस्थता	–	निष्पक्षता, पक्षपात रहित, पक्षपात न करना
चमत्कारी	–	व्यक्ति के विशिष्ट या अद्भुत गुण जो जनता को प्रभावित व आकृष्ट करते हैं
विवेकपूर्ण	–	तक्र संगत
धन लोलुपता	–	धन प्राप्त करने की लालसा
वृत्तिका	–	आजीविका, रोजगार
लालफीताशाही	–	कार्य में अनावश्यक विलम्ब

15.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गोयल, एस0एल0 तथा शालिनी रजनीश, ''पब्लिक पर्शनेल एडमिनिस्ट्रेशन, थियोरी एण्ड प्रेक्टीश'', दीप दीप पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2002

शर्मा, एम0पी0 तथा बी0एल0सडाना, ''लोक प्रशासन, सिद्धान्त एवं व्यवहार'', किताब महल, इलाहाबाद, 2001

महेश्वरी, एस0आर0, ''इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन'', ओरियंट लांगमैन, दिल्ली, 1989

अवस्थी, अमरेश्वर तथा श्रीराम माहेश्वरी, ''लोक प्रशासन'', लक्ष्मी नारायण, आगरा, 2001

अवस्थी, अमरेश्वर तथा आनंद प्रकाश अवस्थी, ''भारतीय प्रशासन'', लक्ष्मी नारायण, आगरा, 2001

अवस्थी, ए0, ''सेंन्ट्रल एडमिनिस्ट्रेशन'' टाटा मैगराहील, नई दिल्ली, 1980

मिश्र, बी0बी0, ''गवर्नमेंन्ट एण्ड ब्यूरोक्रेसी इन इंडिया 1947–1976'' आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1986

मार्टीन, एलब्रो, ''ब्यूरोक्रेसी'', मैकमिलन, लंदन, 1970

15.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मैक्स वेबर ने सत्ता के तीन प्रकार बताये है – 1) परम्परागत सत्ता, 2) चमत्कारी सत्ता, 3) विवेकशील या कानूनी सत्ता।

2) भाग 15.2 देखिए

3) एफ0एम0 माक्रस ने नौकरशाही के चार प्रकार बताये हैं– 1) अभिभावक नौकरशाही 2) संरक्षक नौकरशाही 3) जातीय नौकरशाही 4) योग्यता या गुणवत्ता नौकरशाही।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में तीन अखिल भारतीय सेवाएं हैं– 1) भारतीय प्रशासनिक सेवा 2) भारतीय पुलिस सेवा 3) भारतीय वन सेवा। जब राज्य सभा विशेष बहुमत से इस सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव पारित करती है तो संसद अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना कर सकती है।

2) पदोन्नति के दो सिद्धान्त हैं – 1) वरिष्ठता का सिद्धान्त 2) योग्यता का सिद्धान्त

3) भाग 15.7 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 15.9.2 देखिए।

2) भाग 15.10 देखिए।

3) भाग 15.11 देखिए।

Notes